एम.ए. पूर्वार्द्ध

इतिहास, षष्ठम् प्रश्नपत्र

भारत का आर्थिक इतिहास

(1757 से 1947 AD)

(ECONOMIC HISTORY OF INDIA FROM 1757-1947 AD)

मध्यप्रदेश भोज (मुक्त) विश्वविद्यालय – भोपाल

MADHYA PRADESH BHOJ (OPEN) UNIVERSITY - BHOPAL

Reviewer Committee

1. Dr. Manisha Sharma
   Associate Professor
   Govt. P.G. College, Beena (M.P.)

2. Dr. Rajeshwari Dubey
   Professor
   Govt. M.L.B. (Autonomous) College, Bhopal (M.P.)

3. Dr. Neerja Bharadwaj
   Professor
   Govt. Hamidia College, Bhopal (M.P.)

Advisory Committee

1. Dr. Jayant Sonwalkar
   Hon'ble Vice Chancellor
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal (M.P.)

2. Dr. L.S. Solanki
   Registrar
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal (M.P.)

3. Dr. Anjali Singh
   Director, Student Support
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal (M.P.)

4. Dr. Mukesh Dixit
   Professor
   Govt. M.L.B. (Autonomous) College, Bhopal (M.P.)

5. Dr. Rajeshwari Dubey
   Professor
   Govt. M.L.B. (Autonomous) College, Bhopal (M.P.)

6. Dr. Neerja Bharadwaj
   Professor
   Govt. Hamidia College, Bhopal (M.P.)

COURSE WRITERS

Dr. Druti, Former Faculty, Department of History, Ginni Devi Modi Girls P.G. College, Ghaziabad, U.P.
Units (1.0-1.4.3, 1.5-1.9, 2.0-2.3.2, 2.3.4-2.6.2, 2.8-2.12, 3, 4.0-4.2.3, 4.2.5-4.3.6, 4.4-4.8, 5.0-5.3.2, 5.4-5.9)

Sushma Sharma, Assistant Professor, Rajeev Gandhi Law College, Bhopal, M.P.
Units (1.4.4, 2.3.3, 2.7, 4.2.4, 4.3.7, 5.3.3)

Copyright © Reserved, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal

All rights reserved. No part of this publication which is material protected by this copyright notice may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the Registrar, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal.

Information contained in this book has been published by VIKAS® Publishing House Pvt. Ltd. and has been obtained by its Authors from sources believed to be reliable and are correct to the best of their knowledge. However, the Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal, Publisher and its Authors shall in no event be liable for any errors, omissions or damages arising out of use of this information and specifically disclaim any implied warranties or merchantability or fitness for any particular use.

Published by Registrar, MP Bhoj (Open) University, Bhopal in 2020

Vikas® is the registered trademark of Vikas® Publishing House Pvt. Ltd.

VIKAS® PUBLISHING HOUSE PVT. LTD.
E-28, Sector-8, Noida - 201301 (UP)
Phone: 0120-4078900 • Fax: 0120-4078999
Regd. Office: A-27, 2nd Floor, Mohan Co-operative Industrial Estate, New Delhi 1100 44
• Website: www.vikaspublishing.com • Email: helpline@vikaspublishing.com

SYLLABI-BOOK MAPPING TABLE

भारत का आर्थिक इतिहास (1757 से 1947 AD)

Syllabi	Mapping in Book
इकाई–1 भारतीय आर्थिक इतिहास का परिचय भारतीय आर्थिक इतिहास के मुद्दे एवं समस्याएं विभिन्न दृष्टिकोण एवं सीमाएं ब्रिटिश भारत के आर्थिक इतिहास के स्रोत अठारहवीं शताब्दी के मध्य में भारतीय अर्थव्यवस्था अर्थव्यवस्था की संरचना और प्रकृति : ग्रामीण व शहरी कृषि और गैर–कृषि उत्पादन तकनीकी और उत्पादन की प्रविधियां व्यापार और स्वदेशी बैंक पूर्व–औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में पूंजीवादी परिवर्तन की संभावनाओं पर परिचर्चा उत्तर–पूर्व औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में विकास का प्रश्न औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था का आरंभिक चरण भारत में वाणिज्यवाद और यूरोपीय आर्थिक हित ईस्ट इंडिया कंपनी और बंगाल में उसका शासन बाह्य बाजार और आंतरिक वाणिज्य के लिए भारतीय विनिर्माण तत्संदर्भित प्रश्न पर परिचर्चा	**इकाई 1** : भारत का आर्थिक इतिहास : परिचय, 18वीं शता. मध्य एवं पूर्व–औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था **(पृष्ठ 3–76)**
इकाई–2 स्थायी बंदोबस्त स्थायी बंदोबस्त लागू करने के उद्देश्य स्थायी बंदोबस्त की विशेषताएं क्रियान्वयन स्थायी बंदोबस्त का प्रभाव एवं अधिकृत आलोचनाएं रैयतवाड़ी और महालवाड़ी व्यवस्था रैयतवाड़ी व्यवस्था महालवाड़ी व्यवस्था सामयिक कृषि व्यवस्था के परिणाम निर्यात फसलों की खेती में वृद्धि एवं निर्यात वस्तुओं के उत्पादन के व्यवस्थापन में नए तत्व निर्यात फसलों की खेती में वृद्धि निर्यात वस्तुओं के उत्पादन के व्यवस्थापन में नए तत्व पारिस्थितिक परिवर्तन और ग्रामीण समाज वनों पर औपनिवेशिक शासन का नियंत्रण औपनिवेशिक काल में वनों का प्रयोग इम्पीरियल फॉरेस्ट रिसर्च इंस्टीट्यूट की स्थापना की पृष्ठभूमि वन विभाग का कार्य वन अधिनियम का प्रभाव	**इकाई 2** : कृषि व्यवस्था और कृषि उत्पादन **(पृष्ठ 77–109)**

इकाई–3

पारंपरिक हस्तकला उद्योग और वि–औद्योगीकरण की स्थिति
- कारीगर और हस्तशिल्प उत्पादों की पृष्ठभूमि
- औद्योगिक पूंजीवाद और ब्रिटिश वस्त्र एवं सूत का आयात
- वि–औद्योगीकरण विमर्श और क्षेत्रीय भिन्नताएं
- उपनिवेशकाल के दौरान हस्तशिल्प उद्योग
- हस्तशिल्प उद्योग में पूंजी और श्रम

रेलवे और भारतीय अर्थव्यवस्था
- आर्थिक और राजनैतिक बाध्यता
- भारतीय बाजारों का एकीकरण एवं पराभव
- कृषि उत्पादन और कच्चे माल के निर्यात पर व्यवसायीकरण का प्रभाव
- अकाल और ब्रिटिश नीतियां : राष्ट्रवादी समीक्षा

इकाई 3 : पारंपरिक हस्तकला उद्योग : वि–औद्योगीकरण, रेलवे और भारतीय अर्थव्यवस्था **(पृष्ठ 111–148)**

इकाई–4

आधुनिक उद्योगों के उद्‌भव की पूर्व स्थिति
- भारत में आधुनिक उद्योगों का प्रारंभ एवं स्थिति
- भारत में पूंजीवादी निवेश – स्वदेशी और ब्रिटिश प्रभाव
- सन् 1914 से पूर्व आधुनिक उद्योग : प्राकृतिक– सूत, जूट और लौह–इस्पात
- उद्योग एवं विकास में बाधाएं
- प्रथम विश्व युद्ध और उद्योग : आर्थिक मंदी के विशेष संदर्भ में राष्ट्रवादी विवेचन
- औपनिवेशिक राज्य और औद्योगिक विकास
- औद्योगिक श्रम का प्रारंभ : बड़े पैमाने के उद्योगों में श्रम–शक्ति
- मजदूर आन्दोलनों के प्रकार
- औद्योगिक श्रमिकों की बदलती सामाजिक संरचना

विदेशी व्यापार और भुगतान संतुलन
- विदेशी व्यापार की संरचना
- भुगतान संतुलन का अवलोकन
- विदेशी व्यापार की बदलती प्रकृति
- वाणिकवाद के चरण
- औद्योगिक और वित्तीय पूंजी
- धन बहिर्गमन
- ब्रिटिश सामुद्रिक व्यापार

इकाई 4 : बड़े पैमाने के उद्योग एवं विदेशी व्यापार और भुगतान संतुलन **(पृष्ठ 149–202)**

इकाई–5

राजकोषीय व्यवस्था
- प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष कर विवर्तन
- प्रशुल्क एवं उत्पाद शुल्क
- मौद्रिक नीतियां
- साख व्यवस्था

मूल्यों में उतार चढ़ाव
- मूल्यों के उतार चढ़ाव में मुख्य रुझान
- जमींदारों पर किराए का प्रभाव
- राज्य के राजस्व और व्यापार पर प्रभाव

जनसंख्या
- जनगणना पूर्व और पश्चात जनसंख्या वृद्धि के अनुमान
- वि–शहरीकरण विवाद
- जनसांख्यिकीय परिवर्तन में रुझान

इकाई 5 : राजकोषीय व्यवस्था, मूल्यों में उतार चढ़ाव और जनसंख्या **(पृष्ठ 203–263)**

विषय–सूची

परिचय 1–2

इकाई 1 भारत का आर्थिक इतिहास : परिचय, 18वीं शता. मध्य एवं पूर्व–औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था 3–76

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 भारतीय आर्थिक इतिहास का परिचय
  1.2.1 भारतीय आर्थिक इतिहास के मुद्दे एवं समस्याएं
  1.2.2 विभिन्न दृष्टिकोण एवं सीमाएं
  1.2.3 ब्रिटिश भारत के आर्थिक इतिहास के स्रोत
1.3 अठारहवीं शताब्दी के मध्य में भारतीय अर्थव्यवस्था
  1.3.1 अर्थव्यवस्था की संरचना और प्रकृति : ग्रामीण व शहरी
  1.3.2 कृषि और गैर–कृषि उत्पादन
  1.3.3 तकनीकी और उत्पादन की प्रविधियां
  1.3.4 व्यापार और स्वदेशी बैंक
  1.3.5 पूर्व–औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में पूंजीवादी परिवर्तन की संभावनाओं पर परिचर्चा
  1.3.6 उत्तर–पूर्व औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में विकास का प्रश्न
1.4 औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था का आरंभिक चरण
  1.4.1 भारत में वाणिज्यवाद और यूरोपीय आर्थिक हित
  1.4.2 ईस्ट इंडिया कंपनी और बंगाल में उसका शासन
  1.4.3 बाह्य बाजार और आंतरिक वाणिज्य के लिए भारतीय विनिर्माण
  1.4.4 तत्संदर्भित प्रश्न पर परिचर्चा
1.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.6 सारांश
1.7 मुख्य शब्दावली
1.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.9 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 2 कृषि व्यवस्था और कृषि उत्पादन 77–109

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 कृषि की स्थिति – क्षेत्रीय विभिन्नताएं
2.3 स्थायी बंदोबस्त
  2.3.1 स्थायी बंदोबस्त लागू करने के उद्देश्य
  2.3.2 स्थायी बंदोबस्त की विशेषताएं
  2.3.3 क्रियान्वयन
  2.3.4 स्थायी बंदोबस्त का प्रभाव एवं अधिकृत आलोचनाएं
2.4 रैयतवाड़ी और महालवाड़ी व्यवस्था
  2.4.1 रैयतवाड़ी व्यवस्था
  2.4.2 महालवाड़ी व्यवस्था
2.5 सामयिक कृषि व्यवस्था के परिणाम
2.6 निर्यात फसलों की खेती में वृद्धि एवं निर्यात वस्तुओं के उत्पादन के व्यवस्थापन में नए तत्व

2.6.1 निर्यात फसलों की खेती में वृद्धि
2.6.2 निर्यात वस्तुओं के उत्पादन के व्यवस्थापन में नए तत्व
2.7 पारिस्थितिक परिवर्तन और ग्रामीण समाज
2.7.1 वनों पर औपनिवेशिक शासन का नियंत्रण
2.7.2 औपनिवेशिक काल में वनों का प्रयोग
2.7.3 इम्पीरियल फॉरेस्ट रिसर्च इंस्टीट्यूट की स्थापना की पृष्ठभूमि
2.7.4 वन विभाग का कार्य
2.7.5 वन अधिनियम का प्रभाव
2.8 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.9 सारांश
2.10 मुख्य शब्दावली
2.11 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.12 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 3 पारंपरिक हस्तकला उद्योग : वि–औद्योगीकरण, रेलवे और भारतीय अर्थव्यवस्था **111–148**

3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य
3.2 पारंपरिक हस्तकला उद्योग और वि–औद्योगीकरण की स्थिति
3.2.1 कारीगर और हस्तशिल्प उत्पादों की पृष्ठभूमि
3.2.2 औद्योगिक पूंजीवाद और ब्रिटिश वस्त्र एवं सूत का आयात
3.2.3 वि–औद्योगीकरण विमर्श और क्षेत्रीय भिन्नताएं
3.2.4 उपनिवेशकाल के दौरान हस्तशिल्प उद्योग
3.2.5 हस्तशिल्प उद्योग में पूंजी और श्रम
3.3 रेलवे और भारतीय अर्थव्यवस्था
3.3.1 आर्थिक और राजनैतिक बाध्यता
3.3.2 भारतीय बाजारों का एकीकरण एवं पराभव
3.3.3 कृषि उत्पादन और कच्चे माल के निर्यात पर व्यवसायीकरण का प्रभाव
3.3.4 अकाल और ब्रिटिश नीतियां : राष्ट्रवादी समीक्षा
3.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
3.5 सारांश
3.6 मुख्य शब्दावली
3.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.8 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 4 बड़े पैमाने के उद्योग एवं विदेशी व्यापार और भुगतान संतुलन **149–202**

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 आधुनिक उद्योगों के उद्‌भव की पूर्व स्थिति
4.2.1 भारत में आधुनिक उद्योगों का प्रारंभ एवं स्थिति
4.2.2 भारत में पूंजीवादी निवेश – स्वदेशी और ब्रिटिश प्रभाव
4.2.3 सन् 1914 से पूर्व आधुनिक उद्योग : प्राकृतिक– सूत, जूट और लौह–इस्पात उद्योग एवं विकास में बाधाएं
4.2.4 प्रथम विश्व युद्ध और उद्योग : आर्थिक मंदी के विशेष संदर्भ में राष्ट्रवादी विवेचन
4.2.5 औपनिवेशिक राज्य और औद्योगिक विकास
4.2.6 औद्योगिक श्रम का प्रारंभ : बड़े पैमाने के उद्योगों में श्रम–शक्ति
4.2.7 मजदूर आन्दोलनों के प्रकार
4.2.8 औद्योगिक श्रमिकों की बदलती सामाजिक संरचना

4.3 विदेशी व्यापार और भुगतान संतुलन
4.3.1 विदेशी व्यापार की संरचना
4.3.2 भुगतान संतुलन का अवलोकन
4.3.3 विदेशी व्यापार की बदलती प्रकृति
4.3.4 वाणिकवाद के चरण
4.3.5 औद्योगिक और वित्तीय पूंजी
4.3.6 धन बहिर्गमन
4.3.7 ब्रिटिश सामुद्रिक व्यापार
4.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.5 सारांश
4.6 मुख्य शब्दावली
4.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.8 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 5 राजकोषीय व्यवस्था, मूल्यों में उतार चढ़ाव और जनसंख्या **203–263**

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 राजकोषीय व्यवस्था
5.2.1 प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष कर विवर्तन
5.2.2 प्रशुल्क एवं उत्पाद शुल्क
5.2.3 मौद्रिक नीतियां
5.2.4 साख व्यवस्था
5.3 मूल्यों में उतार चढ़ाव
5.3.1 मूल्यों के उतार चढ़ाव में मुख्य रुझान
5.3.2 जमींदारों पर किराए का प्रभाव
5.3.3 राज्य के राजस्व और व्यापार पर प्रभाव
5.4 जनसंख्या
5.4.1 जनगणना पूर्व और पश्चात जनसंख्या वृद्धि के अनुमान
5.4.2 वि–शहरीकरण विवाद
5.4.3 जनसांख्यिकीय परिवर्तन में रुझान
5.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.6 सारांश
5.7 मुख्य शब्दावली
5.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.9 सहायक पाठ्य सामग्री

परिचय

टिप्पणी

प्रस्तुत पुस्तक 'भारत का आर्थिक इतिहास' (1757 ई. से 1947 ई.) विश्वविद्यालय द्वारा निर्धारित एम.ए. इतिहास (पूर्वार्द्ध) के पाठ्यक्रम के अनुरूप लिखी गई है।

भारत का आर्थिक इतिहास पुस्तक का मूल उद्देश्य भारतीय अर्थव्यवस्था की मूलभूत विशेषताओं की जानकारी देना और स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हुए विकास से अवगत कराना है। भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास में मुगलकाल तथा ब्रिटिशकाल की अर्थव्यवस्थाओं का विशेष योगदान रहा है। प्रत्येक युग की अर्थव्यवस्था तत्कालीन समाज एवं संस्कृति से प्रभावित होती रही है। भारतीय इतिहास में अलग–अलग युगों में अर्थव्यवस्था कभी सुदृढ़ होती दिखती है तो कभी डगमगाती भी नजर आई। भारतीय आर्थिक इतिहास की वर्तमान संरचना कोई आज की नहीं है इसके मूल सूत्र तो इतिहास में बहुत गहरे हैं, विशेष रूप से उस अवधि में जब भारत 15 अगस्त, 1947 को स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व दो सौ वर्षों तक ब्रिटिश शासन के अधीन था।

भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन का मुख्य उद्देश्य इंग्लैंड में तेजी से विकसित हो रहे औद्योगिक आधार के लिए भारतीय अर्थव्यवस्था को केवल एक कच्चा माल प्रदायक तक ही सीमित रखना था। प्राचीन समय से ही भारत एक महत्वपूर्ण व्यापारिक देश रहा है, किंतु औपनिवेशिक सरकार द्वारा अपनाई गई वस्तु उत्पादन, व्यापार और सीमा शुल्क की प्रतिबंधकारी नीतियों का भारत के विदेशी व्यापार की संरचना, स्वरूप और आकार पर बहुत प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। परिणामस्वरूप भारत कच्चे उत्पाद जैसे– कपास, ऊन, चीनी, नील और पटसन आदि का निर्यातक होकर रह गया। इस पुस्तक में 1757 ई. से 1947 ई. तक की अर्थव्यवस्था का विस्तृत विवेचन किया गया है।

पुस्तक में विषयों के विश्लेषण से पूर्व उनके निहित उद्देश्यों को स्पष्ट कर दिया गया है। इकाई के बीच–बीच में 'अपनी प्रगति जांचिए' कॉलम के माध्यम से विद्यार्थियों की योग्यता परखने के लिए प्रश्न दिए गए हैं। अध्ययन की सुविधा के लिए संपूर्ण पुस्तक को पांच इकाइयों में समयोजित किया गया है जिनका विवरण इस प्रकार है–

पहली इकाई भारतीय आर्थिक इतिहास पर केंद्रित है, जिसके अंतर्गत भारतीय आर्थिक इतिहास का परिचय, अठारहवीं शताब्दी के मध्य में भारतीय अर्थव्यवस्था तथा औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के आरंभिक चरण का वर्णन किया गया है।

दूसरी इकाई कृषि व्यवस्था और कृषि उत्पादन को इंगित करती है। इस इकाई में कृषि की स्थिति, स्थायी बंदोबस्त, रैयतवाड़ी और महालवाड़ी व्यवस्था, सामाजिक कृषि व्यवस्था के परिणाम, निर्यात फसलों की खेती में वृद्धि का विस्तार से विश्लेषण किया गया है।

तीसरी इकाई पारंपरिक हस्तकला उद्योग, वि–औद्योगीकरण, रेलवे और भारतीय अर्थव्यवस्था को दर्शाती है जिसके अंतर्गत पारंपरिक हस्तकला उद्योग, वि–औद्योगीकरण की स्थिति तथा रेलवे और भारतीय अर्थव्यवस्था की विवेचना की गई है।

चौथी इकाई बड़े पैमाने के उद्योग एवं विदेशी व्यापार है से संबंधित जिसमें आधुनिक उद्योगों के उद्‌भव की पूर्व स्थिति, विदेशी व्यापार और भुगतान संतुलन, धन निष्कासन तथा ब्रिटिश सामुद्रिक व्यापार का विश्लेषण किया गया है।

टिप्पणी

पांचवीं इकाई राजकोषीय व्यवस्था, मूल्य आंदोलन और जनांकिकी पर केंद्रित है जिसके अंतर्गत राजकोषीय व्यवस्था, मूल्यों में उतार–चढ़ाव, जनसंख्या, वि–शहरीकरण विवाद तथा जनसांख्यिकी परिवर्तन का विस्तार से उल्लेख किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक में भारत के आर्थिक इतिहास से संदर्भित कतिपय विषयों का सांगोपांग अध्ययन किया गया है। हमें पूर्ण विश्वास है कि यह पुस्तक छात्र–छात्राओं की जिज्ञासा को शांत कर उनका ज्ञानवर्द्धन करने में सफल सिद्ध होगी।

इकाई 1 भारत का आर्थिक इतिहास : परिचय, 18वीं शता. मध्य एवं पूर्व–औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था

संरचना

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 भारतीय आर्थिक इतिहास का परिचय
  1.2.1 भारतीय आर्थिक इतिहास के मुद्दे एवं समस्याएं
  1.2.2 विभिन्न दृष्टिकोण एवं सीमाएं
  1.2.3 ब्रिटिश भारत के आर्थिक इतिहास के स्रोत
1.3 अठारहवीं शताब्दी के मध्य में भारतीय अर्थव्यवस्था
  1.3.1 अर्थव्यवस्था की संरचना और प्रकृति : ग्रामीण व शहरी
  1.3.2 कृषि और गैर–कृषि उत्पादन
  1.3.3 तकनीकी और उत्पादन की प्रविधियां
  1.3.4 व्यापार और स्वदेशी बैंक
  1.3.5 पूर्व–औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में पूंजीवादी परिवर्तन की संभावनाओं पर परिचर्चा
  1.3.6 उत्तर–पूर्व औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में विकास का प्रश्न
1.4 औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था का आरंभिक चरण
  1.4.1 भारत में वाणिज्यवाद और यूरोपीय आर्थिक हित
  1.4.2 ईस्ट इंडिया कंपनी और बंगाल में उसका शासन
  1.4.3 बाह्य बाजार और आंतरिक वाणिज्य के लिए भारतीय विनिर्माण
  1.4.4 तत्संदर्भित प्रश्न पर परिचर्चा
1.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.6 सारांश
1.7 मुख्य शब्दावली
1.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1.0 परिचय

इतिहास से हम अतीत का अध्ययन करते हैं। इतिहास के माध्यम से ही हम अपनी संस्कृति और विरासत से परिचित होते हैं। अंग्रेजी में इसे 'हिस्ट्री' (History) कहते हैं। इतिहास के माध्यम से हम पुराने तथ्यों का क्रमबद्ध अध्ययन करते हैं। इतिहास की वे ही घटनाएं प्रमाणिक मानी जाती हैं जो विभिन्न प्रमाणों के द्वारा सिद्ध हो सकती हैं।

इतिहास लेखन एक विशिष्ट कार्य है। ऐसी धारणा बनी हुई है कि भारत में इतिहास लेखन की कमी रही है, किंतु ऐसा नहीं है। प्रारंभिक ब्रिटिश काल के इतिहास पर ब्रिटिश ही हावी थे, किंतु प्रथम स्वतंत्रता आंदोलन के पश्चात् विदेशी शिक्षा के प्रभाव से ही सही, विभिन्न राष्ट्रवादियों ने अपने विचारों को व्यक्त करना प्रारंभ कर दिया था, जिससे भारतीय अपने इतिहास के प्रति जागरूक हुए। ब्रिटिश काल के अध्ययन के लिए हम विभिन्न साधनों पर निर्भर हैं, जो मुख्यतः हमें अभिलेखागार से प्राप्त होते हैं। साथ ही कुछ

टिप्पणी

पुस्तकालयों में भी हमें जीवनी, यात्रा वृत्तान्त, आत्मकथाएं इत्यादि प्राप्त हो जाती हैं। अभिलेखागार में हमें केंद्रीय सरकारी अभिलेख, राजकीय अभिलेख, सूबों के अभिलेख, न्यायिक रिकॉर्ड इत्यादि प्राप्त होते हैं। अगर हम ब्रिटिशकालीन अर्थव्यवस्था के स्रोतों की बात करें तो 1773 से रेग्यूलेटिंग एक्ट इत्यादि से हमें जानकारी मिलती है।

यदि औपनिवेशिक शासन में इतिहास लेखन की बात करें तो ब्रिटिशर्स, भारतीयों पर इतने अधिक हावी थे कि जो भी इतिहास लेखन उस समय किया गया वह कंपनी शासन द्वारा किया गया। विभिन्न ब्रिटिशर्स द्वारा भारतीय आर्थिक इतिहास पर कृतियों का सृजन किया गया किंतु ऐसा नहीं है कि भारतीयों द्वारा इस पर बिल्कुल कार्य नहीं किया गया। गोखले, तिलक, दत्त, इत्यादि द्वारा भारतीय आर्थिक इतिहास पर प्रकाश डाला गया है।

सन् 1600 ई. का वर्ष भारत के इतिहास में महत्वपूर्ण है। इसी वर्ष यहां से बहुत दूर लंदन के सौदागरों का एक छोटा–सा समूह इंग्लैंड की महारानी ऐलिजाबेथ से मिला और एक सरकारी चार्टर प्राप्त किया, जिसके आधार पर ईस्ट इंडिया का नाम रखा गया 'द गवर्नर एंड कंपनी ऑफ मर्चेण्ट ऑफ लंदन ट्रेडिंग इन टू ईस्ट इंडीज'। भारत में प्रवेश करते ही इस व्यापारिक कंपनी ने शीघ्र ही अपनी कार्यशैली बदल दी और 1765 तक यह एक ऐसी क्षेत्रीय शक्ति के रूप में उभरी कि एक साम्राज्य निर्माण की दिशा में चल पड़ी जिससे इसने भावी भारत के लगभग 200 वर्षों के भाग्य पर नियंत्रण किया। इस कंपनी की व्यापारिक संस्था के रूप में स्थापना और राजनीतिक स्वरूप में परिवर्तन होना, कंपनी के लिए महान उपलब्धि थी। 31 दिसंबर, 1600 ई. को रानी ने एक अधिकार–पत्र की घोषण चार्टर के आधार पर की और इस तरह ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना हुई। एल्बर्ट ने लिखा है, "ईस्ट इंडिया कंपनी मूलतः व्यापारिक कंपनी थी किंतु समय बीतने के साथ–साथ इस व्यापारिक संस्था ने क्षेत्रीय शक्ति प्राप्त कर ली।"

1688 ई. में शानदार विप्लव के बाद अनेक तत्वों ने कंपनी के उत्थान में बाधा डाली। 1698 ई. में संसद ने यह निश्चय किया कि दोनों कंपनियां एक में मिला दी जाएं। 1639 ई. में कंपनी को वान्डीवास में स्थानीय प्रधान किला बनाने व सिक्के ढालने का अधिकार इस शर्त पर प्रदान किया गया कि कंपनी उसे अपने बंदरगाह का आधार–राजस्व व चुंगी प्रदान करेगी। 1693 ई. में कंपनी ने मद्रास के निकट तीन गांव प्राप्त किए और 1702 ई. में पांच गांव प्राप्त किए। 1717 ई. में सम्राट फरुखशियर के दरबार में जॉन सरमन के मिशन के द्वारा कंपनी का इन गांवों पर आधिपत्य स्वीकृत हुआ। 1656 ई. में शाहशुजा से कुछ विशेषाधिकार प्राप्त किए गए। 1690 ई. में बम्बई के अधिकारियों ने व्यापार की राजकीय अनुमति प्राप्त कर ली, जिसके अंतर्गत 400 रु. के वार्षिक कर देने के बदले सभी देय शुल्कों से मुक्ति प्राप्त कर ली गई। इस संधि के बाद कंपनी ने सुतनाती में अपनी बस्ती बनाई, जहां कलकत्ता विकसित हुआ।

जब कंपनी का केंद्र में हस्तक्षेप समाप्त हो गया तो दूर–दराज के प्रान्तों के आपसी संघर्ष प्रारंभ हो गए, जिसका लाभ उठाने के लिए अंग्रेजों ने कूटनीति व षड्यंत्रों का सहारा लिया। प्लासी युद्ध के पश्चात सिराजुदौला को हराकर बंगाल की गद्दी पर मीरजाफर को बिठाया गया जो पहले से ही अंग्रेजी गुलाम था। प्लासी के युद्ध में अंग्रेजों की सफलता के पश्चात ब्रिटिशों को नवाब के पूरे क्षेत्र में व्यापार की पूरी

स्वतंत्रता मिल गई। अब प्रांत के दूर–दराज क्षेत्रों में सहायक फैक्ट्री स्थापित की गई तथा कलकत्ता में स्थापित टकसाल से 19 अगस्त, 1757 को पहला ईस्ट इंडिया कंपनी का रुपया प्रसारित हुआ। एक आत्मकथा के अनुसार, कंपनी ने क्षेत्र के अधिग्रहण के साथ बस्ती के विस्तार का पर्याप्त अवसर प्राप्त किया, जिसका उचित प्रबंध उन्हीं के लिए नहीं बल्कि पूरे ब्रिटेन के लिए हितकर सिद्ध हुआ।

इस इकाई में भारतीय आर्थिक इतिहास, 18वीं सदी के मध्य भारतीय अर्थव्यवस्था एवं पूर्व–औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के प्रथम चरण को विस्तार से समझाया गया है।

1.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- भारतीय आर्थिक इतिहास के मुद्दे और समस्याएं जान पाएंगे;
- भारतीय आर्थिक इतिहास के दृष्टिकोण व सीमाओं का विश्लेषण कर पाएंगे;
- ब्रिटिश भारत के आर्थिक इतिहास के स्रोतों से परिचित हो पाएंगे;
- पूर्व औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में पूंजीवादी परिवर्तन की संभावनाओं पर परिचर्चा कर पाएंगे;
- औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के प्रारंभिक चरण का आकलन कर पाएंगे;
- कृषि और गैर कृषि उत्पादन तकनीकी और उत्पादन की विभिन्न विधियों का विश्लेषण कर पाएंगे।

1.2 भारतीय आर्थिक इतिहास का परिचय

भारतीय अर्थव्यवस्था की वर्तमान संरचना कोई आज की नहीं है। इसकी जड़ें तो इतिहास में बहुत गहरी हैं। भारत 200 वर्षों तक ब्रिटिश शासन के अधीन रहा। भारत के औपनिवेशिक शासन का मुख्य उद्देश्य इंग्लैंड में तेजी से विकसित हो रहे औद्योगिक आधार के लिए भारतीय अर्थव्यवस्था को केवल एक कच्चा माल प्रदायक तक ही सीमित रखना था। इतिहास के गहराई से अध्ययन के पश्चात यह ज्ञात होता है कि अंग्रेजी शासन से पूर्व भारत की अपनी स्वतंत्र अर्थव्यवस्था थी। प्राचीन भारत में आर्थिक व्यवस्था की संपन्नता का ही प्रारूप मिलता है। अंग्रेजों के भारत के साथ व्यापार से पूर्व भी भारत के अन्य देशों के साथ व्यापारिक संबंध थे। भारत में अरबों के आक्रमण व बाहरी सत्ता आने से कहीं–न–कहीं भारत की अर्थव्यवस्था डगमगाई भी, लेकिन जिस प्रकार दोहन व बेरोजगारी, अमीर–गरीब की खाई अंग्रेजी शासन में देखने को मिलती है वह भारत के संपूर्ण इतिहास में नहीं मिलती।

आधुनिक भारतीय इतिहास के अध्ययन का महत्व इस कारण भी है कि भारत के आर्थिक विकास की प्रक्रिया और स्वरूप उन नीतियों पर निर्भर है, जो उस काल पर निर्भर हैं। दूसरे महायुद्ध के बाद अविकसित देशों विशेषकर भारत के आर्थिक विकास की समस्या पर अर्थशास्त्रियों और आर्थिक इतिहासकारों की गहरी बहस हुई। इस बहस के परिणाम के अनुसार भारत का अविकास अपने चरित्र में पारंपरिक था। इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति हुई उस सबका लाभ इंग्लैंड को भरपूर हुआ। जहां तक भौतिक

टिप्पणी

सुधार का प्रश्न है, भारत को सभ्य देशों की श्रेणी में रखा गया है। यहां पिछले 30 वर्षों में रेलवे और विकास के दूसरे साधनों द्वारा उसी प्रकार परिवर्तन आया है, जिस प्रकार कुछ समय पूर्व यूरोप और अमेरिका में परिवर्तन आया।

सन् 1882 में जॉन और स्ट्रेची ने कहा– "पिछले 25 वर्षों में भारत में अग्रेजों ने जो कार्य किए वे न तो कभी किसी ने किए और न उसे पूरा किया और वह कार्य अब भी जारी है, इससे भारतीयों के सुख और समृद्धि में जो वृद्धि हुई है वह आंकी नहीं जा सकती है।"

भारत के आर्थिक विकास की संयुक्त राष्ट्र संघ से तुलना करते हुए डब्लू.डब्लू. हंटर ने 1887 ई. में लिखा है– "पिछले 50 वर्षों में भारत की प्रगति कम आश्चर्यजनक नहीं रही है, और यदि उस निम्न स्तर पर ध्यान दिया जाए जहां से भारत ने शुरुआत की थी, तो कुछ मामलों में यह प्रगति बड़ी तेजी से हुई।"

एल्फ्रेड मार्शल ने भी 1899 ई. में कहा था कि, "यद्यपि भारत पश्चिम अथवा जापान के साथ आगे नहीं बढ़ सकता, परंतु जब कोई भारत की धीमी प्रगति की शिकायत करता है, तो उसे याद रखना चाहिए कि प्राचीन सभ्यता के क्षेत्र में और इसी प्रकार की कठिनाइयों का सामना करने वाला मुश्किल से ही कोई ऐसा देश होगा जिसकी प्रगति की तुलना भारत की प्रगति से की जा सकती है।"

फिर जो ब्रिटिश प्रशासन भारत के हित की बात करता है, उनके द्वारा वही लाभ भारत को क्यों नहीं प्राप्त हुआ। ब्रिटिश प्रशासन इस बात को स्वीकार करना ही नहीं चाहता है कि ब्रिटिश काल में भारत की आर्थिक हालत मंद हो गई थी। जनता बेरोजगारी व आर्थिक समस्याओं से ग्रसित थी लेकिन ब्रिटिशर्स का कहना है कि भारतीयों को लाभ उठाना ही नहीं आता है।

ब्रिटिशकालीन भारतीय अर्थशास्त्रियों का आर्थिक चिंतन

मौरिस के अनुसार, "आर्थिक लेखकों के दो वर्ग रहे हैं, भारतीय लेखक 19वीं सदी के पतन के कारण के रूप में विशेष रूप से ब्रिटिश शासन के शोषक पहलुओं पर जोर देते हैं। पश्चिमी लेखक शोषण की बात को स्वीकार नहीं करते हैं और कहते हैं कि भारतीय अर्थव्यवस्था औद्योगिक क्रांति के लाभों का फायदा नहीं उठा पाई और इसके अतिरिक्त भारतीय समाज में 'दूसरी दुनिया' के प्रति अधिक मोह था और वह विभिन्न जातियों में विभाजित था। यह साफ ज्ञात हो रहा है कि दूसरा दृष्टिकोण सिर्फ बचाव के लिए है।"

ब्रिटिश काल में ब्रिटिश भारत पर इतने अधिक हावी थे कि उस समय का इतिहास ब्रिटिश द्वारा लिखा गया क्योंकि ब्रिटिश के विचारों में तो भारतीय मूर्ख थे, सभी ज्ञान के तत्व ब्रिटिश में ही व्याप्त थे। भारत की अर्थव्यवस्था पर विचार व्यक्त करना उनका एकाधिकार बन चुका था। इसलिए ही भारत की दयनीय आर्थिक स्थिति का वर्णन उस काल में कम मिलता है। उस काल में कोई भारतीय अर्थशास्त्री द्वारा भारत का आर्थिक इतिहास नहीं लिखा गया, फिर भी भारत में कुछ ऐसे विद्वान थे, जिन्होंने उस समय के आर्थिक इतिहास पर प्रकाश डाला है।

ब्रिटिश लेखकों ने तत्कालीन आर्थिक स्थिति पर कुछ इस प्रकार लिखा है–

सन् 1882 ई. में जॉर्ज कैंपबेल ने लिखा है, जहां तक सार्वजनिक कार्यों 'मैनुअल ऑफ फॅलिकिल एकॉनामी' के लेखक हेनरी फॉसेट भारतीय अर्थव्यवस्था की सामान्य समस्याओं के लिए 'जंखीराअंदोजी' और ब्याज की ऊंची दरों को जिम्मेवार मानते हैं। इसके अतिरिक्त हमारे देश में भी कुछ ऐसे अर्थशास्त्री हुए जिन्होंने देश को न केवल आजादी दिलाई बल्कि प्रत्येक क्षेत्र में भारतीयों का मार्गदर्शन भी किया और साथ–साथ भारतीयों पर हो रहे अत्याचार तथा उनके आर्थिक उत्पीड़न, आर्थिक समस्याओं को भारतीय संसद में विरोध किया तथा उनके लिए नये कानून की मांग करते रहे।

1. गोपाल कृष्ण गोखले भारत के औद्योगिक विकास के लिए सदैव इच्छुक थे, वे स्वदेशी वस्तुओं के प्रोत्साहन के समर्थक थे, किंतु वे बहिष्कार की नीति द्वारा स्वदेशी का विस्तार हितकर नहीं मानते थे।

   1903 ई. में बजट पर भाषण करते हुए गोखले ने ब्रिटिश सरकार से अनुरोध किया कि सूती माल व नमक कर में कमी की जाए, भारत में सरकारी नौकरियों पर भारतीयों को ही नियुक्त की जाए। 1905 ई. में गोखले ने पुनः सरकार का नमक कर में कमी तथा देश में कृषकों को सहायता देने तथा सरकारी नौकरियों का भारतीयकरण करने पर ध्यान आकर्षित किया।

2. राजा राम मोहन राय भारत के एक सफल समाज सुधारक तथा एक राजनैतिक के रूप में जाने जाते हैं। उन्होंने कहा कि नमक उत्पादन पर एकाधिकार होना समाज के लिए अहितकर है। कंपनी द्वारा उत्पादित नमक में इतनी अधिक मिलावट होती है कि उपभोक्ताओं तक पहुंचते–पहुंचते यह मिट्टी से बस थोड़ा–सा भिन्न रह जाता है।

   इस तथ्य से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि मात्र नमक के लिए हमारे नेताओं को इतना अनुरोध करना पड़ता था शेष आर्थिक क्षेत्रों की स्थिति क्या रही होगी, इसका हम आगे अध्ययन करेंगे।

3. दादा भाई नौरोजी ने संसद का सदस्य होने के नाते सदन में सरकार की निंदा करते हुए कहा था कि भारत का आर्थिक विकास तभी संभव है जब भारत का राजनैतिक व आर्थिक शासन भारतीयों के हाथों में होगा।

4. महागोविंद रानाडे, 'Fredreich List' की पुस्तक 'National System of Political Economy' के लेखों से बहुत प्रभावित थे। उन्होंने सरकार से आग्रह किया कि आर्थिक व औद्योगिक विकास के लिए संरक्षण नीति अपनाई जाए। उन्होंने लघु उद्योगों के नियोजित विकास की ओर ध्यान आकर्षित किया।

   रानाडे भारतीय आर्थिक समस्याओं के यथाक्रम अध्ययन के निर्माता थे। उन्होंने देश में लगान पद्धति में सुधार करने के उद्देश्य से स्थायी रयैतवाड़ी प्रणाली को अपनाने का सुझाव दिया था।

5. 1900 ई. में रोमेशचन्द्र दत्त की पुस्तक 'Femines in India' में भारतीय कृषि व कृषक का वर्णन है। उस समय भारत के वायसराय लॉर्ड कर्जन ने भी इस पुस्तक की प्रशंसा की थी। अपने अनुसंधान द्वारा उन्होंने बताया कि ब्रिटिश शासन न केवल भारत की भौतिक स्थिति को सुधारने में विफल रहा बल्कि उसके काल में भारत का वि–उद्योगीकरण भी हुआ। ब्रिटिश आर्थिक नीति के परिणामस्वरूप भारत के दस्तकारी उत्पादन में जबरदस्त गिरावट आई और उसकी भरपाई के रूप में औद्योगिक उत्पादन में बढ़ोत्तरी नहीं हुई, न ही भारतीय उद्योगों को किसी प्रकार का संरक्षण प्राप्त हुआ। भारतीय समाज का देहातीकरण होता चला गया। दत्त का मानना है कि भारतीय अर्थव्यवस्था अविकसित नहीं है बल्कि उसके विकास का मार्ग ही अवरुद्ध कर दिया गया था।

   सन् 1902 ई. में 'The Economic History of British India' में अंग्रेजों की सत्ता की स्थापना से लेकर साम्राज्ञी की हुकूमत लागू होने तक का आर्थिक इतिहास वर्णित है। साथ ही ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा अपनाई गई भूमि बंदोबस्त संबंधी नीति, व्यापार और कारखाने उत्पादन संबंधी नीति को विश्लेषणात्मक विवरण है। सन् 1904 में इसी पुस्तक का दूसरा खंड प्रकाशित किया गया 'जो ब्रिटिश शासक के प्रारंभिक वर्षों में अपनाई गई स्वार्थपूर्ण नीतियां भारतीय उद्योगों के पतन के लिए जिम्मेदार रही है'। दत्त ने भारत में गरीबी के कारणों पर प्रकाश डालते हुए साबित किया कि अंग्रेजों की नीति के कारण देशी उद्योग व हस्तकला नष्ट हो गई, लाखों लोगों को बेरोजगार होना पड़ा, इसलिए खेती पर निर्भर रहने वालों की संख्या बढ़ गई। उन्होंने सिफारिश की कि भारतीय मिल उद्योगों से उत्पादन शुल्क हटाया जाए, नीची दरों के नरम लगान के अलावा सभी करों से छुटकारा दिया जाए। इंग्लैंड में व्यय किए जाने वाले शाही व फौज खर्च भारत से न लिया जाए।

6. सर मोक्षगुंडम विश्वश्वरैया भारतीय नियोजन के जनक माने जाते हैं। उन्होंने ही सर्वप्रथम भारत के आर्थिक विकास के लिए नियोजन की आवश्यकता व्यक्त की थी। 1934 में प्रकाशित 'भारत के लिए नियोजित अर्थव्यवस्था' ('Planned Economy for India') में समाज में नियोजन की आवश्यकता के विषय में बताया है कि देश में औद्योगिक कृषि, वाणिज्य, वित्त तथा उत्पादन के विकास के लिए व बेरोजगारी को नष्ट करने के लिए नियोजित अर्थव्यवस्था अनिवार्य है।

नियोजित अर्थव्यवस्था भिन्न व्यवसायों में संतुलन बनाए रखने में सहायक होगी तथा इसके द्वारा देश में आर्थिक क्रियाओं की तीव्र गति से प्रगति संभव है। डॉ. विश्वश्वरैया औद्योगीकरण के समर्थक थे।

उनका मानना था कि कृषि में सुधार हेतु यह आवश्यक है कि उद्योगों को बढ़ावा दिया जाए, जिससे जनसंख्या का कुछ हिस्सा कृषि के अतिरिक्त उद्योगों में लगाया जाए। इन्होंने भारत की पंचवर्षीय योजनाओं पर भी प्रकाश डाला है। सन् 1955 ई. में जब उन्हें भारत रत्न से सम्मानित किया गया तो उन्होंने नेहरू को लिखा था कि, "इस उपाधि से विभूषित करने से मैं आपकी प्रशंसा करूंगा तो आपको निराशा होती। मैं सत्य की तह तक पहुंचने वाला व्यक्ति हूं।" नेहरू ने उनकी प्रशंसा करते हुए कहा कि वे स्वतंत्र टिप्पणी करने के लिए स्वतंत्र हैं, यह सम्मान उन्हें उनके अद्‌भुत कार्यों के लिए मिल रहा है।

7. महात्मा गांधी का मानना था कि भारत चंद कुछ शहरों में नहीं बल्कि अपने 7 लाख गांव में बसता है। गांधी जी का कहना था कि 'अर्थ पक्ष और नैतिक पक्ष एक दूसरे के पूरक हैं' अर्थात आर्थिक प्रतिस्पर्धा में हमें अपनी नैतिकता को नहीं भूलना चाहिए क्योंकि प्रकृति के नियम पूर्ण सत्य हैं, परंतु आर्थिक नियम समय व स्थान के साथ बदलते रहते हैं। गांधी जी पूंजीवाद के विरोधी थे। उनका कहना था कि "इस पृथ्वी पर मानव की आवश्यकता अनुसार प्रचुर मात्रा में संसाधन उपलब्ध हैं, परंतु मानव की लालसा के अनुरूप संसाधन है।" अगर मानव अपनी आवश्यकता के अनुसार वस्तुओं का उपयोग करे तो कोई भी दुनिया में भूखा नहीं मरेगा।

   गांधी जी विकेंद्रीकृत उद्योगों के पक्षधर थे। उनका मानना था कि औद्योगीकरण समस्त सामाजिक राक्षसों की जननी है। गांधी जी ने विकेंद्रीकृत उद्योगों का समर्थन किया, उनका मानना था कि विकेंद्रीकृत उद्योगों में शोषण न के बराबर होगा। चूंकि भारत एक श्रमिक प्रधान देश है और उस वक्त पूंजी का आभाव था तो ऐसे में श्रम धनिक तकनीकी का इस्तेमाल होना चाहिए।

   भारत में बेरोजगारी को देखते हुए गांधी जी ने खादी ग्रामोद्योग को बढ़ावा देने की बात कही थी। वे खादी को भारत की आर्थिक स्वतंत्रता तथा एकता का प्रतीक मानते थे। खादी द्वारा भारत में रोजगार मिल सकता था, जो भारत को आर्थिक रूप से स्वतंत्र राष्ट्र बना सकता है। गांधी जी का उद्देश्य भारत के प्रत्येक घर को उत्पादन की इकाई में बदलना था। इससे भारत आतमनिर्भर राष्ट्र के साथ–साथ पूरी दुनिया का एक विनिर्माण केंद्र बन सकता है। गांधी मशीन को एक 'उच्चतम कोटि के पाप' के रूप में देखते थे।

1.2.1 भारतीय आर्थिक इतिहास के मुद्दे एवं समस्याएं

ऐतिहासिक रूप में भारत एक बहुत विकसित आर्थिक व्यवस्था थी, जिसके विश्व के अन्य भागों के साथ मजबूत व्यापारिक संबंध थे। औपनिवेशिक युग (1773–1945) के दौरान ब्रिटिश भारत से सस्ती दरों पर कच्ची सामग्री खरीदा करते थे और तैयार माल भारतीय बाजारों में सामान्य मूल्य से कहीं अधिक उच्चतर कीमत पर बेचा जाता था, जिसके परिणामस्वरूप स्रोतों का द्विमार्गी ह्रास होता है। ब्रिटिश काल में भारतीय पूर्णरूपेण ब्रिटिश प्रशासकों के गुलाम थे, कोई चापलूसी में गुलामी करता था, कोई

मजबूरी में गुलामी करता था। तत्कालीन इतिहास पर इस गुलामी का असर भरपूर देखा जा सकता है, इसी कारण भारत के आर्थिक स्थिति का अधिकांशतः ब्यौरा अंग्रेजों के द्वारा ही किया गया है, जिसमें भारतीयों के लिए नकारात्मक पक्ष और अंग्रेजी प्रशासन के लिए सकारात्मक पक्ष का वर्णन किया गया है।

एक आंकड़ों के अनुसार, इस अवधि के दौरान विश्व की आय में भारत का हिस्सा 1700 ई. में 20.3 प्रतिशत से गिरकर 1952 ई. में 3.8 प्रतिशत रह गया। इन आंकड़ों से ही अंदाजा लगाया जा सकता है कि ब्रिटिश प्रशासकों द्वारा किस तीव्र गति से भारत को आर्थिक रूप से पंगु बनाया गया। बढ़ती हुई आर्थिक समस्याओं पर कोई व्यापक सुधार नहीं किया गया और धीरे–धीरे भारत से धन निष्काषित होता रहा। अब हम भारतीय इतिहास के कुछ आर्थिक मुद्दों एवं समस्याओं पर चर्चा करेंगे–

(क) कृषि

17वीं शताब्दी में भारत आए फ्रांसीसी यात्री बर्नियर ने तत्कालीन बंगाल का वर्णन इस प्रकार किया है– "अपने दो बार के भ्रमण के दौरान बंगाल के विषय में संगृहीत जानकारी के आधार पर मैं कह सकता हूं कि यह क्षेत्र मिस्र देश से कहीं अधिक समृद्ध है। सिंचाई के लिए गंगा नदी से काट कर बनाई गई नहरों का जाल सा बिछा हुआ है।" इस विवरण से ज्ञात होता है कि तत्कालीन शासन में कृषि की स्थिति अच्छी थी, सिंचाई की सुविधाएं भी उपलब्ध थी। बर्नियर के इस विवरण से यह भी सिद्ध होता है कि "जिस प्रकार ब्रिटिश शासकों ने भारत के विकास के विषय में सदैव यही कहा है कि भारतीय तो प्रारंभ से ही अविकसित थे, गलत सिद्ध होता है।"

उपरोक्त विवरण के दूसरी ओर ब्रिटिश काल में बंगाल व उत्तरी मद्रास में जमींदार स्थाई बंदोबस्त पद्धति के अंतर्गत भूमि अपने कब्जे में रखने लगे थे, तथा जिसका वे स्थायी तौर पर निर्धारित राजस्व का भुगतान करते थे। इसके साथ ही यह भी ज्ञात होता है कि उत्तरी भारत में जमींदारी अथवा ग्राम समुदायों ने धरती पर कब्जा कर रखा था और वे भूमि कर चुकाते थे। ये कर राजस्व में परिवर्तित करों, नए समझौतों के आधार पर परिवर्तित होते रहते थे। ईस्ट इंडिया कंपनी के शासनकाल में समय और स्थान के अनुसार राजस्व की मात्रा निर्धारण का सिद्धांत बदलता रहता था, परंतु 19वीं शताब्दी मध्य तक स्थाई बंदोबस्त में आए देश के सभी भागों में न्यूनाधिक रूप से यह कहा जा सकता है कि जमींदारों और ग्राम समुदायों के कब्जों की जोत पर वास्तविक या अनुमानित प्रतियोगिक किराये का आधा भाग, रैयतवाड़ी में आर्थिक किराये का, उत्पादन पूंजी का आधा भाग सरकार द्वारा राजस्व के रूप में वसूल किया जाए किंतु इस सिद्धांत पर कठोरता से अमल नहीं किया गया। चालू करो में वृद्धि का आधार पर विशुद्ध रूप से केवल उपज की ओर यह एक अनिश्चित ढंग था।

1881–82 ई. में सरकार के कुल राजस्व 46.86 करोड़ में से भू–राजस्व की वसूली 19.67 करोड़ थी। 1901–1902 ई. में सरकार की 60.79 करोड़ वसूली में भूराजस्व का योगदान 23.99 करोड़ थी। ये आंकड़े बताते हैं कि भूराजस्व की वसूली में क्रमिक वृद्धि हो रही थी। विश्लेषण यह था कि यह वृद्धि केवल मूल्यों में वृद्धि का परिणाम थी।

ब्रिटिश काल में लगभग 85 प्रतिशत जनता कृषि करती थी। भारत की अधिकांश जनता प्रतयक्ष या परोक्ष रूप से कृषि के माध्यम से ही जीविकोपार्जन कर

रही थी। कृषि की गतिहीन स्थिति होने से कृषि उत्पादनकर्ता में कमी आई, इसका मुख्य कारण औपनिवेशिक शासन द्वारा लागू की गई भू–व्यवस्था प्रणाली थी। प्रारंभ में राष्ट्रवादियों द्वारा सरकारी नीति पर दोषारोपण की शुरुआत भारतीय कृषि समस्याओं पर सार्वजनिक सभा में प्रकाशित 'जनरल ऑफ द पूना' में जस्टिस रानाडे के लेखन में हुआ। 1879 ई. में 'एग्रेरियन प्राब्लम एंड इट्स सोल्यूशन' शीर्षक लेख में जस्टिस रानाडे ने एक कटु सत्य का उल्लेख किया, 'बम्बई राजस्व विभाग ने देश को कंगाल बना दिया' है।

कृषि कार्यों से होने वाले लाभ जमींदार हड़प लिया करते थे, किसानों के पास कुछ नहीं बचता था, इस स्थिति से निपटने के लिए औपनिवेशिक शासकों ने कुछ नहीं किया। जमींदार केवल लगान वसूल करने में ही संलग्न रहते थे, कृषिकों की दशा से कोई सरोकार नहीं था। राजस्व जमा करने की तिथि पूर्व निर्धारित थी। समयावधि में राजस्व नहीं जमा किए जाने की स्थिति में जमींदारों से अधिकारों का हनन कर लिया जाता था। इसके साथ ही अन्य महत्वपूर्ण तत्व सिंचाई की पूर्ण सुविधा का अभाव था। सिंचाई अभाव के अतिरिक्त बाढ़ नियंत्रण, उपजाऊ शक्ति के मामले में पिछड़ा हुआ था। छोटे किसानों के पास कृषि क्षेत्र में निवेश करने के लिए न ही संसाधन थे, न ही तकनीकी, न ही प्रेरणा। 90 प्रतिशत जनता की आजीविका का साधन कृषि का सुधार न केवल असंभव सा लग रहा था, बल्कि कृषि का ह्रास भी निश्चित हो गया था।

गलत आर्थिक नीतियों के कारण भारतीय कृषकों की स्थिति बिगड़ गई थी। पिछले तीन दशकों से भारत में कृषि सबसे अधिक संकट ग्रस्त थी। भारत में लगभग 65 प्रतिशत कृषि बारिश पर निर्भर है। भारत के कई क्षेत्रों पर अत्यधिक बारिश या अल्प बारिश को झेलना पड़ता है।

भारतीय कृषि की समस्याएं

1. **ग्रामीण–शहरी विभाजन**– आज भी भारत के खेत ग्रामीण क्षेत्रों में हैं। हालांकि भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में सुधार हुआ है लेकिन भारत के शहरी और ग्रामीण अंतर के पुल को कम करने के लिए यह पर्याप्त नहीं है। ग्रामीण मासिक प्रतिव्यक्ति आय 1993–94 और 2004–05 के बीच 0.8% एक अप्रत्यक्ष वार्षिक दर से बढ़ी, लेकिन 2005–10 और 2011–12 के बीच इसमें 3.3% की तीव्र गति से वृद्धि हुई। ग्रामीण आय में बढ़ोत्तरी और ग्रामीण गरीबी दर से गिरने के बावजूद भी खेती के अंतर्गत असमानता केवल ग्रामीण इलाकों में पाया जाता है। 40% किसान अपनी आर्थिक स्थिति से संतुष्ट नहीं है।
2. **कृषि में निवेश का आभाव**– कृषि क्षेत्रों में नई निवेश में कमी हुई। अर्थशास्त्रियों का मानना है कि कृषि में अस्थिरता का मूल कारण भूमि में असमानता है। कृषि में निवेश करना अन्य क्षेत्रों में निवेश की तुलना में लाभदायक होता है, अन्य क्षेत्रों में निवेश कृषि की बजाय उच्च रिटर्न देने वाले सिद्ध होते हैं। परिणामस्वरूप कृषि में निवेश में कमी हुई और इस क्षेत्र का नुकसान हो रहा है।
3. **प्रभावी नीतियों का अभाव**– भारत में कृषि से संबंधित समस्याओं को हल करने के लिए सरकारों द्वारा किए गए प्रयासों के बावजूद भारत में कोई सुसंगत

कृषि नीति नहीं है। भारतीय कृषि में स्थिरता और उत्पादकता में वृद्धि के मुद्दे को लेकर एक सुसंगत कृषि नीति पर व्यापक समझौते की आवश्यकता है।

पिछली शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद भारत की तरह अधिकांश विकासशील देश ने अपने कृषि क्षेत्र के संरचनात्मक विकास को नजरअंदाज किया है। तुलनात्मक रूप से भारत ने अपने कृषि विकास की जगह औद्योगिक विकास पर अधिक ध्यान केंद्रित किया है।

4. **प्राकृतिक संसाधनों के सही उपयोग का अभाव**– भारत में खेती के लिए प्राकृतिक संसाधनों को संरक्षित और विकसित नहीं किया गया है। मुख्य रूप से सिंचाई से संबंधित संसाधनों को संरक्षित करने के लिए बहुत कम प्रयास किए गए। महाराष्ट्र और अन्य जगहों पर प्रवास की कहानियों और गंभीर जल संकट से स्थिति की गंभीरता स्वतः स्पष्ट हो रही है।

5. **विमुद्रीकरण का प्रभाव**– कृषि में तनाव की घटनाओं का दिखाई देने का मुख्य कारण विमुद्रीकरण है। इस वित्तीय वर्ष में कृषि उत्पादों में कमी आई है। नकद कृषि क्षेत्र में लेन–देन का प्राथमिक तरीका है जो भारत के कुछ उत्पादन में 15% योगदान देता है। बिक्री, परिवहन, विपणन और थोक केंद्रों या मंडियों के लिए तैयार माल का वितरण मुख्य रूप से नकद लेन–देन पर आधारित है।

   इसके अतिरिक्त विमुद्रीकरण आपूर्ति की श्रृंखला में गिरावट, व्यापार के बकाया को नकदी के बजाय कम राजस्व के रूप में दिखाया जाना और सीमित पहुंच वाले बैंक खाते हैं। जमा करने जैसे अवराधों की वजह से कृषि क्षेत्र प्रभावित होता है।

6. **कीमतों में अत्यधिक हस्तक्षेप**– भारत में मूल्य नियंत्रण पर कोई प्रतिबंध है। उन प्रतिबंधों से भारतीय कृषि को मुक्त किया जाना चाहिए। इसके अलावा अस्थिर कीमतों, कृषि उत्पादकों के आंदोलन पर प्रतिबंध और वैश्विक बाजारों तक पहुंच की कमी के कारण इस क्षेत्र में वाणिज्यिक जोखिमों को लेकर कुछ सुधारात्मक उपायों को लागू करने की आवश्यकता है। कई विशेषज्ञों का मानना है कि इस संकट का समाधान राज्य नियंत्रण की व्यवस्था को खत्मक करने से कुछ हद तक हो सकता है।

7. **सिंचाई की समस्या**– कुल सिंचित क्षेत्र लगभग 63 मिलियन हेक्टेयर है और देश में बोया हुआ कुल क्षेत्रफल का केवल 45% ही है। हॉल के वर्षों में असम, मध्यप्रदेश, जम्मू और कश्मीर और राजस्थान में सिंचाई की सुविधाओं में कुछ सुधार हुआ है, लेकिन 2004–05 में प्रथम, मध्यम और लघु सिंचाई में वास्तविक निवेश में 235 अरब रुपये से लेकर 2013–14 में 309 बिलियन तक भारी वृद्धि के कारण यह नगण्य लगता है। भारत में प्रमुख परियोजनाओं के लिए अपने पूंजीगत व्यय में 3.5 गुना तक वृद्धि की है। जबकि छोटे–छोटे सिंचाई में निवेश केवल 2.5 गुना बढ़ा है।

8. **सुस्त उर्वरक उद्योग**– पिछले 15 वर्षों में भारत में उर्वरक क्षेत्र में कोई निवेश नहीं हुआ। यह स्थिति उस समय की जब दुनिया में उर्वरकों की मांग के अनुसार सबसे अधिक उत्पादन भारत में होता है, लेकिन निर्यात की बजाय आयात दिनों दिन बढ़ता जा रहा है। उत्पादन काफी हद तक स्थिर बना हुआ है। इसका मुख्य कारण भारतीय उर्वरक नीति में व्याप्त समस्याएं हैं।

इस उद्योग में अवैतनिक उर्वरक सब्सिडी बिल 40,000 करोड़ रुपये से अधिक तक पहुंच गया है एवं इसे वित्त वर्ष के अंत तक 48000 करोड़ रुपये तक पहुंचाने की संभावना है। उर्वरक सब्सिडी के लिए करीब 73000 करोड़ रुपये के बजटीय आवंटन का वास्तविकता से कोई लेना–देना नहीं है। वर्ष दर वर्ष बकाया की राशि बढ़ती जा रही है। इसके अतिरिक्त भारत उपभोग के लिए लगभग एक तिहाई नाइट्रोजन का आयात करता है, जबकि तुलनात्मक रूप से 2000–01 में इसका 10% से भी कम आयात करता था।

9. **मानसून पर निर्भरता**– भारत में अधिकांश कृषि क्षेत्र असिंचित होने के कारण कृषि क्षेत्र में समग्र विकास के लिए मानसून महत्वपूर्ण है। ऐसे मामले में मानसून महत्वपूर्ण है। ऐसे मामले में मानूसन पर ग्रामीण अर्थव्यवस्था का निर्भरता को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है। खराब मानसून के कारण खेती पर बहुत बुरा असर पड़ता है और किसानों को बहुत भारी नुकसान उठाना पड़ता है। ऐसी स्थिति खरीफ फसलों के उत्पादन और उपज में भी उत्पन्न होती है। अधिकांश कृषि राज्यों में मानूसन पर निर्भरता के कारण खरीफ फसलों का उत्पादन बिना फायदे के करना पड़ता है।

इस प्रकार उपरोक्त वर्णन से यह सामने आया है कि ब्रिटिश काल में ही भारतीय कृषकों की स्थिति अत्यंत खराब रही है। आजादी के पश्चात भी कृषकों व कृषि की स्थिति में कोई खास सुधार देखने को नहीं मिलता है। भारत प्राचीन काल से ही कृषि प्रधान देश रहा है। भारत का मुख्य व्यवसाय ही कृषि है किंतु देश में इसकी हालत पस्त है। देश की अधिकांश अर्थव्यवस्था उसी पर निर्भर है।

(ख) विदेशी व्यापार

भारत में तो प्राचीन समय से ही अन्य देशों के साथ व्यापारिक संबंध रहा। औपनिवेशिक सरकार द्वारा अपनाई गई वस्तु उत्पादन व्यापार और सीमा शुल्क की प्रबंधकारी नीतियों का भारत के विदेशी व्यापार की संरचना व आकार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। इंग्लैंड ने भारत के आयात–निर्यात पर अपना एकाधिकार जमाये रखा। भारत कच्चे उत्पादन जैसे रेशम, कपास, ऊन, चीनी, नील और पटसन आदि का निर्यातक होकर रह गया। भारत का अधिकांश व्यापार तो केवल इंग्लैंड तक ही सीमित रहा। विदेशी शासन के अंतर्गत भारतीय आयात–निर्यात की सबसे बड़ी विशेषता निर्यात अधिशेष का बड़ा आकार रहा किंतु इस अधिशेष की भारतीय अर्थव्यवस्था को बहुत भारी लागत चुकानी पड़ी। देश की जनता को अनाज, कपड़ा और मिट्टी का तेल जैसी अनेक आवश्यक वस्तुएं मुश्किल से उपलब्ध हो पाती थी। अंग्रेजी सरकार के युद्धों पर व्यय और अदृश्य मदों के आयात पर व्यय के द्वारा ही संपदा का दोहन हुआ है।

व्यापार एक देश की उपभोग क्षमताओं का विस्तार करता है और दुर्लभ संसाधनों तक पहुंच प्रदान करता है और उत्पाद के लिए विश्व भर के बाजार तक विस्तार देता है जो संवृद्धि के लिए आवश्यक है। अंततः विदेश व्यापार नीति संवृद्धि एवं विकास को बढ़ाने में सहायक होती है।

विदेश व्यापार की समस्याएं

स्वतंत्रता के बाद विदेशी व्यापार में कोई खास परिवर्तन नहीं दिखाई दिया, इसकी मुख्य समस्याएं निम्नलिखित हैं–

1. भारत में कई निर्यात मदें उच्च आयात प्रवृत्ति रखती हैं जो उनके प्रतिस्पर्द्धात्मक लाभ में काफी कमी करते हैं, विशेष रूप से जब तक रुपये की कीमत कमजोर होती है। जैसे– भारत का हीरा उद्योग कीमती व कम कीमती पत्थरों के आयात पर भारी धन खर्च करता है। मुद्रा स्फीति ने भारतीय मुद्रा को कमजोर करके स्थिति को और बदतर बना दिया है।
2. हस्तांतरण की उच्च लागत एक बड़ी समस्या है। यह निर्यात उद्योग को समाप्त कर देती है।
3. हमारे पत्तनों से निर्यात मदों के सुचारू परिवहन के लिए आवश्यक सुविधाओं एवं मानकों का अभाव है।
4. भारत और अन्य विकासशील देशों से निर्यात हस्तोत्साहित करने के लिए श्रम, पर्यावरण, स्वास्थ्य, मानक आदि निर्यातक क्षेत्र द्वारा सामना की जाने वाली बेहद गंभीर चुनौती है।
5. भारत को नवोदित अर्थव्यवस्थाओं तक पहुंच द्वारा अपने निर्यात बाजार का विविधीकरण करना चाहिए। जैसे– पूर्वी यूरोप और मध्य एशिया की अर्थव्यवस्थाएं परिवर्तन के दौर में है। हमें इस पर ध्यान देना चाहिए और इन बाजारों में अपनी उपस्थिति दर्ज करनी चाहिए।

1950 के दौरान भारत के नीति निर्माताओं ने भारत की आर्थिक संवृद्धि के उत्प्रेरक के तौर पर विदेश व्यापार के विकल्प पर गंभीर रूप से विचार नहीं किया। इसका मुख्य कारण निर्यात आय अर्जन क्षमता के प्रति बेहद निराशाजनक दृष्टिकोण था। विशाल घरेलू बाजार के अस्तित्व ने आंतरिक उन्मुखता की ओर आवेशित होने का काम किया।

कुछ समय पश्चात लगभग 1970 के दशक के अंत तक बड़ी संख्या में मदों का आयात प्रतिस्थापन भारत की विकास रणनीति का आधारभूत सिद्धांत रहा है।

(ग) औद्योगिक क्षेत्र

भारत कृषि की ही भांति लघु व कुटीर उद्योगों पर भी निर्भर था किंतु औद्योगिक क्रांति ने भारत के उद्योगों पर कुठाराघात कर दिया। भारत के विकसित औद्योगीकरण के पीछे विदेशी शासकों का दोहरा उद्देश्य था। इंग्लैंड में विकसित हाने वाले उद्योगों के लिए कच्चे माल का निर्यातक भारत को बनाना चाहते थे और साथ ही भारत को एक विशाल बाजार भी बनाना चाहते थे। ऐसे आर्थिक परिदृश्य में भारतीय शिल्पकलाओं के पतन से एक बड़े स्तर पर बेरोजगारी फैली, वहीं दूसरी ओर भारतीय बाजारों में मांग का प्रसार भी हो रहा था।

औद्योगिक क्षेत्र की समस्याएं

19वीं शताब्दी के उद्दारार्द्ध में भारत में कुछ आधुनिक उद्योगों की स्थापना होने लगी थी, किंतु उनकी उन्नति बहुत धीमी थी और भारत में भावी औद्योगीकरण को प्रोत्साहित करने हेतु पूंजीगत उद्योगों का प्रायः आभाव ही बना रहा है। पूंजीगत उद्योग वे उद्योग होते हैं जो तत्कालीन उपभोग में काम करने वाली वस्तुओं के उत्पादन के लिए मशीनों ओर कल–पुर्जो का निर्माण करते थे। वास्तव में यह क्षेत्र प्रायः रेल, विद्युत उत्पादन, संचार, बंदरगाहों ओर कुछ विभागीय उपक्रम तक सीमित रह गए।

आजादी के बाद भी भारतीय उद्योगों में कोई खास परिवर्तन नहीं दिखा, जिसमें कुछ समस्याएं निम्नलिखित हैं–

- **लघु उद्योगों की जमीनी हालत**– घरेलू और निर्यातक दोनों ही कारोबार में अहम् भूमिका निभाने वाला उद्योग इन दिनों कई तरह की चुनौतियां का सामना कर रहा है। सबसे बड़ी चुनौती ऋण की है क्योंकि उन्हें मुक्त कर्ज नहीं मिल पाते हैं तो भुगतान में समस्या आती है। समय पर कर्ज न देने के कारण कर्ज की दरें बढ़ती रहती हैं।
- **मार्केटिंग की समस्या**– उद्यमियों के पास मार्केटिंग की समस्या बनी रहती है। सरकारी स्तर पर कुछ प्रयास जरूरी होते हैं किंतु वह बहुत अधिक संतोषजनक नहीं होते हैं।
- **प्रदूषण की समस्या**– लघु उद्योगों के कई व्यवसायी पीड़ित रहे हैं, जो प्रदूषण की चुनौती का सामना कर रहे हैं। जैसे पेपर मिलों को पर्यावरण बोर्ड की तरफ से प्लांट बंद करने का नोटिस मिल चुका है क्योंकि पॉल्यूशन ट्रीटमेंट प्लांट लगाने का खर्चा काफी होता है, जो छोटी इकाइयों के लिए संभव नहीं है, इसमें पर्यावरण विभाग भी काफी हद तक सहयोग कर सकता है।
- **टेक्नोलॉजी में सुधार**– भारत में टेक्नोलॉजी के क्षेत्र में अभी भी काफी हद तक सुधार की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए चीन और भारतीय बाजारों का अध्ययन करें तो ज्ञात होता है कि उनकी तकनीकी न केवल हमसे आगे है बल्कि समयानुसार बदलती रहती है। आज के वर्तमान प्रगतिशील युग में टेक्नोलॉजी में सुधार आवश्यक है, क्योंकि इसका सीधा प्रभाव हमारी कार्यक्षमता पर पड़ता है। जो अंततः उत्पादन की कीमत बढ़ाती है, तो उसकी गुणवत्ता भी कम करती है। इस क्षेत्र में भी सरकार को और व्यक्तिगत रूप से उद्यमियों को भी कार्य करने की आवश्यकता है।

इस प्रकार यह दृष्टिगोचर होता है कि भारत में उद्योगों की हालत आज भी अच्छी नहीं है। नित्य नई समस्याओं व चुनौतियों का सामना करना पड़ता है।

(घ) जनांकिकीय परिस्थिति

1881 ई. सर्वप्रथम भारत की जनसंख्या के आंकड़े एकत्र किए गए थे। बाद में प्रत्येक दस वर्ष बाद जनगणना होती रही है। 1921 ई. के पूर्व का भारत जनांकिकीय संक्रमण के प्रथम सोपान में था। इसके बाद का सोपान 1921 के बाद शुरू हुआ। उस समय भारत की जनसंख्या बहुत विशाल नहीं थी, कुल मिलाकर साक्षरता दर 16% से भी कम थी। महिला साक्षरता दर नगण्य थी, मात्र 7%। स्वास्थ्य सेवाएं तो अधिकांशतः को सुलभ भी नहीं थी, जो भी थी वह पर्याप्त नहीं थी। साथ ही जल, वायु से फैलने वाले संक्रमण रोग का प्रकोप भी था, जिससे जन हानि एक आम बात हो गई। इस समय सकल मृत्यु दर बहुत ऊंची थी। विशेष रूप से शिशु मृत्यु दर सबसे अधिक थी क्योंकि उपचार का सही समय पर न मिलना एक बड़ी समस्या थी। इस समय औपनिवेशिक शासन में गरीबी अपने चरम पर थी। जनसंख्या की दशा और भी बदतर हो गई।

जनांकिकीय परिस्थिति की समस्याएं

1930–32 में भारत की आबादी 60 करोड़ थी, आज यह 1 अरब से अधिक हो गई। अर्थशास्त्र के नियमानुसार जीवन स्तर के निम्न होने पर जनसंख्या बढ़ती है। भारत शायद इसी दरिद्रता का शिकार बना हुआ है। जनसंख्या वृद्धि कई समस्याओं को पैदा करती है। इस संदर्भ में निम्नलिखित समस्याओं का सामना करना पड़ता है–

1. प्रतिवर्ष उत्पादित खाद्यान्न अपर्याप्त हो जाता है, जो कि महंगा पड़ता है। इसी प्रकार उपयोगी वस्तुओं के दाम बढ़ते हैं।
2. अधिक जनसंख्या से सरकारके पास रोजगार की कमी के कारण बेकारी बढ़ रही है।
3. वैज्ञानिक प्रगति के कारण पूंजीपति अथवा साम्राज्यवादी आधिपत्य मानव श्रम को दिन प्रतिदिन उपेक्षित करता जा रहा है। इसके लिए पश्चात्य देशों में परिवार नियोजन के अनेक तरीके अपनाए जाते हैं।
4. जनसंख्या अथवा मानव शक्ति किसी भी राष्ट्र की निधि मानी जाती है। जन बल से सरकार अपनी निर्माण योजनाएं पूरे कर सकती है।
5. देश के दुश्मनों को आतंकित करने के लिए भी प्रभूत प्रजा का होना बुरा नहीं माना जाता है। चीन आज जनसंख्या के बल पर ही विश्व में अपनी शक्ति प्रदर्शन करता है।

अर्थशास्त्री माल्थस ने कहा था कि जनसंख्या के अत्यधिक बढ़ जाने पर प्रकृति द्वारा महामारी आदि रूपों में उसका नियंत्रण कर लिया जाता है। भारत में जनसंख्या वृद्धि के विभिन्न महत्वपूर्ण कारकों में जन्म व मृत्यु दर में असंतुलन कम उम्र में विवाह, अत्यधिक निरक्षरता, धार्मिक दृष्टिकोण, निर्धनता, मनोरंजन के साधनों में कमी आदि उल्लेखनीय है।

भारत जैसे विकासशील देश में बढ़ती जनसंख्या पर नियंत्रण पाना अत्यंत आवश्यक है, अन्यथा इसके परिणामस्वरूप देश में अशिक्षा, गरीबी, भुखमरी, बेरोजगारी आवासहीनता जैसी समस्याएं उत्पन्न होती हैं, जिससे देश के विकास में बाधाएं पैदा हो रही है। भारत आज भी जनसंख्या वृद्धि जैसी समस्या से जूझ रहा है।

1.2.2 विभिन्न दृष्टिकोण एवं सीमाएं

औपनिवेशिक कालीन इतिहास लेखन में आवश्यक रूप से औपनिवेशिक विचारधारा का प्रभुत्व रहा है। जब हम 'औपनिवेशिक इतिहास लेखन' शब्दों को उन देशों के इतिहास पर लागू करते हैं जो उपनिवेशवादी शासन की अवधि के दौरान उपनिवेशित हुए और जो उन विचारों और दृष्टिकोणों पर लागू होते हैं जो आमतौर पर उन इतिहासकारों से जुड़े होते हैं जो उपनिवेशवादी विचारधारा के थे या हैं। ब्रिटिश भारत में इस शब्द का प्रयोग पहले अर्थ में किया गया था और स्वतंत्रता के बाद से इस शब्द का दूसरा अर्थ प्रमुखता में आया है। ब्रिटिश औपनिवेशिक अधिकारियों के लिए प्रारंभिक इतिहासकारों में बहुत से इतिहासकारों और 'औपनिवेशिक इतिहास' शब्द का प्रयोग उस इतिहास में निहित विचारधारा के बजाय विषय को संदर्भित करने के लिए किया गया था।

एक तरह से अध्ययन के विषय के रूप में औपनिवेशिक दृष्टिकोण एक विचारधारा के रूप में परस्पर जुड़े हुए हैं। अंग्रेजों के ऐतिहासिक कार्यों में साम्राज्य निर्माण के विषय ने स्वाभाविक रूप से भारत में ब्रिटिश शासन को सही ठहराने वाले विचारों के एक समूह को जन्म दिया। इस संबंध में विभिन्न इतिहासकारों, भारतीय समाज और संस्कृति के प्रति एक अत्यधिक आलोचनात्मक रवैया, सैनिकों और प्रशासकों के लिए प्रशासनिक रवैया, जिन्होंने भारत पर कई वर्षों तक शासन किया। वास्तविक रूप से 19वीं शताब्दी में बहुत कम ऐतिहासिक कार्य हुए। शायद अंग्रेज भारत में राजनीतिक पिरामिड के शीर्ष पर जाने हेतु लड़ने पर अधिक व्यस्त थे। 19वीं शताब्दी के ऐतिहासिक दौर में उल्लेखनीय लेखकों में से एक चार्ल्स ग्रांट ने 1792 में 'Observations on the states of Society among the Asiatic subjects of India' में भारत के विषय लिखा है। ब्रिटिश पर्यवेक्षकों का मानना है कि भारत में ईसाई धर्म को प्रकाश में लाना दैवीय नियति थी जो आदिम धर्म विश्वास और अंधविश्वास के अंधेरे में डूब गया था। हालांकि भारतीय समाज और इतिहास पर इस तरह का चिंतनशील लेखन 19वीं शताब्दी के शुरुआती दशक तक दुर्लभ था। चार्ल्स ग्रांट 'इवेजेलिकल स्कूल' से संबंधित थे। 19वीं शताब्दी के दूसरे दशक तक ब्रिटिश शासन काफी हद तक भारत में स्थापित हो चुका था और विस्तार हेतु एक नए दौर में प्रवेश करने वाला था। 1815 तक यूरोप में ब्रिटिश, फ्रांस और नेपोलियन पर विजय के पश्चात न केवल प्रथम व्यक्ति के रूप में उभरा बल्कि ब्रिटेन पहली औद्योगिक क्रांति से भी गुजरा और दुनिया में सबसे अधिक औद्योगिक देश के रूप में उभरा। यहां से ब्रिटेन का आत्मविश्वास अब शीर्ष पर था। ब्रिटिश लेखन का इससे बेहतर प्रदर्शन कहीं नहीं था। यह रवैया 19वीं शताब्दी के दूसरे दशक से अंग्रेजों के ऐतिहासिक लेखन में परिलक्षित होता है। इसी समय 1806 से 1818 के मध्य जेम्स मिल ने भारत के इतिहास पर कई लेख लिखे। जिनका रचनात्मक प्रभाव, भारत के विषय में ब्रिटिश कल्पनाओं पर पड़ा। जेम्स मिल की किताब 'History of British India' के प्रारंभिक तीन खंडों में भारत के प्राचीन और मध्यकाल के सर्वे शामिल हैं, जबकि अंतिम तीन खंडों में विशेष रूप से भारत में ब्रिटिश शासन का उल्लेख है। मिल की यह पुस्तक अंग्रेजी लेखकों के लेख तथा उस समय भारत में कार्यरत अफसरों के अपने अनुभवों के आधार पर है, अर्थात यह एक सीमित अध्ययन है। इसमें भारत और भारत के मूल निवासी के बारे में पूर्वाग्रहों का एक संग्रह भी है, जो तत्कालीन कार्यरत ब्रिटिशर्स के अनुभवों पर आधारित है। क्योंकि 'मिल' कभी भारत आये ही नहीं। फिर जेम्स की यह पुस्तक दो कारणों से प्रभावी है– प्रथम, जेम्स, राजनीतिक और आर्थिक विचारों वाले स्कूल से दीक्षित थे।

दूसरा यह उपयोगितावादी, जेम्स बाथम से प्रेरित थे। यह पुस्तक पूर्ण रूप से मस्तिष्क में चल रही आकृतियों को प्रतिबिंबित करती है जिसका एक पहलू यूरोप में आधिपत्य के लिए एंग्लो–फ्रांसीसी युद्धों में ब्रिटेन की जीत और ब्रिटेन की बढ़ती औद्योगिक समृद्धि के मद्देनजर विकसित हुआ था। जेम्स मिल ने आत्मविश्वास से भरे साम्राज्यवाद का संदेश वैसे ही प्रसारित किया जैसे भारतीय नेता सुनना चाहते थे।

इतिहास के प्रतिद्वंद्वी कार्यों को निर्मित करने वाले 'माउटस्टुअर्ट एलफिस्टन', जो एक सिविल इंजीनियर थे। उनका अधिकांश जीवन भारत में व्यतीत हुआ था। वे मिल से कहीं बेहतर जानकार थे। उनका लेखन 'हिंदू और मुस्लिम' भारत का इतिहास, भारतीय विश्वविद्यालयों में एक मानक बन गया। एलफिस्टन ने 'पूर्व में ब्रिटिश शक्ति'

नामक एक पुस्तक लिखी, जिसमें हेस्टिंग्ज के प्रशासन तक ब्रिटिश शासन के विस्तार और समेकन का काफी विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है। 1860 में जे. टैलवॉय व्हीलर द्वारा इतिहास को कुशलता से निर्मित किया गया। एलफिस्टन द्वारा लिखे गए व्यापक पत्र जो 'History of India' में, 1867 से 1876 के मध्य प्रकाशित किया गया और इसके पश्चात 1886 ई. में 'Survey of India Under British Rule' में प्रकाशित हुआ। 19वीं शताब्दी के मध्य एक महान लेखक ने भारत पर लिखा। वे थे लॉर्ड मैकाले, जिन्होंने राबर्ट क्लाइव के विषय में 'Edinburgh Review' में प्रकाशित किया। मैकाले की साहित्यिक शैली ने भारतीय इतिहास को पठनीय बना दिया। हालांकि उनके निबंध ब्रिटिश भारत के 'मूल' हिस्से के बारे में खराब जानकारी और खराब निर्णय के कारण त्रुटिपूर्ण थे।

यह भी उल्लेखनीय है कि ब्रिटिश भारत में इतिहास लेखन में निहित औपनिवेशिक विचारधारा के बावजूद भारत के प्रारंभिक ब्रिटिश इतिहासकारों ने कुछ सकारात्मक योगदान दिया। इसके अतिरिक्त औपनिवेशिक इतिहासकारों ने आधुनिक यूरोप में विकसित पद्धति के अनुसार इतिहास लेखन की नींव रखी। उनका योगदान 'Asiatic Society and Archaeological Survey of India' जैसी संस्थाओं में पेशेवर इतिहासकारों के रूप में भारतीय इतिहासकारों को अकादमिक अनुसंधान के अवसर प्रदान किए। औपनिवेशिक तत्वावधान में पढ़ाया जाने वाला इतिहास साम्राज्यवादी दृष्टिकोण के पक्ष पर आधारित था। पाठ्य पुस्तकें औपनिवेशिक इतिहास लेखन स्कूल द्वारा तैयार की गई, फिर भी वह सकारात्मक थी। भारतीय छात्रों ने इंग्लैंड और यूरोप के इतिहास को पढ़ा और इस तरह शिक्षित भारतीयों के दिमाग में स्वतंत्रता, लोकतंत्र, समानता के विचारों को यूरोप के इतिहास ने उदाहरण के रूप में प्रत्यारोपित किया। यह इतिहास का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। जिसे 19वीं शताब्दी के ब्रिटिश सिविल सर्वेन्ट इतिहासकारों द्वारा भारतीय छात्रों को पुस्तक पढ़ने के लिए बनाया गया था, जिसके खिलाफ एक आलोचनात्मक प्रतिक्रिया सामने आई। भारतीय विश्वविद्यालय के पहले स्नातक बंकिम चंद्र चटर्जी ने बार–बार ब्रिटिश व्याख्या की निंदा की और सवाल उठाया कि 'हम अपना इतिहास कब लिखेंगे?' रविंद्रनाथ टैगोर ने भी स्पष्ट रूप से कहा, "अन्य देशों में लोग खुद ही अपना इतिहास लिखते हैं, जबकि भारत का इतिहास अंग्रेजों ने हमें उपहार में दिया है। दिए गए इस इतिहास में हम अपनी मातृभूमि को देखने में असमर्थ हैं।"

यह प्रतिक्रिया आमतौर पर भारत में बुद्धिजीवियों की थी और इसने इतिहास के नए ढांचे की खोज के लिए कुछ बेहतरीन राष्ट्रवादी लोगों का नेतृत्व किया। इस प्रकार ब्रिटिश औपनिवेशिक इतिहास लेखन के अधिपत्य को समाप्त करते हुए भारतीय इतिहास की एक राष्ट्रवादी व्याख्या विकसित हुई।

अध्ययन की सीमाएं

उपनिवेशवाद में इतिहास लेखन का कार्य हुआ तो था किंतु वह ब्रिटिश दृष्टिकोण से सकारात्मक था।

इस अध्ययन हेतु भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, विधान परिषदों की कार्यवाही तथा प्रमुख राष्ट्रवादियों के लेखों पर जोर दिया गया है। इसके साथ ही राष्ट्रवादी समाचार पत्रों की उल्लेखनीय भूमिका थी क्योंकि उस समय संपादक व्यावसायिक दृष्टि से नहीं बल्कि छिपे रह कर राष्ट्रवादी पत्र निकालते थे। इस अध्ययन लेखन हेतु तत्कालीन

प्रकाशित राष्ट्रवादी पत्र–पत्रिकाओं जैसे– 'मराठा', 'हिन्दु', 'अमृत बाजार पत्रिका' के अध्ययन का सार भी सम्मिलित करने का प्रयास किया है। विभिन्न प्रांतों के प्रकाशित लेखों, पत्रों, डायरियों के अंश का अध्ययन भी शामिल है।

कुछ ऐसी भी समाचार पत्र–पत्रिकाएं थीं, जो बाद में अपने राष्ट्रीय मौलिकता को छोड़ कर विपरीत दिशा में खड़ी हो गई थी, अतः उनमें समावेशित तथ्यों का प्रयोग करना उचित नहीं होगा। इस प्रकार कुछ तथ्यों का अभाव तो रहा ही है, किंतु फिर भी ऐसे विद्वानों की कुछ प्रमुख पुस्तकें उपलब्ध हैं, जिनकी जानकारी के आधार पर यह पुस्तक लिखना संभव हुआ है। यह पुस्तक मुख्य रूप से गौण स्रोतों पर ही आधारित है।

यह ज्ञातव्य है कि ब्रिटिश काल में स्वतंत्र विचारों की अभिव्यक्ति कानूनी रूप से बंद थी, किंतु फिर भी पाश्चात्य शिक्षा अर्जित कर चुके भारतीय विद्वानों जैसे– दादा भाई नौरोजी, रमेश चंद्र दत्त ने तत्कालीन भारतीय आर्थिक स्थितियों का उल्लेख किया है और आज वह स्रोत के रूप में हमारे पास उपलब्ध है। भारत से 'धन की निकासी' के विषय में सर्वप्रथम 'दादा भाई नौरोजी' ने ही प्रकाश डाला। बाद में कई विदेशी लेखकों द्वारा उपनिवेशवाद व पूंजीवाद की निंदा की गई। आंदोलन की यथार्थ स्थिति को समझने के लिए राजनीतिक व बौद्धिक साधनों का अध्ययन जितना आवश्यक है उतना ही आंदोलन की प्रकृति को जन्म देने वाली सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति व स्रोतों, शक्तियों का अध्ययन भी आवश्यक है।

यदि विस्तार में अध्ययन की सीमाओं की बात की जाए तो कुछ ऐसे दस्तावेज जो पूरी तरह से सरकारी हैं व गोपनीय हैं जो केवल डिवीजनल कमीशन या इससे ऊपर के अधिकारियों को उपलब्ध होते थे। इसी कारण कुछ रिपोर्ट्स इत्यादि प्राप्त नहीं हो सके। इसी परिप्रेक्ष्य में कुछ प्राथमिक स्रोत जो विदेशों की लाइब्रेरी में सुरक्षित है जो Online थे उपलब्ध नहीं हो पाए हैं।

East India Company, (India Office Records from British Library, 1599-1947) इसमें भारत के व्यापारिक मार्गों, व्यापारिक सामान, जो दक्षिणी पूर्वी एशिया व पश्चिमी देशों में भेजा जाता था। इसके अतिरिक्त राजनीतिक, आर्थिक, सेनाओं की महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। बम्बई व मद्रास प्रेसीडेंसी के साथ ब्रिटिश सरकार द्वारा किए गए पत्र–व्यवहार की जानकारी इसमें उपलब्ध है। India Raj & Empire (Source from the National Liberary of Scotland) में 1615 में ईस्ट इंडिया की स्थापना से लेकर दक्षिण एशिया के इतिहास एवं 1947 में भारत की आजादी, पाकिस्तान विभाजन का इतिहास उपलब्ध है। ये स्रोत डायरी, जनरल्स, कार्यालयी, व्यक्तिगत पेपर्स, कुछ चित्र पर आधारित हैं। Area Studies : India (Research Source) इसमें से कुछ डायरी और पत्र हैं, जिनका वर्णन आंखों देखा किया गया है, इसके 186 डायरी हैं जो 1712 से 1925 तक के भारतीय जीवन का उल्लेख करती हैं। डायरी के 800 पृष्ठ हैं, जो तत्कालीन ब्रिटिश साम्राज्य का प्रसार तथा प्रभाव का वर्णन करते हैं। ये समस्त स्रोत विदेशी पुस्तकालयों में उपलब्ध हैं।

1.2.3 ब्रिटिश भारत के आर्थिक इतिहास के स्रोत

इतिहास शब्द की उत्पत्ति संस्कृत व्याकरण विद्वानों के अनुसार इति + ह + आस– इन तीन शब्दों के रूप में स्वीकार की जाती है जिसका अर्थ इस प्रकार से है– निश्चित रूप से ऐसा ही हुआ था। इतिहास शब्द का प्रयोग हमें अनेक प्राचीन ग्रंथों

में भी मिलता है। इस शब्द का उल्लेख अथर्ववेद में भी मिलता है। आचार्य दुर्ग ने इस विषय में लिखा है कि "इतिहैवमासीदति यत्कथ्यते तत् इतिहासफ्र (निरुक्त भाष्य वृत्ति रचना) अर्थात यह निश्चित रूप से इस प्रकार ही हुआ था– यही इतिहास है। इसी प्रकार से हम देखते हैं कि प्राचीन भारतीय ग्रंथों, वेदों, पुराणों में भी इतिहास शब्द का प्रयोग हुआ है।

अंग्रेजी में इतिहास को हिस्ट्री (History) कहते हैं, जो कि यूनानी संज्ञा लोरोप्ला से ग्रहण किया गया है। जिसका अर्थ होता है सीखना। कुछ विद्वानों के अनुसार इतिहास के लिए जर्मन शब्द 'GESCHICHTE' है और इसका अर्थ है 'घटित होना'। परंतु इसमें इतिहास को दोहराया नहीं जा सकता। 'हिस्ट्री' शब्द की उत्पत्ति यूनानी शब्द 'हिस्टोरिया' से मानी जाती है। जिसका अर्थ होता है जानना अथवा ज्ञात होना। यूनानी भाषा में इतिहासकार को 'हिस्तोर' कहा जाता है। इस समय में इतिहासकार उसे कहते थे जो वाद–विवाद का निर्णय करताथा, तथा जिसे विषय की पूर्णतया जानकारी अथवा अच्छी तरह समझ होती है।

> हिस्ट्री (History) शब्द का इतिहास के लिए सर्वप्रथम प्रयोग 'हेरोडोटस' जो कि यूनान के निवासी थे, ने किया था। उनका जन्म 480 ई.पू. एशिया माइनर के हिलिकारनेसर नामक स्थान पर हुआ था। हेरोडोटस को इतिहास का जनक कहा जाता है। उनका अभिप्राय सर्वेक्षण एवं अनुसंधान से था। उन्होंने हिस्ट्री (History) शब्द से ही इतिहास के लिए आधारशिला का निर्माण किया था।

इतिहास की परिभाषा

इतिहास मात्र अतीत का अध्ययन नहीं है। इतिहास वह जो हमें बीती घटनाओं की जानकारी क्रमानुसार अवधि अथवा कहीं न कहीं सत्य पर आधारित है। इतिहास का अर्थ है वैज्ञानिक पूर्ण अध्ययन। इतिहास सदैव काल, अवधि, समय, स्थान पर आधारित होता है तथा घटनाओं के ठोस वैज्ञानिक तथ्य भी होने चाहिए।

रेनियर के अनुसार, "इतिहास एक कहानी है।"

जी.ए. ट्रेवेलियन के मतानुसार, "इतिहास कथा है"।

हेरोडोटस ने जो इतिहास लिखा उसे कथात्मक इतिहास लिखा जाता है। शब्दकोश के आधार पर भी यही अर्थ निकलता है। थ्यूसीडाइटस के द्वारा जो इतिहास लिखा गया है उसे प्रबोधक इतिहास की संज्ञा दी जाती है। उन्होंने अपने इतिहास लेखन में तथ्यों को अधिक महत्व दिया।

गार्डनर के शब्दों में, "इतिहासकार अतीत के तथ्यों पर उस काल की घटनाओं का एक परिकल्पनात्मक चित्र प्रस्तुत करता है, जिसमें वर्णित घटनाएं अर्थपूर्ण होती हैं– इसी को इतिहास का अर्थ कहते हैं।"

इतिहास हमें साक्ष्य प्रदान करती है। उसी आधार पर हम घटनाओं को शब्दों में पिरो कर इतिहास की गणना की जाती है। विको ने 'द न्यू साइंस' नामक ऐतिहासिक ग्रंथ की रचना की। उनका कहना था कि "इतिहास का ज्ञान प्रकृति के ज्ञान से भिन्न है। प्रकृति ईश्वर की रचना है जबकि इतिहास की रचना मनुष्य करता है। इसलिए व्यक्ति प्रकृति की अपेक्षा इतिहास को अधिक स्पष्ट रूप से जान सकता है।" इन्हीं घटनाओं को पूर्णरूपेण लिखना इतिहासकार का कार्य है। इतिहासकार,

इतिहास को अर्थ प्रदान करता है। अतः यह इतिहासकार का ही दायित्व होता है कि वह सकारात्मक रुख अपनाकर सकारात्मक इतिहास की रचना कर, सकारात्मक अर्थ निकले। इस प्रकार से अतीत की रचना इतिहास के रूप में इतिहासकार ही करता है।

भारत में इतिहास लेखन

अगर हम भारतीय इतिहास की बात करते हैं तो भारत के इतिहास को हम अध्ययन की दृष्टि से तीन भागों विभाजित करते हैं– (1) प्राचीन भारत, (2) मध्यकालीन भारत का इतिहास, (3) आधुनिक भारत का इतिहास।

संपूर्ण इतिहास साक्ष्यों पर निर्भर करता है। यह सत्य है कि भारतीयों ने इतिहास लेखन की दृष्टि से कभी भी इतिहास को संजोया नहीं। प्राचीनकालीन पांडुलिपियां, सिक्के, इमारतें इत्यादि इतिहास को दर्शाते हैं। कहीं–कहीं पर तिथियों की अस्पष्टता के कारण हम सत्य जानने से चूक जाते हैं। यह भी सत्य है कि भारत के इतिहास को आधुनिक रूप से लिखने की परंपरा देश में ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन के साथ प्रारंभ हुआ। कंपनी के ही शासनकाल में देश के राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक, शैक्षिक आर्थिक आदि क्षेत्रों में पाश्चात्य ढंग की नई–नई खोजें, व्याख्याएं और प्रक्रियाएं चालू हो गई थीं। इस दिशा में सर विलियम जोन्स, कोलब्रुक, जॉर्ज टर्नर, जैक्स प्रिंसेप आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इस दिशा में सबसे महत्वपूर्ण कार्य कलकत्ता उच्च न्यायालय में कार्यरत तत्तकालीन न्यायाधीस सर विलियम जोन्स ने किया था। उन्होंने भारत के इतिहास को आधुनिक रूप में लिखने के लिए नए ढंग से शोधकार्य करने का सिलसिला शुरू किया। इस कार्य में उन्हें कंपनी के तत्कालीन गर्वनर जनरल वारेन हेस्टिंग्ज का सहयोग भी प्राप्त हुआ।

अंग्रेजों द्वारा लिखे गए इतिहास में भारत के बहुत से ग्रंथों को अनुपयुक्त समझ कर अप्रमाणिक करार दिया गया। अंग्रेजों की दृष्टि से भारतीय हर प्रकार से हीन थे किंतु सत्य यह है कि विदेशी आक्रांताओं इत्यादि के कारण भारतीयों का सामाजिक व राजनैतिक अस्तित्व धूमिल अवश्य हो गया किंतु धरोहर कभी समाप्त नहीं होती, अतः वह बाद में उजागर हो गई। आधुनिक भारत का संपूर्ण इतिहास हमें लिखित रूप में मिलता है।

अंग्रेजों का भारत में प्रवेश एक व्यापारियों के दल के रूप में हुआ था और अंतिम समय तक वे राजनीतिक सत्ता से अपना व्यापारिक हित करते रहे। ब्रिटिशों से पूर्व, मध्यकाल में भारत की अर्थव्यवस्था इतनी दयनीय नहीं थी, जितनी ब्रिटिश शासन की स्थापना के बाद हुई। मुगलों के पतन के साथ अंग्रेजों ने भारत में अपनी सत्ता स्थापित करने की मुहिम तेज कर दी। व्यापारिक हितों की आड़ में उन्होंने शासकों की कमजोरियों को जान कर धीरे–धीरे राजनीतिक हस्तक्षेप के द्वारा सत्ता स्थापित की। भारतीय प्रशासन में उनकी रुचि का एकमात्र कारण इंग्लैंड के व्यापारिक हितों की सुरक्षा करना था। इंग्लैंड की क्रांति ने भारत की टूटी अर्थव्यवस्था को पूरी तरह ध्वस्त कर दिया। भारत की तत्कालीन स्थिति को समझने के लिए हम कुछ स्रोतों पर निर्भर हैं जिनका वर्णन निम्नलिखित हैं–

ब्रिटिशकालीन इतिहास लेखन के स्रोत

आधुनिककाल के समस्त स्रोत/दस्तावेज मुख्यतः अभिलेखागार में संरक्षित है। पुरालेख विशेष महत्व के होते हैं, जिनसे राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक स्थितियों का पता

टिप्पणी

चलता है। इन अभिलेखों से किसी प्रकार की कोई छेड़–छाड़ की संभावना संभव नहीं है। कुछ विदेशी अभिलेखीय स्रोत इस प्रकार हैं–

1. फ्रांसीसियों के भारत में आगमन से संबंधित जानकारी 'आर्काइव्स ऑफ पेरिस' में है।
2. डच ईस्ट इंडिया कंपनी के बड़ी मात्रा में अभिलेख रिकसर चीफ हेग में उपलब्ध है। इन अभिलेखों को 17वीं व 18वीं शताब्दी के भारतीय आर्थिक इतिहास के प्रामाणिक स्रोत के तौर पर भी प्रयोग किए जाते हैं।
3. भारत में 1777 ई. के पश्चात डच उपनिवेशों से संबंधित डैनिश क्राउन और डच ईस्ट इंडिया कंपनी के रिगसेर केविट, कोपेनहेगन में उपलब्ध अभिलेख से गैकोम्बर और सेरापुर के बंदोबस्त के बारे में जानकारी प्राप्त होती है।
4. भारतीयों द्वारा विदेशों में चलाई गई राष्ट्रवादी गतिविधियों के इतिहास के सृजन के लिए, विभिन्न देशों के विदेशी मामलों संबंधी कार्यालय के पुरालेख बेशकमती हैं। जैसे– यूरोप में भारतीय क्रांतिकारियों पर जानकारी अमेरिका के डिपार्टमेंट और जस्टिस डिर्पाटमेंट के पुरालेखों में उपलब्ध है।

आधुनिक भारतीय इतिहास 1947 ई. के पूर्व के बेहद महत्वपूर्ण और समृद्ध पुरालेख स्रोत पाकिस्तान के लाहौर के ऑफिस रिकॉर्ड में है। 1994 में पंजाब सरकार के अभिलेखों के अतिरिक्त 1804–1857 ई. तक के दिल्ली रेजीडेंसी और विभिन्न राजनीतिक अभिकरणों के अभिलेख शामिल हैं।

(1) केंद्रीय सरकारी अभिलेख– 1901 ई. में राजनैतिक और सांप्रदायिक मुद्दों से निपटने के लिए घरेलू राजनीतिक रिकॉर्ड की एक नई शृंखला शुरू की गई। 1920 ई. से 1937 ई. तक संवैधानिक विकास के एक विश्लेषणात्मक अध्ययन के लिए सुधार कार्यालय के रिकॉर्ड बहुत उपयोगी हैं। केंद्रीय अभिलेखागार जो वर्तमान समय में नई दिल्ली में स्थित है, यहां पर ब्रिटिशकालीन समस्त कागजी दस्तावेज को रील/फिल्म रिकॉर्ड करके संरक्षित की जाती है। यहां पर तत्कालीन समस्त दस्तावेज उपलब्ध हैं।

(2) राजकीय अभिलेखागार– पूर्व ब्रिटिश भारत में सार्वजनिक अभिलेखागार का अन्य महत्वपूर्ण संग्रह पेशवा दफ्तर है, जो पूणे में स्थित है। यह पेशवाओं के पतन से पहले लगभग एक सदी की अवधि के लिए सबसे मूल्यवान एकमात्र स्रोत है।

राजस्थान की रियासत का इतिहास, जयपुर, बीकानेर, जोधपुर, उदयपुर– इन राज्यों के अभिलेखागार अब राजस्थान राज्य में स्थित है। जम्मू और कश्मीर में 1846 से डोगरा शासन के इतिहास में बीकानेर के अभिलेखागार मूल्यवान है।

रियासतों के अन्य महत्वपूर्ण अभिलेख मध्य प्रदेश के ग्वालियर, इंदौर, रीवा, केरल में त्रावनकोर, कोचीन, कर्नाटक में मैसूर, महाराष्ट्र में कोल्हापुर में है।

(3) तीन सूबों के अभिलेखागार– प्लासी में ब्रिटिश जीत के बाद बंगाल प्रेसीडेंसी के अभिलेखागार में पूर्ण या कुछ कम शृंखला मौजूद है जो आंशिक रूप से भारत के राष्ट्रीय अभिलेखागार में, आंशिक रूप से बंगाल के लेखागार में उपलब्ध है।

मद्रास प्रेसीडेंसी में 1670 ई. से और गर्वनर और काउंसिल ऑफ फोट सेंट जॉर्ज के रिकार्ड शामिल हैं। महाराष्ट्र सचिवालय रिकॉर्ड कार्यालय मुम्बंई में बॉम्बे प्रेसीडेंसी हाउस के अभिलेखागार, पश्चिम भारत के इतिहास का अध्ययन करने में बेहद उपयोगी

है। महाराष्ट्र, गुजरात, सिंध और कर्नाटक पूर्ववर्ती बॉम्बे प्रेसीडेंसी का जिला है, जो 1956 में मैसूर में समिमलित है।

1700 ई. से 1900 ई. तक के पुर्तगालियों के रिकॉर्ड गोवा में संरक्षित है। कोचीन और मालाबार के डच रिकॉर्ड, मद्रास रिकॉर्ड कार्यालय में और चिनसुरा का महत्वपूर्ण रिकॉर्ड पं. बंगाल में संरक्षित है।

1845 ई. में जब डेनिश ने ट्रेकबार, सेरामपोर को ईस्ट इंडीज को बेच दिया था, तब डेनिश के अभिलेख कोपेनहेगन में स्थानांतरित कर दिए गए थे। शेष डेनिस रिकॉर्ड अब मद्रास ऑफिस में रखे गए हैं।

(4) न्यायिक रिकॉर्ड– 1757–73 के प्लासी युद्ध के पहले के रिकॉर्ड कलकत्ता हाई कोर्ट के रिकॉर्ड रूम में रखे हैं, साथ ही 1774–1861 तक के रिकॉर्ड बंगाल के सुप्रीम कोर्ट में रखे हैं।

अन्य

- कोपेनहेगन में उपलब्ध अभिलेख त्रैकोम्बर और सेरापुर के बंदोबस्त के बारे में जानकारी का प्राथमिक स्रोत है, इसी प्रकार 'नेशनल आर्काइब्स ऑफ पुर्तगाल, लिस्बन में भारत में पुर्तगालियों से संबंधित मौलिक पत्रों का संग्रह है।
- भारतीयों द्वारा विदेशों में चलाई गई राष्ट्रवादी गतिविधियों के इतिहास के लिए विभिन्न देशों के विदेश मामलों संबंधी कार्यालय के पुरालेख बेशकीमती हैं।
- यूरोप में भारतीय क्रांतिकारियों के बारे में उपयोगी सूचना या जानकारी जर्मन फॉरेन ऑफिस के अभिलेख में है और संयुक्त राज्य अमेरिका में भारतीय क्रांतिकारियों पर जानकारी अमेरिका के स्टेट डिपार्टमेंट और जस्टिस डिपार्टमेंट के पुरालेखों में उपलब्ध है।
- आधुनिक भारतीय इतिहास के 1947 ई. से पूर्व के बेहद महत्वपूर्ण और समृद्ध स्रोत पाकिस्तान में भी उपलब्ध है। सबसे अधिक महत्वपूर्ण संग्रह लाहौर के वेस्ट पाकिस्तान रिकॉर्ड ऑफिस में है।
- 1894 ई. से पंजाब सरकार के अभिलेखों के अतिरिक्त 1804–1857 ई. के दिल्ली रेजीडेंसी और विभिन्न राजनीतिक अभिकरणों के अभिलेख शामिल हैं।

जीवनी साहित्य, संस्मरण एवं यात्रा वृत्तांत

यात्री, व्यापारी, मिशनरी एवं सिविल सर्वेंट जो इन शताब्दियों के दौरान भारत आए थे उन्होंने देश के विभिन्न हिस्सों पर अपने अनुभवों और प्रभावों की छाप छोड़ी इनके द्वारा लिखे गए साहित्य भारत के लिए बहुत उपयोगी हैं।

सर्वप्रथम मिशनरीज, जिन्होंने स्थानीय निवासियों में सुसमाचार का प्रचार करने के लिए भारत में अधिकाधिक मिशनरीज भेजने के लिए तथा अपने संबद्ध साजों को प्रोत्साहित करने हेतु लेखन किया।

ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के कुछ कर्मचारियों के यात्रावृत्तांत भी बेहद मूल्यवान हैं–

- **जॉज फोस्टर**– 1783 ई. बंगाल, लखनऊ, श्रीनगर, नादौन, कश्मीर की यात्रा की और काबुल, कैस्पियन सागर एवं सेंटपीट्सबर्ग होते हुए इंग्लैंड वापस गए। इनके वृत्तांतों में उत्तर भारत की राजनीतिक दशाओं के बारे में जानकारी प्रदान की।

टिप्पणी

- **बेजामिन हेन**– 1814 ई. में 'सेवरल टूअर्स थ्रू वेरियस पार्ट्स ऑफ द पेनिनसुला' में उस समय के प्रायद्वीप के उत्पादों पर बेहतरीन जानकारी प्रदान की।
- 1831 ई. में प्रकाशित पुस्तक में 'जेम्स बर्न्स' ने भुज की चिकित्सकीय स्थलाकृति पर टिप्पणी और 'विजिट टू द कोर ऑफ सिन्ध' के लेखन ने कच्छ के इतिहास पर महत्वपूर्ण जानकारी दी है।
- **एलेक्जेंडर बर्न्स** का वृत्तांत 'ट्रेवल्स इंटू बोखारा' जो 1834 में तीन वॉल्यूम में प्रकाशित हुआ था, उसकी भारत से काबुत तक की यात्रा की व्याख्या है। इससे यह ज्ञात होता है कि ईस्ट इंडिया कंपनी के लिए सिंधु क्षेत्र किस प्रकार लाभदायक होगा।
- **सी.जे.सी. डेविडसन** की 1843 में प्रकाशित 'डायरी ऑफ द ट्रेवल्स एंड एडवेंचर्स इन अवर इंडिया; भी बेहद उपयोगी है।
- **जॉन बटलर** द्वारा असम प्रांत पर लिखा गया वृत्तांत 'ट्रेवल्स एंड एडवेंचर्स' में राज्य की पहाड़ी जनजातियों की प्रथाओं, आदतों एवं समाज का वर्णन है।

समाचार पत्र–पत्रिकाएं

- 1776 ई. में विलियम बोल्ट ने कंपनी के निजी व्यापार के बोर्ड ऑफ डायरेक्टर से इस्तीफा दे दिया और एक अखबार प्रकाशित करने के अपने इरादे की घोषणा की।
- 1780 ई. में जेम्स ऑगस्टस हिक्की ने भारत में पहला समाचार पत्र 'द बंगाल गजट' प्रकाशित किया। सरकारी अधिकारियों की आलोचना के कारण हिक्की की प्रेस को दो साल के भीतर ही जब्त कर लिया गया।
- इसके बाद कई प्रकाशन दिखाई दिए, जैसे– कलकत्ता गजेट, मद्रास कूरियर और बॉम्बे हेराल्ड। शुरुआती दौर के समाचार पत्रों और पत्रिकाओं का उद्देश्य मुख्य रूप से यूरोपीय और एंग्लो इंडियन के बौद्धिक मनोरंजन को पूरा करना था।
- भारत में समाचार पत्र प्रकाशित करने का प्रथम प्रयास अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी के असंतुष्ट कर्मचारियों द्वारा किया गया जो निजी व्यापार में कुरीतियों को उद्घाटित करना चाहते थे। बंगाल गजट के बाद–

  द कलकत्ता गजट (1784), द बंगाल जर्नल (1785), ऑरियन्टल मैग्जीन ऑफ कलकत्ता (1785), कलकत्ता क्रॉनिकल (1786), द मद्रास कूरिअर (1788), द बाम्बे हेराल्ड (1789) प्रकाशित हुए।

विदेशी प्रकाशन

- श्याम जी कृष्ण वर्मा द्वारा लंदन में इंजीनियर सोयिोलॉजिस्ट।
- मैडम भीखाजी कामा द्वारा पेरिस में वंदे मारतम्।
- वीरेंद्र नाथ चट्टोपाध्याय द्वारा बर्लिन में तलवार।
- सेन फ्रांसिस्को से गदर पत्र, गदर पार्टी के मुख्य पत्र के तौर पर प्रकाशित किया।
- बैंकुवर से तारकनाथ दास का 'हिन्दुस्तान' प्रकाशित हुआ।

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से कई प्रभावशाली समाचार पत्र निडर पत्रकारों के नेतृत्व में सामने आए।

जी. सुब्रमण्यम	–	द हिन्दु, स्वदेश मित्र
बाल गंगाधर तिलक	–	केसरी, मराठा
सुरेंद्र नाथ बैनर्जी	–	बंगाली
शिशिर कुमार घोष, मोती लाल घोष	–	अमृत बाजार पत्रिका
गोपाल कृष्ण गोखले	–	सुधारक
एन.एन. सेन	–	इंडियन मिरर
दादा भाई नौरोजी	–	वॉयस ऑफ इंडिया

1870 ई. के दशक से इन अखबारों (अंग्रेजी एवं देशी भाषाओं) ने भारतीय औपनिवेशिक काल से वर्तमान समय तक जीवन के लगभग सभी पहलुओं को चित्रित किया है। 1920 के अखबारों में गांधी के नेतृत्व में स्वतंत्रता हेतु राष्ट्रवादी संघर्ष के दौरान प्रमुख घटनाओं को सूक्ष्म तरीके से विश्लेषित एवं शामिल किया।

किंतु इनको निष्पक्ष तौर पर नहीं देखा जा सकता, क्योंकि इन्हें ऐसे लोगों द्वारा प्रकाशित किया गया जिनके अपने विचार एवं वैश्विक मत थे।

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के स्वतंत्रता के संदेश को जनसाधारण तक पहुंचाने में इन समाचार पत्रों की महत्वपूर्ण भूमिका थी। ये समाचार पत्र तत्युगीन साहित्य व संस्कृति की अभिव्यक्ति के साथ–साथ राजनीतिक स्थिति की जानकारी देते हैं। भारतीय पत्रकारिता का आरंभ 'हिक्कीज बंगाल गजट' से माना जाता है, जिसको समाप्त तो कर दिया गया था, किंतु इसके बाद अन्य बहुत से समाचार पत्र प्रकाशित किए गए। हिक्कीज गजट की कुछ प्रतियां आज भी राष्ट्रीय पुस्तकालय कलकत्ता में सुरक्षित हैं।

यदि अन्य समाचार पत्रों की बात की जाए तो 1821 ई. में 'संवाद कौमुदी', 1820 में 'मिरातुल अखबार', नवजागरण के अग्रदूत राजराम मोहन राय के प्रयासों में से है। 30 मई, 1826 ई. युगल किशोर शुक्ल द्वारा हिंदी का पहला समाचार पत्र 'उदंड मार्तण्ड' कलकत्ता से प्रकाशित किया गया था। हिंदी भाषा का पहला दैनिक समाचार पत्र 'समाचार सुधा वर्षण' था। इसका प्रकाशन जून 1854 ई. में श्यामसुंदर सेन ने कलकत्ता से प्रकाशित किया।

1857 की क्रांति के दौरान 'दूरबीन', 'सुल्तान–उल–अखबार', 'समाचार सुधा वर्षण', 'पयामे आजाद' एवं 'मुम्बई समाचार' ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ये समाचार पत्र क्रांतिकारियों की हैसला अफजाई के लिए महत्वपूर्ण थे। 2 जनवरी, 1881 को आंग्ल भाषा में मराठी और 4 जनवरी, 1881 में मराठी भाषा में 'केसरी' पत्र बाल गंगाधर तिलक निकाला। बंगाल की क्रांतिकारी अनुशीलन पार्टी ने 1906 ई. में 'युगान्तर' पत्र निकाला। पं. मदन मोहन मालवीय ने 1907 में हिंदी के साप्ताहिक 'अभ्युदय' प्रकाशित किया।

इस प्रकार राष्ट्रीय स्तर के समाचार पत्रों की फाइलें राष्ट्रीय पुस्तकालय कलकत्ता एवं नेहरू मेमोरियल म्यूजियम एवं पुस्तकालय नई दिल्ली में सुरक्षित हैं। एक ही समय में विभिन्न स्थानों से निकलने वाले समाचार पत्रों द्वारा घटना की पुष्टि भी आसानी से की जाती है।

समाचार पत्रों की भांति ही पत्रिकाओं से भी आधुनिक भारतीय इतिहास के निर्माण में मदद मिलती है। ये पत्रिकाएं मासिक, त्रैमासिक, अर्धवार्षिक अथवा वार्षिक होती थीं। 1900 ई. में काशी नागरी प्रचारिणी सभा बनारस में मासिक पत्रिका 'सरस्वती' का प्रकाशन हुआ। राहुल सांकृत्यायन का एक आलेख 'आजमगढ़ की पुरातात्विक यात्रा' है, इस लेख में उत्तर प्रदेश आजमगढ़ जिले का समस्त इतिहास प्राप्त होता है। सुल्तानपुर बिहार से निकलने वाली पत्रिका 'गंगा' का पुरातत्व विशेषांक जनवरी में प्रकाशित हुआ। यह लेख आज भी इतिहास लेखन की महत्वपूर्ण सामग्री प्रदान करता है। धर्मयुग, दिनमान एवं मध्य प्रदेश संदेश आदि ऐसी पत्रिकाएं हैं जिनके लेख आज भी तत्युगीन इतिहास की महत्वपूर्ण जानकारी प्रदान करते हैं। वर्तमान में भी इतिहास विषय की कई शोध पत्रिकाएं प्रकाशित होती हैं, जिनसे इतिहास के लेखन में मदद मिलती है। 'द क्वार्टरली रिव्यू हिस्टारिकल स्टडीज' उज्जैन की 'शोध समवेद', जयपुर की 'शोधक, अजमेर की 'लिनासिआन' इत्यादि शोध पत्रिकाएं आज इतिहास के निर्माण हेतु बहुमूल्य हैं।

मौखिक प्रमाण– मौखिक इतिहास अलिखित स्रोतों की मदद से इतिहास के सृजन को संदर्भित करता है। खान अब्दुल गफ्फार खान, आचार्य जे.बी. कृपलानी, रेणुका राय, कमला देवी चट्टोपाध्याय, सुशीला नायर, ई.एम.एस. नम्बूदरीपाद, एच.वी. कामत आदि के मौखिक प्रमाण रिकॉर्ड किए गए हैं। ये मौखिक रिकॉर्ड आधुनिक भारत के इतिहास से जुड़े महान व्यक्तियों या आंदोलनों के अध्ययन के लिए बहुमूल्य हैं।

नेहरू मेमोरियल एंड लाइब्रेरी में एक मौखिक इतिहास विभाग है। इस विभाग में भारत के कई स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों के साक्षात्कार के कैसेट रखे हुए हैं, उन कैसेट्स से हम जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। राजस्थान के अभिलेखागार, बीकानेर में भी राजपूताना राज्यों के 250 स्वाधीनता संग्राम सेनानियों के इन संस्मरणों में कई महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य उभकर सामने आते हैं। चूंकि अभिलेखीय स्रोत मूक है वे बोल नहीं सकते परंतु इन स्वाधीनता सेनानियों से साक्षात्कार करते समय हम अपनी प्रत्येक प्रकार की जिज्ञासा का समाधान कर सकते हैं।

लेखक द्वारा एक साक्षात्कार लिया गया, जो झांसी निवासी श्री लक्ष्मीनारायण श्रीवास्तव द्वारा आंखों देखा हाल था, जिसमें भारत विभाजन के समय की जानकारी एकत्रित की गई, उन्होंने बताया, "1945 ई. में वे (लक्ष्मीनारायण) बरुआसागर में थे, उस समय वहां कांग्रेसी नेता जुलूस निकाल कर अंग्रेजी शासन को भारत से खदेड़ने के नारे लगाते थे और मुस्लिम लीग के नेता 'लेकर रहेंगे पाकिस्तान' के नारे लगाते थे और उस समय वे लोग बुंदेलखंड में चरखा चलाते थे और साथ ही सामूहिक रूप से यह बुंदेली गीत गाते–

"टूटे न चरखे का तार, चरखा चालू रहे।
महात्मा गांधी दूल्हा बने, दुल्हन बनी सरकार।।
सबरे कांग्रेसी बने बराती, नऊना बने थानेदार।
चरखा चालू रहे।
सबसे बाराती जेतन बैठे, पत्तल परोसे तहसीलदार।
महात्मा गांधी मड़वा तरे बैठे, दयाजे मांगे स्वराज।

चरखा चालू रहे।

लॉर्ड वेबल लगे मनावन, जीजा गोने में देहो स्वराज्य।

चरखा चालू रहे।"

इस प्रकार के वर्णन से स्पष्ट होता है कि मौखिक रिकॉर्ड इतिहास निर्माण के लिए महत्वपूर्ण स्रोत है, जिनसे हमें महत्वपूर्ण ओर रोचक जानकारी मिल सकती है।

आत्मकथाएं– आत्मकथाओं को इतिहास के महत्वपूर्ण स्रोतों में गिना जा सकता है लेकिन कई इतिहासकारों ने आत्मकथाओं को ऐतिहासिक स्रोतों के लिए प्रामाणिक नहीं माना है। किंतु फिर भी कुछ इतिहासकार आत्मकथाओं को इसलिए प्रमाणिक मानते हैं क्योंकि इनमें लेखक की अपनी भावनाओं के साथ ही देश और काल के संदर्भ भी देखने को मिलते हैं।

तत्कालीन समय के विभिन्न नेता समाज–सुधारक, क्रांतिकारी इत्यादि जेलों में रहते हुए डायरी लेखन का कार्य भी करते थे, जो आज के समय में तत्कालीन इतिहास की जानकारी के लिए उपयोगी है। ये आत्मकथाएं तत्कालीन दशाओं को दर्शाने में भी सहायक हैं। आत्मकथा देश और काल के संदर्भ में अनूठे प्रमाण हैं, जो आत्मकथा लेखक की भूमिका के बारे में भी बताते हैं। व्यक्तिगत पत्रों को जब आत्मकथा के साथ मिलाकर पढ़ा जाता है तो इतिहास के वास्तविक तथ्य उभरकर सामने आते हैं। आत्मकथा का लेखक चाहे कितना ही निष्पक्ष होने का दावा करे उसकी आत्मकथाओं में व्यक्तिगत रुचि एवं पूर्वाग्रहों का समावेश हो ही जाता है। यही कारण है कि आत्मकथा को जस का तस स्वीकार नहीं किया जा सकता है। अन्य श्रोतों की भांति आत्मकथा को भी सत्य की कसौटी पर कसना आवश्यक होता है।

आत्मकथा लेखकों में महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन का नाम उल्लेखनीय है। उनकी आत्मकथा 'मेरी जेल यात्रा', जो 5 भागों में विभाजित है, इसमें स्वाधीनता आंदोलन, 1939 में अम्बरी सत्याग्रह का नेतृत्व, असहयोग आंदोलन तथा महात्मा गांधी का वर्णन किया।

महात्मा गांधी की आत्मकथा 'एन ऑटोबायोग्राफी' अथवा 'द स्टोरी ऑफ एक्सपीरियन्स विथ द ट्रूथ'। इन आत्मकथाओं में गांधी जी अपने जीवन के सभी अनुभवों को उजागर किया है, जो बहुत हद तक उस स्थिति को दर्शाते हैं। जवाहरलाल नेहरू की आत्मकथा 'एन ऑटोबॉयोग्राफी', मौलाना अबुल कलाम आजाद की 'इंडिया विन्स फ्रीडम', सुभाष चंद्र बोस की 'द मिशन ऑफ लाइफ', एच.सी. तैयब की 'बदरूद्दीन तैयब जी : ए बायोग्राफी' इत्यादि महत्वपूर्ण आत्मकथाएं हैं। ये सभी व्यक्तित्व अपने आप में महान हैं, तथा जिन्होंने तत्कालीन परिस्थितियों को सामने से देखा और इसका वर्णन किया है। ये समस्त आत्मकथाएं भी आधुनिक भारतीय इतिहास को जानने में सहायक है।

इस प्रकार आधुनिक भारतीय इतिहास के श्रोतों के रूप में हमारे पास विशद सामग्री उपलब्ध है जो भारतीय इतिहास को जानने में सहायक है। आधुनिक भारत इतिहास से संबंधित दस्तावेज जैसे– व्यक्तिगत पत्र, डायरी, ऑफिस रिकॉर्ड इत्यादि केंद्रीय व राज्य संग्राहलयों में सुरक्षित है, और आवश्यकता पड़ने पर इन सामग्रियों का प्रयोग हम शोध कार्यों में प्रयोग कर सकते हैं। आधुनिक भारतीय इतिहास से जुड़े

टिप्पणी

अधिकांश दस्तावेज लिखित रूप में ही उपलब्ध हैं, जिन्हें विभिन्न संग्रहालयों में रखा गया है।

ब्रिटिशकालीन अर्थव्यवस्था व उसके स्रोत

मुगल साम्राज्य के पतन का लाभ उठाकर अंग्रेजों ने भारत में व्यापारिक एकाधिकार के साथ–साथ राजनीतिक प्रभुत्व की भी स्थापना कर ली और धीरे–धीरे अपनी साम्राज्यवादी लिप्सा में वृद्धि करके देश में अपने शासन की स्थापना कर ली। उन्होंने भारत में परंपरागत आर्थिक ढांचे को नष्ट कर दिया और इंग्लैंड के औद्योगिक एवं व्यापारिक विकास का मार्ग प्रशस्त किया। इससे अंग्रेजी शासन के दौरान भारत की संपूर्ण आर्थिक व्यवस्था पर विपरीत प्रभाव पड़ा और धीरे–धीरे भारत जो एक कृषि प्रधान देश था, औद्योगिक इंग्लैंड का आर्थिक उपनिवेश बनने के लिए विवश हुआ। कृषि का विकास अवरुद्ध हो गया और भूमि का छोटे–छोटे टुकड़ों में विभाजन हो जाने के कारण उत्पादन में कमी आ गई। 1858 ई. से लेकर 1947 ई. तक भारतीय उद्योगों का तीव्रगति से विकास हुआ।

स्रोतों का वर्णन पूर्व में किया जा चुका है, जिनसे ब्रिटिशकालीन आर्थिक स्थिति का पता चलता है। कई अभिलेखों से कृषि, व्यापार की स्थिति, बंदोबस्त, रैयतवाड़ी इत्यादि प्रणालियों का भी पता चलता है। समाचार पत्र, लेख इत्यादि तत्कालीन दास्तानों का उल्लेख करते हैं। इसके अतिरिक्त तत्कालीन पारित किए गए कानून, जिनसे उस समय की स्थिति प्रदर्शित हो रही है।

1773 का रेग्यूलेटिंग एक्ट– 1773 ई. में ईस्ट इंडिया कंपनी की गतिविधियों को नियंत्रित करने के लिए रेग्यूलेटिंग एक्ट पारित किया गया किंतु इसका नियंत्रण भारत के पास नहीं था–

1. इस एक्ट द्वारा 40 लाख की वार्षिक आय में ब्रिटिश सरकार ने अपना हिस्सा तय किया। ध्यान दिया जाए तो यह भारत से ही प्राप्त होनी थी।
2. कंपनी अब राजस्व से जुड़े सवाल/मामले भी ब्रिटिश सरकार को बताए जिससे अब पूरी तरह से भारत की आर्थिक डोर ब्रिटिश शासन के हाथों में आ गई।
3. इस एक्ट के द्वारा कर्मचारियों के निजी व्यापार पर रोक लगा दी गई, किंतु उनके वेतन में वृद्धि की गई। यह वेतन वृद्धि भी भारतीयों से किसी और तरीके से वसूलती थी।
4. यह कहा गया कि किसी भी स्थिति में राजस्व एकत्रित करने की व्यवस्था में कोई रुकावट नहीं की जाए।

उस समय किसी की भी यह स्थिति नहीं थी कि राजस्व की बड़ी–बड़ी रकम अदा कर सके, लेकिन ऐसी विकट परिस्थितियों का सामना भारतीयों को करना पड़ा।

1784 ई. का पिट्स का इंडिया एक्ट

1. इसके अंतर्गत 6 सदस्यों के बोर्ड ऑफ कंट्रोल की स्थापना की गई जो सीधे इंग्लैंड के अर्थमंत्री से जुड़ा था।
2. अब राजस्व मामले सीधे गवर्नर जनरल के अधीन किए गए।

1813 का एक्ट

1. इस अधिनियम द्वारा भारत में ब्रिटिश संपत्ति पर क्राउन की संप्रुभुता का दावा किया गया जबकि भारत किसी की व्यक्तिगत संपत्ति तो नहीं कि उस पर इस प्रकार से दावा किया जाए।
2. इस एक्ट ने सरकार को सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार के अधीन लोगों पर कर लगाने का अधिकार दिया। कंपनी का लाभांश 10.5% निर्धारित किया गया।
3. इस एक्ट द्वारा स्थानीय सरकारों को कर लगाने का अधिकार दे दिया गया, जो जनता पहले से करों में उलझी थी उसमें और बढ़ोत्तरी कर दी गई।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि बार–बार नीतियों में फेर–बदल से भारत का आम आदमी त्रस्त हो रहा था। किसी भी कानून में स्थिरता देखने को नहीं मिलती थी। रोज बदलते नियम कायदे भी भारत के आर्थिक शोषण के जिम्मेदार थे। ये समस्त अभिलेख भारत के राष्ट्रीय अभिलेखागार में सुरक्षित हैं। ये समस्त एक्ट तत्कालीन भारत में स्थापित व बदलते कानून का मुख्य स्रोत कहे जा सकते हैं।

औपनिवेशिक इतिहास लेखन

उपनिवेशवादी इतिहास लेखन का अर्थ है औपनिवेशिक शासन के दौरान उपनिवेश बने देशों का इतिहास और उपनिवेशवादी विचारधारा से प्रभावित इतिहासकारों से सामान्य तौर पर जुड़े विचार और दृष्टिकोण। ब्रिटिशकालीन अधिकांश प्रमुख इतिहासकार ब्रिटिश शासन में सरकारी अधिकारी थे और उस समय उपनिवेशवादी इतिहास का तात्पर्य इतिहास में निहित स्कूल की अपेक्षा उसके विषय से संबद्ध था। आज इस स्कूल की आलोचना की जाती है और 'उपनिवेशवादी इतिहास लेखन' को प्रशंसा की निगाहों से नहीं देखा जाता। उपनिवेशवादी इतिहास ओर विचारधारा के रूप में उपनिवेशवादी दृष्टिकोण परस्पर संबद्ध हैं। ब्रिटिश इतिहासकारों के इतिहास ग्रंथों में साम्राज्य निर्माण के विषय ने स्वाभाविक तौर पर भारत में अंग्रेजों के शासन को न्यायोचित ठहराने वाले विचारों को जन्म दिया।

इस काल के इतिहास में विभिन्न इतिहासकारों ने अलग–अलग तर्क प्रस्तुत किए और भारतीय समाज एवं संस्कृति की न केवल आलोचना की बल्कि अपमान भी किया। भारत को जीतने वाले शासन और प्रशंसकों की भूरि–भूरि प्रशंसा की गई और ऊंची आवाज में पूरी दुनिया को बताया गया कि 'पैक्स ब्रिटानिका' अर्थात अंग्रेजों द्वारा प्रदान की गई शांति से भारत को कितना लाभ हुआ। विचारधारात्मक चेतना का अभाव उपनिवेशवादी इतिहास लेखन की विशिष्टता थी।

आजादी के बाद आजादी के पूर्व इतिहास लेखन की आलोचना के क्रम में उपनिवेशवादी इतिहास लेखन के विचारात्मक आयाम उभर कर सामने आए। यह आलोचना मुख्य रूप से भारत में उभरी, जबकि स्कूल ऑफ ओरिएंटल एंड अफ्रीकन स्टडीज ऑफ लंदन के सी.एच. फिलिप्स ने अपनी पुस्तक 'द हिस्टोरियन्स ऑफ इंडिया, पाकिस्तान एंड सिलोन' से इतिहास–लेखन का विस्तृत सर्वेक्षण करते हुए भी यह मुद्दा नहीं उठाया।

औपनिवेशिक भारत के अंग्रेजों द्वारा लिखित ग्रंथ

इस काल में अंग्रेज भारत में अपनी सत्ता स्थापित करने में इस कदर व्यस्त थे कि उन्हें इतिहास लेखन का अवसर नहीं मिला। 18वीं शताब्दी में चार्ल्स ग्राहा एक ऐसे प्रमुख लेखक हुए जिन्होंने अपने लेखन में इतिहास का पुट दिया और 1792 में उन्होंने 'ऑबजरवेशन्स ऑन द स्टेट ऑफ सोसाइटी अमंग द एशिएटिक सब्जेक्ट ऑफ इंडिया' नामक पुस्तक लिखी। वे ईसाई धर्म के प्रचारक थे, जिनका मानना था कि भारत में ईसाई धर्म की रोशनी फैलाना अंग्रेज शासकों को प्राप्त दिव्य नियति है और उसका उद्देश्य भारत को आदिम धार्मिक आस्थाओं और अंधविश्वासों के अथाह गर्त से बाहर निकालना है।

19वीं शताब्दी के दूसरे दशक में भारत में अंग्रेजों का शासन मजबूत होने लगा और इंग्लैंड की प्रथम औद्योगिक क्रांति के बाद अंग्रेजों का घमंड और भी बढ़ गया। अब उनके इतिहास लेखन में घमंड और आत्मविश्वास दिखाई देने लगा। उनके अनुसार जिस देश पर वे शासन कर रहे हैं (भारत पर) वह सभी क्षेत्रों में पिछड़ा हुआ है, तथा उनमें इतनी बुद्धि ही नहीं है कि वे समय के साथ आगे बढ़ सके।

1806 और 1818 में 'हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश एंड इंडिया' नामक पुस्तक जेम्स मिल द्वारा लिखी गई। इसके तीन खंडों में भारत में अंग्रेजों की चर्चा की गई। 1844 ई. में एच.एच. विल्सन ने अपनी संपादकीय टिप्पणी में मिल द्वारा लिखित पुस्तक की कई भूलों का खुलासा किया, फिर भी यह पुस्तक क्लासिक कृति मानी जाती रही। मिल कभी भी भारत नहीं आए थे, उनके द्वारा लिखी पुस्तक सीमित जानकारी पर आधारित थी। विश्वसनीयता, वस्तुनिष्ठता और विवेचन की सीमाओं के बावजूद दो कारणों से यह किताब महत्वपूर्ण बनी। इसका एक कारण यह है कि जेम्स मिल दार्शनिक जेरेमी बेंथम द्वारा प्रेरित उपयोगवादियों के प्रभावशाली राजनीतिक और आर्थिक स्कूल से जुड़े हुए थे।

दूसरी ओर मांउटस्टुअर्ट एलफिन्स्अन की कृति 'हिस्ट्री ऑफ हिंदु एंड मुहम्मडन इंडिया' है। एलफिन्स्अन भारत में प्रशासनिक अधिकारी थे और वे अधिकांश समय भारत में ही रहे और उनके पास भारत का इतिहास लिखने के लिए 'मिल' की अपेक्षा अधिक सूचनाएं और साधन उपलब्ध थे। एलफिन्स्टन के लेखन से प्रभावित होकर भारतीय इतिहास लेखन में हिंदू और मुस्लिम शासनकाल की बजाय प्राचीन और मध्यकाल नामकरण को बढ़ावा मिला।

1860 के दशक में जे. टैलब्वाय व्हिलर ने अधिक बेहतर इतिहास लिखा। 1934 ई. में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के राजनीतिक दृष्टिकोण को अधिक बेहतर ढंग से प्रस्तुत करने वाली ऐतिहासिक कृति का प्रकाशन हुआ। 'Rise and Fullfilment of British Rule in India' नामक कृति पिछली कृतियों से काफी बेहतर थी, इसमें उदारवादी आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति की गई थी। इसके लेखक एडवर्ड थाम्पसन एक धर्म प्रचारक थे। अपनी इस पृष्ठभूमि के कारण प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा लिखे गए इतिहासों से उनका नजरिया अलग था।

इसी बदलती मानसिकता के कारण 1947 ई. में वे सत्ता हस्तांतरण स्वीकार करने को मजबूर हो गए। 'मिल' से लेकर थॉम्पसन और गैरेट तक इतिहास लेखन ने लंबा रास्ता तय किया। 19वीं शताब्दी में इतिहास लेखन यूरोप में केंद्रित था और भारतवासियों के प्रति इनका दृष्टिकोण प्रशंसात्मक था।

अपनी प्रगति जांचिए

1. भारत की जनसंख्या के आंकड़े सर्वप्रथम किस ई. में एकत्र किए गए थे?
   (क) सन् 1861 (ख) सन् 1871
   (ग) सन् 1881 (घ) सन् 1891
2. इतिहास का जनक किसे कहा जाता है?
   (क) हेरोडोटस (ख) रेनियर
   (ग) मार्क रॉबिन्सन (घ) ह्यूसोडाइटस
3. 'वॉयस ऑफ इंडिया' समाचार पत्र किस पत्रकार से संबंधित है?
   (क) एन.एन. सेन (ख) दादा भाई नौराजी
   (ग) गोपाल कृष्ण गोखले (घ) शिशिर कुमार घोष
4. रेग्यूलेटिंग एक्ट कब पारित किया गया?
   (क) सन् 1753 ई. (ख) सन् 1763 ई.
   (ग) सन् 1773 ई. (घ) सन् 1783 ई.

1.3 अठारहवीं शताब्दी के मध्य में भारतीय अर्थव्यवस्था

18वीं शताब्दी के दौरान भारत में ब्रिटिश भागीदारी को दो चरणों में विभाजित किया जा सकता है। एक अंत और दूसरी शताब्दी की शुरुआत में। ब्रिटिश सदी के प्रारंभ में सूरत के समुद्र तट पर अपने व्यापार करने की उपस्थिति दर्ज करते हैं तथा 1750 के दशक से उन्होंने पूर्वी और दक्षिणी पूर्वी भारत में जमीन पर युद्ध छेड़ना शुरू कर दिया और सफलता पर इनाम प्राप्त करते थे, जो कि समृद्ध प्रांत बंगाल पर विशेष रूप से राजनीतिक शक्ति के विस्तार का परिणाम था। सदी के अंत तक ब्रिटिश शासन पहले विजय पर समेकित हो गया था और इसे गंगा घाटी से दिल्ली तक और दक्षिणी भारत के अधिकांश प्रायद्वीपों तक बढ़ाए जाने का प्रयास चल रहा था और धीरे–धीरे उन्होंने सैन्य प्रभुत्व स्थापित किया था जो अगले 50 वर्षों में भारतीय राज्यों के अपने अधीन करने में सक्षम करेंगे तथा उन पर विजय प्राप्त करने में तथा शासकों को अपने अधीन करने में मदद करेगा।

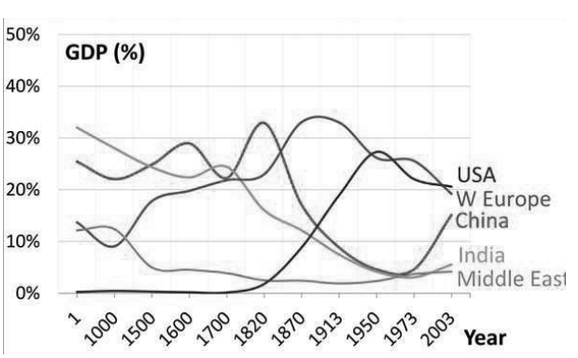

वैश्विक जीडीपी योगदान प्रतिशत

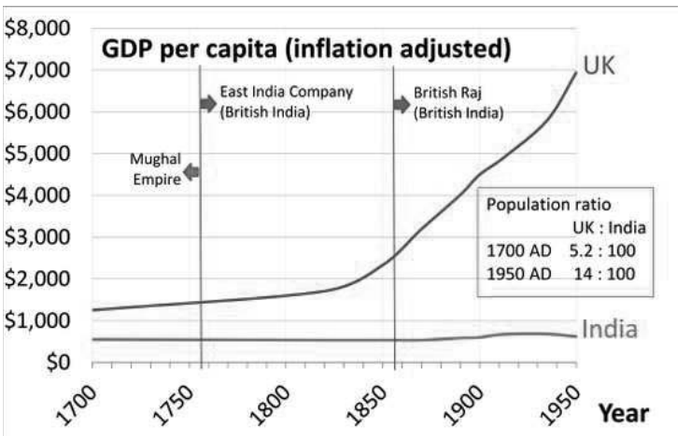

प्रति व्यक्ति सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी)

1.3.1 अर्थव्यवस्था की संरचना और प्रकृति : ग्रामीण व शहरी

17वीं शताब्दी के अंत में भारत कंपनी के व्यापार का केंद्र बिंदु बन गया। भारतीय बुनकरों द्वारा बुने गए सूती कपड़े का भारी मात्रा में ब्रिटेन में आयात किया जा रहा था, जिससे कपड़े और साज–सज्जा के लिए धोने योग्य हल्के कपड़ों की दुनिया भर में मांग स्थापित की जा सके। कंपनी की मुख्य बस्तियां बाम्बे, मद्रास और कलकत्ता भारतीय प्रांतों में स्थापित की गई जहां निर्यात के लिए सूती वस्त्र सबसे अधिक उपलब्ध थे। ये बस्तियां 'कारखानों' या व्यापारिक पदों से ब्रिटिश क्षेत्राधिकार के तहत प्रमुख वाणिज्यिक शहरों में विकसित हुई थी, क्योंकि भारतीय व्यापारी और कारीगर कंपनी के साथ और वहां रहने वाले ब्रिटिश निवासियों के साथ व्यापार करने के लिए चले गए थे।

18वीं शताब्दी के मध्य ग्रामीण अर्थव्यवस्था

आर्थिक संरचना और आर्थिक बदलाव की प्रक्रिया ही हमें किसान समाज, राजनैतिक गतिविधियों, साम्राज्य की नीतियों तथा जाति वर्ग और समुदाय के सामाजिक संबंधों के बारे में जानकारी देती है। इसलिए आर्थिक संरचना और आर्थिक बदलाव के स्वरूप को समझने के लिए उत्पादकों, उपभोक्ताओं और राज्य के संबंधों को समझना जरूरी हो जाता है। प्रारंभिक ब्रिटिश प्रशासकों का विश्वास था कि ब्रिटिश राज के पहले भारत में राजनैतिक उथल–पुथल की वजह से जीवन और संपत्ति भी असुरक्षित थी। किंतु 18वीं सदी के राजनीतिक मानचित्र में बदलाव के कारण भी कृषि पर उतना बुरा असर नहीं पड़ा क्योंकि मैसूर, मराठा, हैदराबाद जैसे शक्तिशाली राज्यों का विकास हो ही रहा था साथ ही कृषि उत्पादन मुख्यतः किसानों और ग्रामीण जीवन निर्वाह की जरूरतों को ही पूरा करता था।

गांव का कृषि उत्पादन मुख्य रूप से जीवन निर्वाह के लिए होता था, बाजार के लिए नहीं। इस प्रकार ग्राम समुदाय का बाहरी दुनिया से लेन–देन नहीं के बराबर था। ग्रामीण समुदाय अधिकांशतः अपनी जरूरतों का उत्पादन स्वयं करते थे। गांव में लेन–देन वस्तु–विनिमय प्रणाली के तहत होता था। कार्ल मार्क्स कहते हैं कि भूमि की निजी संपत्ति की कोई अवधारणा नहीं थी अतः वर्ग–विभेद भी विकसित नहीं थे। मार्क्स कहते हैं कि भारतीय समाज का कोई इतिहास नहीं था, उनकी मान्यता थी कि जिसे

हम भारत का इतिहास कहते हैं वह वास्तव में एक के बाद आने वाले आक्रमणकारियों का इतिहास रहा है, जिन्होंने अपरिवर्तनशील ग्राम समुदायों के ऊपर अपना साम्राज्य कायम किया। इस प्रकार की स्वावलंबी और आत्मनिर्भर ग्राम समुदाय की व्यवस्था को कार्ल मार्क्स ने उत्पादन की एशियाई पद्धति का नाम दिया। इस स्वायत्त और पूर्णतया आत्मनिर्भर ग्रामीण समुदाय के अन्य लक्षण थे कि इसमें कृषि और घरेलू उद्योग–धंधों के बीच एक संतुलन और श्रम विभाजन की बदलाव रहित जजमानी व्यवस्था कायम थी। संचार और यातायात के आधुनिक साधनों के अभाव में बाहरी जगत से इस आत्मनिर्भर और स्वायत्त इकाई का कोई संबंध नहीं था।

ये ग्रामीण क्षेत्र अपना खाद्यान्न उत्पादन और कृषि के लिए आवश्यक औजारों का निर्माण भली–भांति कर सकते थे तथा घरेलू काम के लिए आवश्यक उपकरण गांव में ही बना लेते थे। आत्मनिर्भर होने के साथ राजनैतिक रूप से भी गांव पूर्णतया स्वायत्त इकाई के रूप में काम करते थे।

ब्रिटिश शासन से पूर्व मनुष्य और कृषि योग्य भूमि का अनुपात भी इस प्रकार से था कि भूमि प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थी। जोत का आकार मिट्टी, इसके उपजाऊपन और जलवायु पर निर्भर थी कि किसान कितनी बड़ी जोत का स्वामी है। जोतों का आकार आमतौर पर बड़ा ही होता था, क्योंकि कृषि योग्य भूमि आसानी से काफी मात्रा में उपलब्ध थी। कृषि उत्पादन की एक अन्य विशेषता थी कि इसमें काफी विविधता थी, बीज और उपज का अनुपात भी काफी अनुकूल था। इसके अलावा किसान–परिवारों को सामूहिक संपत्ति के साधनों में परंपरागत चारागाह अधिकार भी हासिल थे। कृषि उत्पादन में खाद्यान्न प्रमुख स्थान रखते थे, जिनमें गेहूं, चावल, जौ, चना, ज्वार, बाजरा, अलसी, दालें प्रमुख थीं। सिंचाई व्यवस्था इतना सशक्त नहीं थी। अकालों का प्रकोप बार–बार महसूस किया जाता था।

किसानों से कर वसूल करने में जागरी प्रथा का महत्वपूर्ण योगदान था। 18वीं सदी में मुगल साम्राज्य के लिए उमरा वर्ग में होड़ बढ़ गई। जागीरदार अपनी जागीरों से राजस्व और लगान वसूल करने के लिए अपने एजेंट या गुमाश्ता रखते थे, इन्हें अमील या शिकदार कहा जाता था। कुछ जागीरदार जो अधिक संपन्न नहीं थे, इजारेदारी या एक प्रकार का भू राजस्व और लगान को ठेके की प्रथा द्वारा वसूल करवाते थे। इजारेदारी एक प्रकार के राजस्व कृषक थे जो एक निश्चित राशि के बदले एक क्षेत्र में किसानों से राजस्व इकट्ठा करने का अधिकार हासिल कर लेते थे। मुगल शासकों के पश्चात उभरी क्षेत्रीय राज व्यवस्थाओं में भी शासक वर्ग मुख्य रूप से भू राजस्व के रूप में कृषि अधिशेष वसूल करता था। यह वह राशि या कृषि उत्पाद की मात्रा थी जो किसान के जीवन निर्वाह की लागत को निकाल कर शेष बचती थी। खालसा जमीनें सीधे दरबार और खर्चों को पूरा करने वाली जमीनें थीं जबकि ज्यादातर जमीनों को जागीरों के रूप में शासक वर्ग के नुमाइंदों के बीच वितरित किया जाता था। वास्तव में यह फसलों पर लगाया गया एक प्रकार का कर ही था जिसे राज्य द्वारा फसल के हिस्से के रूप में वसूल किया जाता था। इसका सबसे सीधा तरीका बटाई के नाम से जाना जाता था। सामान्य व्यवहार में एक क्षेत्र की फसलों का सर्वेक्षण करके कृषि उत्पाद का अनुमान लगाकर भू राजस्व निश्चित किया जाता था। इस निर्धारित भू राजस्व को बाजार के भावों के हिसाब से या पहले से तय दरों के हिसाब से मुद्रा में दर्शाया जा सकता था। इस प्रणाली को 'कानकूत' के नाम से जाना जाता था। इसमें

टिप्पणी

सबसे विकसित विधि 'जब्त' के नाम से जानी जाती थी और इससे भूमि–कर को प्रति बीघा के रूप में दर्शाया जाता था और यह दर मुद्रा के रूप में अंकित की जाती थी। मोरलैंड ने इस व्यवस्था में किसानों और राज्य के मध्य बिचौलियों को पांच वर्गों में बांटा है– सरदार, नुमाइंदे, सुपुर्ददार, माफीदार और राजस्व कृषण। इन बिचौलियों को कुछ गैर आर्थिक दबाव और बल प्रयोग तथा किसानों को दंड देने के अधिकारभी दिए जाते थे ताकि वे भू राजस्व की वसूली का काम ठीक से कर सकें। भू राजस्व का बोझ सब किसानों पर एक सा नहीं था, स्थानीय प्रभावशाली और संपत्तिवान वर्ग अपना बोझ का हिस्सा भी गरीब किसान पर डाल देते थे।

पूर्व औपनिवेशिक राजस्व व्यवस्था की एक खास बात यह थी कि वास्तव में वसूल किए जाने वाले भू राजस्व दर्शाये गए राजस्व से कम ही रहता था और प्राकृतिक आपदाओं आदि के समय राज्य को छूट देने पड़ती थी। चूंकि शासक वर्ग किसान वर्ग के मात्र जीवन यापन के योग्य हिस्सा छोड़कर अधिकांश कृषि उत्पाद को भू राजस्व के रूप में वसूल कर लेता था, इसलिए यह तरीका उपभोक्ता वस्तुओं की मांग को संकुचित बना देता था।

18वीं शता. के मध्य तक भू राजस्व इकट्ठा करने के लिए पट्टे और उप–पट्टे पर देने की एक बड़ी पिरामिड जैसी संरचना काम करती थी। कई क्षेत्रों में भू राजस्व इकट्ठा करने का अधिकर सबसे ज्यादा वसूली का वायदा करने वाले को दिया जाता था। यह प्रणाली विजित प्रदेशों में या कमजोर पड़ती शासन सत्ता द्वारा इस्तेमाल की गई। कुछ समय पश्चात केंद्रीय सत्ता की बढ़ती कमजोरी में यह अधिकार आनुवंशिक होते चले गए जिनके सबसे बड़े उदाहरण बंगाल और अवध थे। इस समय स्थानीय भू संपत्तिवान वर्गों से एक फलते–फूलते भू राजस्व कृषक वर्ग का विकास और विस्तार लगातार हुआ। निर्धारित लगान व भूमि कर को जमींदारों द्वारा वसूल किए जाने से जागीरदारों को लगान वसूल करने में आसानी हो गई, किंतु इसका विपरीत पक्ष आगे जाकर काफी भयंकर था क्योंकि इससे इस वर्ग की संख्या और शक्ति में बढ़ोत्तरी हुई। ये वे जमींदार थे जो वसूल किए गए भू राजस्व और लगान पर अपना अधिकार समझते थे।

18वीं शताब्दी के किसानों (रैयत) को दो भागों में बांटा जा सकता है–

1. **खुदकाश्त** : ये स्थानीय किसान थे, जो अपने परिवार वालों के साथ मिलकर अपनी भूमि ही जोतते थे, जिन्हें आनुवंशिक भूमि अधिकार प्राप्त थे। ये रियायती दरों पर लगान देते थे।
2. **पाहीकाश्त** : पाहीकाश्त में वे किसान आते थे जो खुद की जमीन न जोत कर उस गांव की जमीन जोतते थे, जहां वे खुद नहीं रहते थे। इनके पास अपने–अपने बैल और हल होते थे और समृद्ध जमींदार की जमीनों पर लगान के बदले भूमि जोतने और बंजर भूमि को खेती योग्य बनाने में यह वर्ग कुशल था। इन्हें भूमि में आनुवंशिक अधिकार प्राप्त नहीं थे।

कृषि क्षेत्रक : औपनिवेशिक शासन से पूर्व भारत मूलतः कृषि अर्थव्यवस्था बनी रही। उस समय भारत की 80% जनसंख्या गांवों में बसती थी जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कृषि के माध्यम से अपनी रोजी–रोटी कमा रही थी। अंग्रेजों के परंपरागत कृषि के ढांचे को नष्ट कर दिया। कृषि क्षेत्र की गतिहीनता का मुख्य कारण औपनिवेशिक शासन

द्वारा लागू की गई भू–व्यवस्था प्रणाली थी। 1757 ई. के प्लासी के युद्ध पश्चात बंगाल की दीवानी प्राप्त करने के बाद हेस्टिंग्स ने 1712 ई. में बंगाल में द्वैध शासन व्यवस्था को समाप्त करके फामिंग सिस्टम (इजारेदारी प्रथा) की शुरुआत की थी। ये इजारेदारी व्यवस्था राजस्व की वसूली के लिए थी, जिसके अंतर्गत किसी क्षेत्र या जिले के भू–क्षेत्र से राजस्व वसूली की जिम्मेदारी उसे सौंपती थी, जो सबसे अधिक बोली लगाता था।

प्रौद्योगिकी का निम्न स्तर, सिंचाई सुविधाओं का अभाव और उर्वरकों का नगण्य प्रयोग भी कृषि उत्पादकता के स्तर को बहुत निम्न रखने के लिए उत्तरदायी था। कृषि के व्यवसायीकरण के कारण नकदी फसलों की उत्पादकता के प्रमाण भी मिलते हैं, परंतु उसका लाभांश किसानों को नहीं मिलता था। उन्हें तो खाद्यान्न की खेती के स्थान पर नकदी फसलों का उत्पादन करना पड़ता था, जिनका प्रयोग अंततः इंग्लैंड में लगे कारखानों में किया जाता था।

सिंचाई व्यवस्था में कुछ सुधार के बावजूद भारत बाढ़ नियंत्रण एवं भूमि की उपजाऊ शक्ति के मामले में पिछड़ा हुआ था। काश्तकारों ने एक बड़े वर्ग तथा छोटे किसानों के पास कृषि क्षेत्र में निवेश करने के लिए न ही संसाधन थे न तकनीकी और न ही प्रेरणा।

आंकड़े : 1890 ई. से 1947 की अवधि में गांवों से शहरों की ओर पलायन की संख्या बढ़ने लगी थी। फसल उत्पादन का आकलन करने का अधिकारिक तरीका दो फसलों के क्षेत्र में गुणा करना था– एक 'मानक उपज' और एक 'स्थिति कारक', जिसने मानक या दीर्घकालिक मानदंड से वास्तविक उपज के विचलन को मापा। सामान्य मौसम में नमूना भूखंडों में फसल–कटाई प्रयोगों द्वारा मानक उपज का अनुमान लगाया गया था। प्रत्येक मौसम में ग्रामीण अधिकारियों द्वारा फसलों की अच्छी दशा के आंकड़े बताए गए किंतु साल दर साल फसलों की स्थिति गिरती गई, जबकि आंकड़ों के अनुसार फसलों में बढ़ोत्तरी होनी चाहिए थी। दादा भाई नौरोजी के अनुसार, "जुलाई 1870 में मैंने 'द स्टेटस एंड मीन्स ऑफ इंडिया' में एक मोटा अनुमान लगाया। पहले ईस्ट इंडिया एसोसिएशन के अनुमान के अनुसार– यह संपूर्ण उपज भारत की अपनी भूमि से है। यह 1870–71 में सकल भूमि £ 21,000,000 (पाउंड) से थोड़ा ऊपर नीचे है। अब इन मूल मसौदों में इन नोटों को 1873 में भारतीय वित्त, चयन समिति में रखा गया, लेकिन रिपोर्ट के साथ प्रकाशित नहीं किया गया, क्योंकि वह अध्यक्ष के विचारों के अनुकूल नहीं थे और मुझे लगता है कि सर ग्रांट डफ को भी संचालित किया गया था, जो भारत के अवर–सचिव थे। हो सकता है मानक उपज बहुत अधिक निर्धारित की गई हो। अंतर युद्ध अवधि में (1918–1939) में कृषि प्रदर्शन निराशाजनक था। 1891 से 1946 तक, सभी फसल उत्पादन की वार्षिक वृद्धि दर 0.4% थी और खाद्यान्न उत्पादन व्यवहारिक रूप से स्थिर था। हालांकि खाद्य फसलों की तुलना में गैर खाद्य फसलें बेहतर कर रही थी। बंगाल में खाद्य और गैर खाद्य फसल दोनों में औसत विकास दर थी, जबकि पंजाब और मद्रास में सबसे कम विकास दर थी। युद्ध के समय खाद्य उत्पादन में गिरावट आई तथा जनसंख्या में तेजी से वृद्धि हुई तब प्रतिव्यक्ति भोजन की दर में कमी देखी गई।"

ब्रिटिशकाल में जमींदार : 1707 ई. में औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात कृषकों के अधिकारों का लोप धीरे–धीरे आरंभ हुआ जबकि केंद्रीय सत्ता शिथिल पड़ने लगी। परिणामस्वरूप ग्रामवासी शक्तिशाली राजा एवं मुखिया की शरण में जाने को मजबूर हो गए।

भारत में अंग्रेजों के काल में जमींदारी प्रथा का आरंभ होने लगा था। अंग्रेज शासकों का विश्वास था कि वे भूमि के स्वामी हैं और कृषक उनकी प्रजा है, इसलिए उन्होंने स्थायी और अस्थायी बंदोबस्त बड़े कृषकों तथा राजाओं और जमींदारों से किए। यद्यपि राजनीतिक औचित्य से प्रभावित हो कर उसने एक 'परगना कर' वसूल करने वाले इजारेदार को पांच वर्ष के लिए पट्टे पर दे दिया। इस प्रकार जमींदारी प्रथा को अंग्रेजों ने मान्यता प्रदान की। यद्यपि प्रारंभ में अंग्रेजों का विचार कृषकों को उनके अधिकारों से वंचित करने का नहीं था। सन् 1786 ई. में लॉर्ड कार्नवालिस भी जमींदारी प्रथा के पक्ष में था। उसने सन् 1790 ई. में बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा में दस वर्षीय बंदोबस्त की आज्ञा दी।

मद्रास में जमींदारी प्रथा का उदय अंग्रेज शासकों की नीलामी नीति द्वारा हुआ। गांव की भूमि का विभाजन कर उन्हें नीलाम कर दिया जाता था और अधिकतम मूल्य देनेवाले को विक्रय कर दिया जाता था। प्रारंभ में बंदोबस्त कृषकों से ही किया जाता था, परंतु उस समय राजनीतिक कारणों से यह बंदोबस्त जमींदारों से किया गया। अलीगढ़ की बंदोबस्त रिपोर्ट में वी.ए. स्मिथ यह स्वीकार करते हैं कि प्रचलित भूमि अधिकारों की उपेक्षा करते हुए केवल उपयोगिता को लक्ष्य में रख कर बंदोबस्त इजारेदारी से किया गया। अन्यायपूर्ण कर राशि इकट्ठा करने का यह सबसे सरल उपाय है, यह राजनीति के दृष्टिकोण से भी उपयोगी है, क्योंकि इसके फलस्वरूप सरकार को एक शक्तिशाली तथा धनी वर्ग की सहायता मिलती रहेगी।

इस प्रकार भारत वर्ष के इतिहास में सर्वप्रथम इन बंदोबस्तों द्वारा राज्य और कृषकों के बीच में जमींदारों का वर्ग अंग्रेजों की नीति द्वारा स्थापित हुआ, जिसके फलस्वरूप कृषकों के भू–संपत्ति अधिकार, जो अनादि काल से चले आ रहे थे, वे छिन गए। यह मध्यवर्ती वर्ग दिन–प्रतिदिन धनी होता गया, इसके फलस्वरूप सरकार को एक शक्तिशाली व धनी वर्ग की सहायता मिल रही थी।

18वीं शताब्दी के मध्य में शहरी अर्थव्यवस्था

साधारणतः उपनिवेशवाद की स्थापना से पूर्व भी भारत की अर्थव्यवस्था कृषि और गांवों पर टिकी थी लेकिन शहरों और कस्बों की अर्थव्यवस्था को भी नजरअंदाज नहीं किया जा सकता था। कृषि द्वारा जो भी अधिशेष प्राप्त होता था, शासक वर्ग उसका प्रयोग शहरी अर्थव्यवस्था और मुद्रा पर आधारित आर्थिक क्रियाकलापों के विस्तार हेतु करता था। अंग्रेजी राज से पूर्व भारत में धार्मिक और राजदरबार की गतिविधियों से जुड़े शहरों के साथ–साथ अनेक व्यापारिक शहरी केंद्रों तथा उत्पादन केंद्रों का भी तेजी से विकास हुआ। उस समय दिल्ली, कन्नौज, पटना, लखनऊ, लाहौर, पूना, आगरा, बीजापुर सत्ता से पूर्णतः जुड़े हुए प्रमुख शहर थे। दूसरी ओर व्यापार एवं व्यावसायिक गतिविधियों पर आधारित सूरत, कानपुर, अहमदाबाद, मिर्जापुर, मुर्शिदाबाद मुख्य शहर थे। भारतीय शहरों की जनसंख्या और उत्पादन व्यवस्था के आधार पर पूर्व ब्रिटिश काल की तुलना यूरोप के शहरों से की जा सकती थी।

उस समय के ये समस्त शहर कारीगरी के उत्पादन केंद्र थे। इनका स्वरूप औद्योगिक था। कपड़ा और शोरा जैसे औद्योगिक उत्पादनों का होना, लंबी दूरी के व्यापार का विकास, बैंक और बीमा प्रणाली का उन्नत होना और व्यापारियों द्वारा अग्रिम पैसा या कच्चा माल आदि देकर ददनी व्यवस्था के तहत अनेक कारीगरों से उत्पादन

करवाने की कोशिश इस प्रकार की शहरी–अर्थव्यवस्था के महत्वपूर्ण पहलू थे। बंगाल, गुजरात तथा कोरोमंडल तट अत्यधिक विकसित क्षेत्र थे।

भारत में अंग्रेजों के आगमन से पूर्व सूती कपड़ा उद्योग विकसित व उच्च अवस्था प्राप्त था। भारत के विभिन्न क्षेत्रों से उसका उत्पादन होता था। यह तो सर्वज्ञात है कि बुनकर अपने साधारण से औजारों से महीन से महीन कपड़ा बुनने में माहिर थे जो विदेशों में भारी मांग पर था। इतने बारीक कपड़े की बुनाई (घागा) देखकर अंग्रेज स्वयं चकित थे। स्वयं ईस्ट इंडिया कंपनी के दस्तावेजों में 150 से अधिक किस्म के सूती कपड़ों का जिक्र है, जो भारतीय सूती उद्योग की विविधता को दर्शाता है। बंगाल, बनारस, गुजरात व कोरोमंडल तट अपने किस्म की मलमल, खैराबादी, दुत्ती, दरियाबादी, कैलिको का उत्पादन करते थे। भारत में हाथों द्वारा निर्मित वस्त्रों के अतिरिक्त रजाई, गद्दे, कालीन, चादरें अन्य प्रमुख उत्पाद थे। भरूच, बालासौर, कासीमबाजार सूत कातने के मुख्य केंद्र थे। सूत कातने का काम कारीगरों द्वारा स्वतंत्र रूप से किया जाता रहा जो कि एक वैकल्पिक आजीविका का साधन था। इसके साथ ही रेशम के कपड़े का व्यवसाय भी काफी उन्नत था। रेशम के उत्पादन के चरणों में शहतूत की खेती, रेशम का कोए बनाना, धागा कातना, कपड़े की बुनाई शामिल हैं। बंगाल, कश्मीर, लाहौर, गुजरात के बुनकर बेहतरीन कारीगर थे। रेशम की कढ़ाई करने वाले प्रमुख शहर बनारस और अहमदाबाद हैं।

इसके अतिरिक्त कपड़ों की रंगाई, छपाई इत्यादि व्यवसाय भी उभर रहे थे। ऊनी कपड़ों के निर्माण हेतु कश्मीर का विशेष स्थान था।

ब्रिटिश शासन से पूर्व भारत में मुद्रा प्रणाली को ठीक ढंग से चलाने के लिए विदेश व्यापार के माध्यम से स्वर्ण धातुओं की जरूरत पड़ती थी और इसी वजह से भारतीय शासकों ने यूरोपीय व्यापारियों की गतिविधियों को बढ़ावा दिया। ये यूरोपीय व्यापारी भारत से निर्यातित माल के बदले उसका भुगतान सोने–चांदी के रूप में करते थे। सोने–चांदी के इस अंतर्गमन ने भारत की मुद्रा–प्रणाली को सुदृढ़ किया और इसकी अर्थव्यवस्था में मुद्रा का प्रचलन तेजी से बढ़ा।

भारत में लौह–उत्पादन बहुत सीमित था। उस समय भारत में लौह–अयस्क को पिघलाने की विधियां तो थी किंतु खानों की गहरी खुदाई की विधियां नहीं थीं, लौह–अयस्क भूमि की ऊपरी सतह से ही प्राप्त किया जाता था। इसके अतिरिक्त तांबे के सिक्कों का इस्तेमाल भी बहुत पहले से होता आ रहा था। बनारस, पूना, हैदराबाद, नासिक, विशाखापट्टनम तांबे–पीतल के बर्तन बनाने के महत्वपूर्ण केंद्र थे। चटगांव, सूरत, मछलीपट्टम में जहाज उद्योग भी विकसित हो रहे थे।

भारतीय उद्योग तकनीकी दृष्टि से पिछड़े थे। वे केवल श्रम की कुशलता पर निर्भर थे। वे यूरोप व चीन जैसे जल या पवन शक्ति से अनभिज्ञ थे।

व्यापार में बैंकिंग व्यवस्था के माध्यम से भुगतान के विभिन्न साधन मुगल काल में ही निर्मित हो चुके थे। मंडियों में हुंडियों (एक प्रकार का वाणिज्य या विनिमय पत्र) के प्रचलन के साथ बीमा व्यवस्था भी संगठित हो चुकी थी। भारत में अनेक क्षेत्रों में एक समृद्ध वित्त देने वाला वर्ग उभरकर सामने आया, जो सोने–चांदी से मुद्रा और सिक्के बनाने से लेकर रुपये–पैसे की अदला–बदली के काम के अलावा विदेशी कंपनियों व शासकों को पैसा उधार देने का काम भी कर रहे थे।

उद्योगों की स्थिति : अंग्रेजों के शासन से पूर्व भारत में लाहौर, दिल्ली, आगरा, मथुरा और दक्षिण का विशाल क्षेत्र युद्धों, आक्रमणों और अन्य विपत्तियों के कारण घोर कष्टों का सामना कर चुका था। यूरोपीय व्यापारी जो भारत के तटों पर पहुंचे थे, उन्होंने भारतीय वस्तुओं सोना, चांदी देकर खरीदी जिससे उद्योगों की उन्नति हुई। शिल्पकारों और अन्य विशेष कलाओं में निपुण कारीगरों ने मिलकर उत्तम वस्तुएं तैयार कीं। निपुणता प्राप्त करके भारत के शिल्पकार संसार के अन्य शिल्पकारों से श्रेष्ठ बन गए। भारत उद्योगों के संगठन और तकनीकी में पश्चिमी देशों से अधिक आधुनिक था। भारतीय उद्योगों की बनी हुई वस्तुएं, एशिया, अफ्रीका और यूरोप की मंडियों की मांग पूरी करती थी। स्थल और जल मार्गों से यह व्यापार होता था।

भारत का व्यापार बड़े सुचारू ढंग से लाल सागर और फारस की खाड़ी के साथ हो रहा था। भारतीय व्यापारी, कंधार, काबुल, बुखारा, काशगर, अफगानिस्तान और मध्य एशिया में जाकर रहने लगे। सम्राट पीटर का कहना, "भारत का व्यापार संसार का व्यापार था। जो इस व्यापार पर पूरी तरह से नियंत्रण कर लेता वह यूरोप को भी अपने अधीन कर सकता था। मलाया, हिंद चीन जापान और बर्मा आदि में भी भारतीय व्यापार की वस्तुएं पहुंचती थीं।"

औपनिवेशिक काल में भारत की विश्व प्रसिद्ध शिल्पकलाओं का पतन हो रहा था और उसका स्थान इंग्लैंड के तैयार वस्त्र ले रहे थे। औपनिवेशिक शासक द्वारा अपने देश (इंग्लैंड) के हितों के संरक्षण और संवर्धन के लिए निर्मित नीतियों ने भारत की अर्थव्यवस्था के स्वरूप को मूल रूप में बदल डाला। भारत, इंग्लैंड को कच्चे माल की पूर्ति करने तथा वहां के तैयार माल का आयात करने वाला देश बन कर रह गया।

एक तरफ अंग्रेज भारत को इंग्लैंड में विकसित हो रहे लोगों के लिए कच्चे माल का निर्यातक बनाना चाहते थे। दूसरे उद्योगों के उत्पादन के लिए भारत को ही विशाल बाजार भी बनाना चाहते थे। डॉ. ताराचंद्र ने लिखा है– "उच्च श्रेणी में धन का प्रयोग ठीक न होने के कारण देश की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं हो रही थी। प्रांतीय सरकारों का स्तर ऊंचा और विलासमय था। ईस्ट इंडिया कंपनी के कर्मचारियों ने शिल्पकारों के साथ सीधे संबंध स्थापित किए थे। उन्होंने एकाधिकार वाली वस्तुओं के दाम अपने निर्णय के अनुसार निश्चित किए। जुलाहों को कंपनी के साथ समझौता करने की आज्ञा दी गई, आज्ञा अस्वीकार करने पर उन्हें सजा, जुर्माना, कैद, कोड़ों की मार सहनी पड़ती थी। कंपनी के उच्च अधिकारी निजी व्यापार से बहुत सा धन कमाते थे। विनसिटर्ट लिखता है, "अंग्रेज भारतीयों को निश्चित दर पर खरीदने और बेचने के लिए बाध्य करते थे। 1757 ई. से 1766 ई. के बीच भारतीयों ने कंपनी और कर्मचारियों को साठ पॉण्ड भेंट के रूप में दिया।"

व्यापार के एकाधिकार, राजनीतिक भ्रष्टाचार और भूमि कर की दर से धन वसूल करके कंपनी अपनी सरकार को बहुत बड़ी रकम भेजती थी। सर जॉन शोर ने 1797 में लिखा था, "कंपनी राज्य और व्यापार दोनों करती थी।" व्यापार करने के साथ–साथ वे धन भी वसूलते थे। 1790 ई. में कार्नवालिस ने लिखा था, "कर की ऊंची दर के अनुसार बहुत सा धन वसूल करके बाहर भेजा जाता था। कंपनी का व्यापार और निजी संपत्ति से लाभ, कृषि की अवनति और साधारणतः व्यापार की हानि से देश में सब ओर दशा बिगड़ गई थी।"

प्रति व्यक्ति आय : ब्रिटिश अर्थशास्त्री एंगस मैडिसन के अनुसार, विश्व अर्थव्यवस्था अर्थात वैश्विक सकल घरेलू उत्पादन (GDP) में भारत की हिस्सेदारी 1700 में 24.4% से घटकर 1950 में 4.2% हो गई। भारत की जीडीपी प्रति व्यक्ति मुगल साम्राज्य के दौरान स्थिर रही और ब्रिटिश शासन की शुरुआत से पहले ही गिरावट आना शुरू हो गई। वैश्विक औद्योगिक उत्पादन में भारत की हिस्सेदारी 1750 में 25% से घटकर 1900 में 2% हो गई। इसी समय विश्व अर्थव्यवस्था में यूनाइटेड किंगडम का हिस्सा 1700 में 2.9% से बढ़कर 1870 में 25% हो गया।

भारतीय अर्थव्यवस्था जनसंख्या वृद्धि के अनुरूप 1890 से 1910 तक प्रति वर्ष लगभग 1% बढ़ी। औपनिवेशिक शासकों ने कभी भी भारत की राष्ट्रीय तथा प्रतिव्यक्ति आय का आकलन करने का ईमानदारी से प्रयास नहीं किया। फिर भी देश की तथा प्रति व्यक्ति आय का आकलन निजी स्तर पर दादा भाई नौरोजी, विलियम डिग्बी, फिंडले शिराज, डॉ. वी.के.आर.वी. राव तथा आर. देसाई ने किया है। इनमें डॉ. राव द्वारा माने गए अनुमान महत्वपूर्ण हैं। उनके अनुसार 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारत में राष्ट्रीय आय की वार्षिक वृद्धि दर 2% से कम तथा प्रति व्यक्ति उत्पादन वृद्धि दर मात्र आधा प्रतिशत है। निजी तौर पर दादा भाई नौरोजी, शिराज, डॉ. राव, देसाई के अनुसार 1820 में देश की राष्ट्र आय, विश्व का कुल 16% थी। 1870 में यह गिर कर 12% हो गई। 1947 में 4% ही रह गई। 1850 से 1947 तक भारत की प्रति व्यक्ति आय 14% से थोड़ा अधिक बढ़ी, जो $ 533 से बढ़कर $ 610 हुई।

1765 में इलाहाबाद की संधि के द्वारा ईस्ट इंडिया कंपनी ने बिहार, बंगाल और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त की। यद्यपि 1771 तक ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत में प्रचलित पुरानी भू–राजस्व व्यवस्था को जारी रखा किंतु कंपनी ने भू–राजस्व दरों में वृद्धि की। धीरे–धीरे कंपनी के खर्चों में वृद्धि होने लगी, जिसकी भरपाई करों से की जाती थी, इसलिए करों में वृद्धि की जाती रही। अधिकाधिक धन कमाने की इच्छा से कंपनी ने कृषि व्यवस्था में हस्तक्षेप किया। उद्योगों का बुरा हाल था, जिससे प्रति व्यक्ति आय प्रभावित होती थी।

1.3.2 कृषि और गैर–कृषि उत्पादन

कार्ल मार्क्स ने औपनिवेशिक भारत को आधुनिक पूंजीवाद की आलोचना के लिए एक अच्छे उदहारण के रूप में देखा। भारत में ब्रिटिश शासन के परिणाम में मार्क्स ने 'भारतीय कृषि के जबरन परिवर्तन और उसके परिणामस्वरूप भारत के आत्मनिर्भर गांव, समाज का विनाश' के रूप में वर्णन किया है।

18वीं शताब्दी में 80% जनसंख्या गांवों में निवास करती थी, जिसमें कृषि पर आधारित वर्ग की बहुतायत थी। लघु उद्योग एवं व्यापार आदि की अच्छी वृद्धि के बाद भी तत्कालीन आर्थिक गतिविधियों में कृषि कार्य सर्वोपरि था। ऐतिहासिक स्रोतों एवं विदेशी यात्रियों के विवरण से हमें जानकारी प्राप्त होती है, परंतु इस काल में कृषि उत्पादन किस प्रकार से होता है? परिस्थितियों के अनुरूप कृषि कार्य को ढालकर उत्पादन में विशिष्टता का सूत्रपात कैसे किया जाता था? तत्कालीन कृषि प्रणाली पर विवरण अत्यल्प है, फिर भी यत्र–तत्र इस संदर्भ में भी विवरण प्राप्त होता है। उसके आधार पर तत्कालीन कृषिगत विशिष्टता का आकलन संभव है।

18वीं शताब्दी में सामंतों के कारण कृषि की दुर्दशा हो गई थी। आक्रमणों के कारण उद्योगों से उन्नत हुए नगर उजड़ गए थे। मुगल साम्राज्य की अवनति के कारण कानून और नियमों का पालन नहीं होता था, न ही उद्योग, व्यापार अच्छी तरह चल रहे थे। 18वीं सदी में कृषि वर्षा पर आधारित थी, वर्षा अधिक होने या कम होने पर कृषकों को कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। सिंचाई के कृत्रिम साधन भी उपलब्ध थे।

ब्रिटिश कृषि क्रांति या दूसरी कृति क्रांति, 17वीं व 19वीं शताब्दी के मध्य में श्रम और भूमि उत्पादकता में वृद्धि के कारण ब्रिटेन में कृषि उत्पादन में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। किंतु भारतीयों को इसका कोई लाभ नहीं हुआ।

औपनिवेशिक काल से पहले भारतीय अर्थव्यवस्था प्रमुख रूप से एक कृषिजन्य अर्थव्यवस्था थी। कृषि उस समय लोगों का मुख्य व्यवसाय था और वस्त्र, चीनी, खाद्य, तेल इत्यादि जैसे उद्योग इस पर निर्भर थे। अंग्रेज द्वारा भारत में भू–राजस्व निर्धारण और संग्रहण के नये तरीके लागू करने से ब्रिटिश पूर्व कृषि प्रणाली और भारतीय ग्रामीण समाज की आत्मनिर्भरता नष्ट हो गई।

(अ) 18वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की स्थिति

वोल्कर रिपोर्ट के अनुसार, "गेहूं की फसल तो भारतीय बहुत शताब्दियों पहले से उगाते रहे हैं, जो कि ब्रिटिश वासियों के लिए आश्चर्यजनक है, किंतु भारतीयों के पास साधन सीमित थे जो कि उन्हें बड़ी फसलों को उगाने से रोकता है। जैसे– खाद पानी की आपूर्ति इत्यादि। लेकिन कृषि के साधारण कार्य, मिट्टी व उपकरणों का ज्ञान तथा बीज को ठीक ढंग से बोने के तरीके, सही तरीके से भूमि को साफ करना, भारतीय कृषि में बेहतर उदाहरण है। ऐसा उदाहरण केवल भारतीय कृषि में ही मिलता है जबकि यह मात्र एक साधारण स्तर है। मिश्रित कृषि की व्यवस्था तथा फसलों के रोटेशन की जानकारी इत्यादि आश्चर्यजनक है।" वोल्कर बताते हैं कि मैंने अपने पूरे भारत भ्रमण के अलावा इतनी अधिक श्रम दृढ़ता, कठिन मेहनत, संसाधन की उर्वरता एक साथ इससे पहले कहीं नहीं देखी। कृषि बेहतर स्थिति में थी। किंतु सुधार के लिए यह आवश्यक नहीं है कि नई मशीनों का प्रयोग किया जाए। भारतीय बेहतर कृषि जानते थे। नई भू–राजस्व प्रणालियां लागू करने से तात्पर्य मात्र अपना व्यापार बढ़ाना था।

कृषि उत्पादन– भारत में बड़े पैमाने पर गेहूं का उत्पादन होता रहा है। देश भर में गेहूं और चावल मुख्य खाद्य फसलें थीं। जो केंद्रीय मैदानों में बड़े पैमाने पर उगाई जाती थी। ज्वार और बाजरा भी बड़े पैमाने पर उगाये जाते थे। मक्का राजस्थान और महाराष्ट्र में बड़े ट्रैक्ट में उगाया जाता था। चना, ज्वार, मूंग, मोठ, उड़द और खेसारी जैसी दालें भी काफी उपयोग में थी। खाद्य पदार्थों के अलावा, चीनी, बेंत, कपास, इंडिगो और अफीम जैसी बेहतर ग्रेड की फसलों को भी बड़े पैमाने पर बाजार में आपूर्ति के लिए उगाया जाता था।

तम्बाकू की खेती भी 16वीं शती के दौरान भारत में शुरू हुई थी और इसे पुर्तगालियों द्वारा भारत में पेश किया गया था। कॉफी की खेती 17वीं शता. से जानी जाती है। रेपसीड, अलसी और अरंडी से तेल निकाला जाता था, जिन्हें बड़े पैमाने पर उगाया जाता था। अन्य तेल बीजों की खेती अपेक्षाकृत कम थी। बंगाल, असम, कश्मीर और पश्चिमी तट के प्रांतों में सेरीकल्चर किया गया। शासकों द्वारा और बड़े रईसों द्वारा बागवानी का संरक्षण किया गया था। अनानास को लैटिन अमेरिका के पुर्तगालियों द्वारा भारत लाया गया था।

पपीता, काजू, लीची और अमरूद उन्हें ज्ञात थे। आलू और टमाटर 17वीं शताब्दी में और उसके बाद पेश किए गए थे।

गैर कृषि उत्पादन

1918 ई. में प्रकाशित प्रथम औद्योगिक रिपोर्ट में कहा गया है कि जिस समय आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था के जन्म स्थान पश्चिमी यूरोप में असभ्य जाति निवास करती थी, उस समय भारत अपने शासकों के वैभव और शिल्पकारों की उच्च कोटि की कलात्मक कारीगरी के लिए विख्यात था। काफी समय बाद भी जब पश्चिम के साहसी सौदागर पहली बार भारत पहुंचे तब भी इस देश का औद्योगिक विकास किसी भी कीमत पर विकसित यूरोप के देशों से कम नहीं था।

1616 ई. से 1619 ई. के समय का वर्णन करते हुए टेरी ने लिखा है, "रंग और छापे का काम भी भारत में इस समय श्रेष्ठ था। पक्के रंगों का प्रयोग किया जाता था और सुंदर चित्र और बेलबूटे बनाए जाते थे। यद्यपि सूती कपड़े की तुलना में रेशमी कपड़े की बुनाई का काम कम होता था फिर भी यह एक महत्वपूर्ण हस्तकला उद्योग था।" कालीन, शॉल उद्योग, काष्ठ उद्योग, चमड़ा, स्वर्ण, चीनी, हाथी दांत उद्योग विश्व भर में प्रसिद्ध थे। 17–18वीं शताब्दी में भारत विश्व का एक प्रमुख औद्योगिक केंद्र था। 17वीं शताब्दी के मध्य बर्नियर नामक फ्रांसीसी यात्री ने लिखा है, "भारतवर्ष को छोड़ कर कोई भी देश ऐसा नहीं था जहां इतनी विभिन्न प्रकार की वस्तुएं पाई जाती हों।" बर्नियर एक बहुत बड़े कमरे का विवरण देता है जिसे वह कारखाने के नाम से पुकारता है। वह लिखता है, "एक बड़े कमरे में निपुण कार्यकर्ता के निरीक्षण में, दूसरे में सुनार, तीसरे में चित्रकार, चौथे में वार्निश करने वाले, पांचवें में बढ़ई, खरादी, दर्जी, मोची, छठे में रेशम जरी और बारीक मलमल के उत्पादक।"

डॉ. राधाकमल मुखर्जी ने अंग्रेजों के भारत में आने से पहले भारतीय उद्योगों को वर्गीकृत करते हुए बताया है कि कृषक अवकाश काल में घरेलू आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु ग्रामीण उद्योग करते थे जिसमें सरकंडे, घास, बांस, मिट्टी, ऊन, सूत आदि का प्रयोग होता था। कृषि कार्य में प्रयोग होने वाली सामग्री लुहार, बढ़ई, कुम्हार आदि बनाते थे। गांव के कलामक उद्योग जो कि उच्च कोटि की ग्रामीण कला के प्रतीक थे, जिनकी समुद्र पार देशों में अधिक मांग थी।

1707 में केंद्रीय सत्ता के शिथिल होने पर उद्योगों का विनाश होना प्रारंभ हो गया। भारतीय रियासत के शासक परंपरागत भारतीय कुटीर उद्योगों के संरक्षक थे, वे कुशल शिल्पियों और कारीगरों को निरंतर सहायता और संरक्षण दे कर प्रोत्साहित करते थे। भारत में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना के बाद देसी राज्यों का अंत होने लगा और कंपनी की शासन व्यवस्था स्थापित होने लगी, जिसका परंपरागत हस्तकलाओं ओर उद्योगों पर विपरीत प्रभाव पड़ा और बड़ी संख्या में शिल्पी बेरोजगार हो गए।

(ब) 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की स्थिति

1757 में प्लासी के युद्ध से भारत में ब्रिटिश उपनिवेश की नींव पड़ी। उस समय ईस्ट इंडिया कंपनी ने बंगाल पर अपना नियंत्रण जमा लिया। बाद में ब्रिटेन के सामाजिक–आर्थिक संगठन और उसकी विकसित प्रौद्योगिकी ने भारत पर धीरे–धीरे अपनी औपनिवेशिक पकड़ मजबूत करने में मदद की। बिटिश सरकार ने भारत में एक

समान भू–राजस्व नीति लागू नहीं की थी। मुख्य रूप से उसने भारत में तीन प्रकार की भू–राजस्व नीतियां प्रयुक्त कीं– स्थायी बंदोबस्त, महालवाड़ी और रैयतवाड़ी प्रणाली।

टिप्पणी

स्थायी बंदोबस्त अथवा जमींदारी प्रथा को बंगाल, बिहार, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश के वाराणसी प्रभाग तथा उत्तर कर्नाटक में लागू किया गया था, यह ब्रिटिश भारत के कुल क्षेत्र का लगभग 19% था। इस व्यवस्था के अंतर्गत जमींदारों के एक नए वर्ग को भू–स्वामी घोषित किया गया। उन्हें भू–राजस्व वसूल करना होता था, जिसका 10वां अथवा 11वां भाग वे पारिश्रमिक के रूप में अपने पास रख सकते थे तथा शेष कंपनी के पास जमा करना होता था। आरंभ में स्थायी बंदोबस्त अस्थायी था, किंतु 1793 में कार्नवालिस ने इसे स्थायी बंदोबस्त बना दिया।

इस प्रकार जमींदारों को अपनी स्वेच्छानुसार काश्तकारों का शोषण और उत्पीड़न करने की स्वतंत्रता प्रदान की गई। जनसंख्या वृद्धि, कृषि विस्तार, मूल्य वृद्धि और भूमि की बढ़ती हुई कमी के कारण जमींदारों की स्थिति शक्तिशाली हुई। काश्तकार निरंतर गरीब होते चले गए। उचित खाद, बीज आदि के अभाव में कृषि उत्पादन भी तेजी से कम होने लगा। राष्ट्रवादियों व ब्रिटिश राजनेताओं दोनों ने यह स्वीकारा कि जमीदारी क्षेत्रों में कृषिजन्य अर्थव्यवस्था की स्थिति भयंकर रूप से चिंताजनक हो गई थी।

ब्रिटिश लोगों द्वारा लागू की गई दूसरी राजस्व व्यवस्था रैयतवाड़ी व्यवस्था थी, जिसे सबसे पहले थामस मुनरो और कैप्टन रीड द्वारा तमिलनाडु में लागू किया गया। इस प्रथा के अंतर्गत रैयतों को भूमि के मालिकाना और कब्जादारी अधिकार दिए गए और ये प्रत्यक्ष रूप से या सीधे तथा व्यक्तिगत रूप से स्वयं सरकार को भू–राजस्व का भूगतान करने के लिए उत्तरदायी थे। इस व्यवस्था ने कृषक भू–स्वामित्व की स्थापना की। इस व्यवस्था की मुख्य विशेषता यह थी कि "कृषकों के भू–राजस्व का व्यक्तिगत रूप से निर्धारण, खेतों की पैमाइश और कृषि उत्पादन का आकलन, उपज के 55% भाग को सरकार द्वारा भू–राजस्व के रूप में निर्धारित किया गया।" इस प्रथा के अंतर्गत भूमि की पैमाइश दोषपूर्ण थी। कृषि उत्पादन का आकलन गलत था। भू–राजस्व की दर बहुत अधिक थी। वैंकटसुब्बैया ने इस संबंध में ठीक ही टिप्पणी की, "इस भू–राजस्व व्यवस्था का वास्तविक क्रियान्वयन निराश की एक दुखद दासतां है।" इस प्रथा में जमीदार के स्थान पर किसानों को मालिक बना दिया, किंतु उसकी हालत में सुधार नहीं हुआ। पहले तो भूमि की कीमत इतनी बढ़ गई कि बाजार में इस मूल्य पर भूमि खरीदना भी अलाभकारी हो गया था। दूसरा राजस्व वसूली के तरीके इतने कठोर थे कि रैयतवाड़ी क्षेत्रों में किसान महाजनों के चंगुल में फंस गए।

इन दोनों व्यवस्थाओं के असफल होने के पश्चात महालवाड़ी व्यवस्था अपनायी गई। जिसमें भू–राजस्व का निर्धारण संपूर्ण ग्राम के उत्पादन के आधार पर किया जाता था और महाल के समस्त कृषक भू–स्वामियों के भू–राजस्व का निर्धारण संयुक्त रूप से किया जाता था किंतु राजस्व की अदायगी कृषक भू–स्वामियों द्वारा व्यक्तिगत रूप से की जाती थी। इस द्वि–व्यवस्था के अंतर्गत (क) भूमि के मालिकाना और कब्जेदारी के अधिकार व्यक्तिगत कृषक भू–स्वामी को प्राप्त थे और वे व्यक्तिगत रूप से खेती करते थे, (ख) कृषक सरकार को भू–राजस्व का भुगतान करने के लिए संयुक्त रूप से उत्तरदायी थे।

अन्य दो व्यवस्थाओं के असफल हो जाने के पश्चात इस प्रथा ने मध्यम मार्ग अपनाया। इस प्रकार योजना तो बहुत अच्छी थी किंतु हमेशा की तरह इसे क्रियान्वित नहीं किया गया। वास्तविक स्थिति यह थी कि अधिकार सभी ग्रामवासियों को न देकर केवल ग्राम के बड़े परिवारों के कुछ समूहों को दिए गए, जिससे किसानों की स्थिति काश्तकारों, शिकमी काश्तकारों, बटाइदारों के उपमालिकों जैसी थी। अतः कृषि की कोई प्रगति नहीं हुई, इसका परिणाम ग्रामीण समुदाय के विखंडन के रूप में सामने आया।

गैर–कृषि उत्पादन

कृषि की भांति गैर–कृषि उत्पादन क्षेत्र में भी भारतीयों का पतन हुआ। ब्रिटिश शासन से पूर्व ग्रामीण उद्योग, संतुलित और आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था के अभिन्न अंग थे। भारतीय ग्राम अपनी औद्योगिक आवश्यकताओं को स्थानीय रूप से पूरा करने में सक्षम थे। ग्रामीण आर्थिक संबंधों की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि ग्रामीण कारीगरों की स्थिति ग्रामीण समुदायों के नौकरों की भांति थी। कार्ल मार्क्स ने ठीक ही लिखा है, "ब्रिटिश घुसपैठियों ने भारतीय हथकरघा उद्योग को नष्ट कर दिया तथा हथकरघा को किनारे कर दिया और सूती वस्त्रों के जन्मदाता देश में ही सूती वस्त्रों की भरमार कर दी।"

18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बंगाल में भारी मात्रा में धन बाहर जाने से बंगाल पूरी तरह बर्बाद हो गया। जनसंख्या घट कर एक तिहाई रह गई और प्रांत का एक तिहाई भाग जंगल बन गया जिसमें केवल जंगली जानवर ही रहते थे। आरंभिक काल में अंग्रेज शासकों ने राजनीतिक अधिकार पाकर भारतीयों की कीमत पर जानबूझ कर ब्रिटिश व्यापार और वाणिज्य के विकास को बढ़ाया दिया। इसके साथ–साथ किसानों की निर्धनता से समस्त विश्व का सबसे धनी सबसे गरीब देश बन गया। यह परिवर्तन ब्रिटिश शासन की स्थापना के तुरंत बाद हुआ और भारत के व्यापार तथा उद्योग और किसानों को बर्बाद करने में ब्रिटिश एजेंसी का हाथ स्पष्ट रूप से परिलक्षित हुआ। 18वीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों में, "भारत के छपे हुए सूती वस्त्र, परिधान और घरों में निर्मित वस्त्रों को इंग्लैंड में इतने व्यापक रूप से उपयोग में लाया जाने लगा कि इंग्लैंड के ऊनी और रेशमी वस्त्र निर्माताओं के लिए भारी खतरा पैदा हो गया।" ब्रिटेन के इन बुनकरों को बचाने के लिए अनेक प्रतिबंधात्मक और व्यय नियंत्रक कानून पारित किए गए। कंपनी के वरिष्ठ कर्मचारी वोल्टस ने सन् 1772 में लिखा कि "जो बुनकर कंपनी के बजाय दूसरे खरीदारों को अपना माल बेचने का दुस्साहस करते थे उनका माल जब्त कर लिया जाता था और उन्हें अपने हस्त–शिल्प, जिसे वे बहुमूल्य मानते थे, से भी बड़े तिरस्कृत ढंग से वंचित किया जाता था, उन्हें जेल में डाल दिया जाता था, रेशमी वस्त्र बनाने से रोकने के लिए उनके अंगूठे काट दिए जाते थे।"

इस प्रकार भारत में समस्त लघु उद्योग व हस्तशिल्प इत्यादि का पूर्णतः पतन हो गया।

1.3.3 तकनीकी और उत्पादन की प्रविधियां

उत्पादन और तकनीक की विधियों को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है–

रोपण और उत्पादन तकनीकी– खेतों में बीज रोपित करने के पूर्व हल द्वारा खेतों की जुताई की जाती थी। इसमें मिट्टी के बड़े ढेले टूट–फूट जाते थे और मिट्टी ढीली पड़ जाती थी। खर–पतवार साफ कर उसमें बीच बोये जाते थे।

बीज बोने की कई विधियां थीं, जिसमें छिड़क कर बोना सबसे आसान विधि थी। कुछ फसलों जैसे कपास आदि के रोपड़ में किसान 'ड्रिल यंत्र' का प्रयोग करते थे। इस यंत्र द्वारा बीज बोने की प्रक्रिया को 'डिबलिंग' कहते थे। इसमें किसान खेत में एक खोखली मेंरव गाड़ कर उसके छिद्र में से कपास के बीज जमीन में डालते थे और ऊपर से उसमें मिट्टी भर देते थे। ऐसा अधिक उत्पादन की दृष्टि से किया जाता था।

धान की बुवाई में धान के बीज खेत के एक हिस्से में मानसून के पूर्व छींट कर पानी दे दिया जाता था। अंकुरण के पश्चात पौधे कुछ बढ़ जाते थे, फिर उन्हें सावधानीपूर्वक जड़ सहित निकाल कर पानी से भरे खेत में अपेक्षित दूरी रखते हुए पंक्ति में रोपित किया जाता था। यह पद्धति आज भी भारत में प्रचलित है।

सिंचाई– साधारणतया भारत में सिंचाई का मूल स्रोत मानसून ही था, इसलिए भारत की भूमि उपजाऊ थी। कृषकों को कृत्रिम सिंचाई की जानकारी भी थी–

- **कुएं** : 17 व 18वीं शताब्दी में कुएं प्रायः कच्चे ही पाये जाते थे क्योंकि पक्की ईंटों का कुआं काफी खर्चीला था। तत्कालीन समय में अजमेर के मेड़ता परगना में 6000 कुओं में मात्र 20 कुएं पक्के थे, पूर्वी राजस्थान में 528 कुओं में मात्र 41 ही पक्के कुएं थे। कुओं से पानी निकालकर नालियों के माध्यम से खेतों तक पहुंचाने की कई विधियां थीं।
- **रहट** : रहट को अंग्रेजी में 'पर्सियन व्हील' के नाम से जाना जाता है। भारत में रहट का वास्तविक समय 13वीं या 14वीं शताब्दी माना जाता है। प्रारंभ में यह मात्र धनी किसानों के पास ही होता था, बाद में 17वीं शती तक यह आम किसानों तक भी पहुंच गया था। यह विधि कठिन थी। इसमें कुएं की घिरनी पर रस्सी बांधी जाती थी, जिसके एक सिरे पर थैला बंधा होता था और एक सिरे पर बैल। बैल जब कुएं के पास आता तो थैला कुएं से नीचे जाकर पानी से भर जाता तो एक व्यक्ति बैल को हांक कर कुएं से दूर ले जाता, तब वह थैला ऊपर आ जाता तथा दूसरों व्यक्ति उस थैले को नाली में खाली करके पानी नालियों के माध्यम से खेत में पहुंच जाता था।
- **ढेकली** : इस उपकरण में नीचे उथले कुएं के किनारे पर खूटी गड़ी होती थी, और दूसरे किनारे पर कांटेनुमा हिस्सा लगा रहता था। इस कांटे के बीच में एक लंबा खंबा उत्तोलक के सिद्धांत के अनुसार लगा रहता था। इस खंबे में कुएं के किनारे पर बाल्टी लटकी होती थी और दूसरे किनारे पर भारी पत्थर होता था। एक आदमी रस्सी खींचकर यंत्र चला सकता था।
- **नहरें** : भारत के उत्तरी मैदान, विशेष रूप से ऊपरी गंगा एवं सिंधु क्षेत्र में सिंचाई हेतु अनेक नहरें निर्मित की गई। नहरें दो प्रकार की होती थी– प्राकृतिक एवं मानव निर्मित। नदियों द्वारा अपना मार्ग बदल लेने से प्राकृतिक रूप से नहरों का उद्‌भव हो जाता था। ऐसी नहरें मुख्य नदी से शाखाओं में बंटकर प्रणालिकाओं के रूप में बहती थी, जिनका प्रयोग सिंचाई हेतु किया जाता था।
- **कृषि यंत्र**– कृषि यंत्रों में हल, फावड़े, कुदाल, खुरपे, जुआठ, पाटा, ड्रील, हंसुआ आदि का प्रयोग सामान्यतः किया जाता था। भारत में खेतों की जुताई के लिए प्रयुक्त किए जा रहे हल को टेरी ने 'फुट प्लाऊ' से संबोधित किया है। जो तत्कालीन यूरोप में प्रयुक्त हो रहे एक प्रकार के हल के समान था।

खाद बीज कीटनाशक– भूमि की उर्वरा शक्ति को स्थापित रखने एवं अधिक उत्पादकता के उद्देश्य से खेतों में विविध प्रकार की खादों का प्रयोग भारत में प्राचीन काल से ही होता रहा है। अर्थशास्त्र में शहद, गोबर, हड्डियां, मछलियों को उर्वरक के रूप में प्रयोग किए जाने का वर्णन मिलता है। इस आधार पर यह अनुमान लगाना कठिन नहीं है कि मुगलकाल में भी लगभग ऐसे ही पदार्थों का प्रयोग खेतों उर्वरक के रूप में होता था।

तटवर्ती क्षेत्रों में कुछ फसलों के उत्पादन में उर्वरक के रूप में मछलियों का प्रयोग किया जाता था। इसके अतिरिक्त फसलों की अदला–बदली की परंपरागत बुवाई के ज्ञान ने भी कृषकों को भूमि की उर्वरा शक्ति को बनाए रखने में विशेष योगदान दिया।

अनाज भण्डारण या संरक्षण तकनीकी– अनाज भंडारण का सामान्य तरीका गड्ढे या खत्तियों में रखने का था, जिससे अनाज को दीर्घकाल तक रखा जा सकता था। ये सूखे स्थान पर बनाई जाती थी। इनकी ऊंचाई निर्माण में प्रयुक्त होने वाली मिट्टी की प्रकृति पर निर्भर थी। इनका निर्माण करते समय अंदर कुछ वनस्पति भस्म की जाती थी, फिर उसमें अनाज भरा जाता था। अब ऊपर से पुआल से ढक कर उसके ऊपर गड्ढे के बाहर निकाला हुआ लगभग 18 इंच ऊंचा मिट्टी का चबूतरा खड़ा किया जाता था जो मानसून से भी टक्कर लेता था। कभी–कभी इन अनाजों के बीच में नीम की पत्तियां भी रखी जाती थी जो कीटाणुनाशक होती हैं।

1.3.4 व्यापार और स्वदेशी बैंक

वैसे तो भारत में बैंकों की सुविधा देने का श्रेय ब्रिटिश सरकार को है किंतु बैंकों की स्थापना भी अंग्रेजों ने स्वयं के फायदे के लिए की थी, हालांकि ऐसा नहीं है कि भारत में कभी भी बैंक प्रणाली कार्यान्वित नहीं हुई।

पूर्व मध्यकाल में बैंक

इस काल में बैंकिंग व महाजनी भी अर्थव्यवस्था का एक महत्वपूर्ण साधन थी। इस समय बैंकिंग में दो प्रकार के लोग जुटे थे– व्यक्तिगत और संस्थागत जिनकी विश्वसनीयता व्यक्तिगत लोगों से अधिक थी। इसमें सम्मिलित रूप से व्यापारिक साझेदारी, संपत्ति का एकीकरण और श्रम संगठन होता था। इतिहास से हमें विभिन्न व्यावसायिक संघों का उल्लेख मिलता है। श्रेणियों की शाखाएं पूरे देश में फैली थी।

बैंकों के कार्य

लिखित जमानत, विश्वास, गवाह के लिखित दायित्व पर ऋण दिया जाता था, जो सिक्के अथवा वस्तुओं के रूप में दिए जाते थे। ये स्थायी, चल, योग्य, समयबद्ध, ऐक्षिक गवाह, लेख प्रमाणित व गवाह प्रमाणित होता था। हुंडी तीसरे पक्ष को ऋण देने के लिए होता था। बैंकर राजा के खजांची या दरबारी होते थे। धन सुरक्षित करने या जमाकर्ता उस पर सूद देने के लिए जमाकर्ता धन जमा करता था। अनेक मंदिर तथा श्रेणियों के पास धन धरोहर के रूप में रखा जाता था, जिसकी देख–रेख का दायित्व उसी पर होता था। इस प्रकार भारत में अंग्रेजों से पूर्व भी बैंकिंग व्यवस्था थी।

भारतीय उपमहाद्वीप में स्वदेशी बैंकों का विकास

स्वदेशी बैंकर निजी फर्म या व्यक्ति होते हैं जो बैंकों के रूप में काम करते हैं, जो पैसे जमा करते हैं और ऋण देते हैं। बैंकों की तरह वे भी वित्तीय मध्यस्थ हैं। उन्हें पेशेवर

साहूकारों से अलग होना चाहिए, जिनका प्राथमिक व्यवसाय बैंकिंग नहीं है, बल्कि धन उधार देना है। एक शुद्ध साहूकार अपने स्वयं के धन को उधार देता है, और एक स्वदेशी बैंकर जमा या अन्य रूपों में जनता से अपने उधार योग्य धन का एक हिस्सा उठाता है। एक साहूकार अपने लेन–देन नकद में करता है, जबकि एक स्वदेशी बैंकर अपने लेन–देन और वाणिज्यिक बिल जैसे अल्पकालिक क्रेडिट साधनों में व्यवहार पर आधारित होता है। उन्होंने न केवल व्यापारियों और उत्पादकों को बल्कि तत्कालीन सरकारों को भी इसका श्रेय दिया। अंग्रेजों के आगमन से उनके व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

धन के रूप में धातु– शुरू में धातु का उपयोग उच्च स्थायित्व और दृश्यता के कारण धन के रूप में किया गया था। वास्तव में धातु पैसे के उपयोग ने लेन–देन की संख्या को बढ़ावा दिया और आर्थिक गतिविधियों को तेज किया।

हुंडी और चिट्ठी– हुंडी और चिट्ठी एक वित्तीय उपकरण था, जिसका उपयोग भारत में प्राचीन काल के दौरान व्यापार और क्रेडिट लेन–देन के लिए किया जाता था। हुंडी एक प्राथमिक और बिना शर्त अनुबंध या आदेश है जो एक मामूली भुगतान का वारंट करता है, जिसे वैध बातचीत द्वारा स्थानांतरित किया जा सकता है।

बैंकों का विकास– मुद्रा के उपयोग के साथ भारतीय बैंकिंग प्रणाली ने भारत में घरेलू और विदेशी व्यापार में धन और वित्त देना शुरू किया और साथ ही बैंकिंग प्रणाली के विकास के लिए लोगों को कीमती वस्तुएं जमा करने के लिए प्रोत्साहित किया, जैसे कि बैंकर, सेठ इत्यादि और धीरे–धीरे पैसा विनिमय का साधन बन गया।

आजीविका और कृषि को अवसर– भारतीय उपमहाद्वीप में कृषि और पशुओं का वर्चस्व था जो आजीविका का महत्वपूर्ण स्रोत था। इसके साथ–साथ लोगों द्वारा आजीविका कमाने के अन्य स्रोत पर भी भरोसा किया जाता था, जैसे– सूती वस्त्र बुनना, रंगाई, मिट्टी के बर्तन बनाना, हस्तशिल्प, मूर्तिकला, कॉटेज उद्योग, चिनाई, विनिर्माण, परिवहन आदि ने अधिशेष पैदा करने में लोगों की मदद की। इससे आगे भविष्य में निवेश के लिए बचाया जा सकता है।

मध्यवर्तियों की भूमिका– मध्यवर्ती और अन्य संस्थाएं जैसे– जगत सेठ, मुगल और ईस्ट इंडिया कंपनी के दिनों में विशेष नियंत्रण और प्रभाव द्वारा विकसित हुए। उन्होंने भारत में व्यापार, वाणिज्य और बैंकिंग के प्रचार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

क्रेडिट लेन–देन– ऋण सुविधाओं के विकास और ऋण की उपलब्धता के साथ वाणिज्यिक गतिविधियों और कार्यों को आगे बढ़ाने और भारतीय उपमहाद्वीप ने व्यापार के अनुकूल संतुलन से लाभ का आनंद लेना शुरू कर दिया।

स्वदेशी बैंकिंग का समावेश– स्वदेशी बैंकिंग प्रणाली ने न केवल व्यापार में सुविधा देकर निर्माता या व्यापारियों को लाभान्वित किया, बल्कि वे उन व्यापारियों को अतिरिक्त धन के साथ मदद करते हैं, जो विस्तार और विकास की तलाश में थे। वाणिज्यिक और औद्योगिक बैंकों की भागीदारी के साथ पत्र, बैंकिंग प्रणाली ने भारत में कृषि परियोजनाओं के वित्त के अल्पकालिक और दीर्घकालिक ऋण दोनों प्रदान करना शुरू कर दिया।

आधुनिक बैंक प्रणाली

आधुनिक भारतीय बैंक प्रणाली के दो महत्वपूर्ण भाग थे– अनौपचारिक क्षेत्र में निजी महाजन घराने आते हैं तथा औपचारिक क्षेत्र में संगठित बैंक। संगठित बैंकों में अनेक अवयव थे जैसे– विनिमय बैंक, भारतीय संयुक्त पूंजी बैंक तथा सहकारिता ऋण प्रदान करने वाली संस्थाएं। विनिमय बैंक विशेषकर विदेश व्यापार तथा भुगतानों से ज्यादा जुड़े हुए थे। भारतीय साहूकार, महाजनों के घराने, किसानों जमीदारों तथा कारीगरों की साख की जरूरतों को पूरा करते थे। ये सभी औचारिक बैंक प्रणाली के अवयव एक ही व्यापार को अलग–अलग चरणों में वित्तीय सहायता देते थे। संगठित बैंकों का विदेश व्यापार, बड़े औद्योगिक प्रतिष्ठानों तथा भुगतानों से बाहर बड़े व्यापक आर्थिक क्षेत्र में कोई बड़ा योगदान नहीं था। व्यापारिक बैंक भी औपचारिक क्षेत्र में बहुत से साख के लेन–देनों का उत्तरदायित्व संभालते थे। वे उत्पादकों को ऋण देने, मुद्राओं को बदलने तथा घरेलू भुगतानों को निपटाने का काम करते थे। भारत में सबसे महत्वपूर्ण समस्या यह रही कि वित्तीय प्रबंधन तथा मुद्रा का प्रबंधन अलग–अलग रहा क्योंकि एक केंद्रीय बैंक के विकास की दिशा में बहुत देर से कदम उठाए गए।

हम जानते हैं कि भारत में सर्राफ एवं साहूकार के रूप में देशीय बैंकिंग प्रणाली काफी पुराने समय से चली आ रही है। जब अंग्रेज ईस्ट इंडिया कंपनी के रूप में व्यापार करने भारत आये तब यह देशीय प्रणाली काफी सशक्त रूप से काम कर रही थी। कई बार कंपनी ने भी इससे उधार लिया तथा एक स्थान से दूसरे स्थान तक धन भेजने के लिए इनकी सेवाओं का प्रयोग किया, किंतु यहां हम अंग्रेजी शासनकाल के दौरान आधुनिक ढंग की बैंकिंग प्रणाली के विकास के बारे में चर्चा करेंगे–

एजेंसी हाउस एवं प्रेसीडेंसी बैंक– अनेक कठिनाइयों के कारण यूरोपीय व्यापारी भारत के परंपरागत देशी बैंकों का अधिक उपयोग नहीं कर सके और उनको अपने व्यवसाय की सुविधा के लिए अपनी ही ओर से किसी बैंकिंग संस्था के विकास की आवश्यकता महसूस होने लगी। इसी आवश्यकता में से 18वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों तथा 19वीं शताब्दी के प्रारंभ में भारत में यूरोपियन एजेंसी हाउस का उदय हुआ। वस्तुतः इन एजेंसी हाउसेज के प्रारंभ को ही हम भारत में आधुनिक बैंकिंग प्रणाली का उदय मानते हैं। ये एजेंसी कुछ सेवानिवृत्त कर्मचारियों तथा कुछ व्यवसायियों ने प्रारंभ की थी। ये एजेंसी मूलतः तो व्यावसायिक इकाइयां थीं किंतु ये अपने व्यवासय के साथ–साथ बैंकिंग कार्य भी करती थी। एजेंसी हाउस के तहत सबसे पहला बैंक 1770 ई. को कलकत्ता में शुरू किया गया। ये एजेंसी बैंक के रूप में जमा स्वीकार करते थे, उधार देते थे और नोट भी जारी करते थे। 1826–32 के व्यावसायिक संकट के बाद एजेंसी बैंक समाप्त हो गए।

18वीं शताब्दी के अंत में बैंक ऑफ कलकत्ता के नाम से नए बैंक की स्थापना हुई और 1806 में इसका नाम बदल कर बैंक ऑफ बंगाल कर दिया गया। 1836 में प्रेसीडेंसी बैंक अधिनियम पास किया। इस अधिनियम के तहत सरकारी वित्तीय सहयोग के आधार पर जिन कुछ बैंकों की स्थाना की गई उन्हें प्रेसीडेंसी बैंक कहा गया। 1840 से पहले चले आ रहे बैंक ऑफ बंगाल को भी प्रेसीडेंसी बैंक का दर्जा दे दिया गया। फिर बैंक ऑफ मद्रास, बैंक ऑफ बॉम्बे को भी प्रेसीडेंसी बैंकों का दर्जा दिया गया। इन्हें नोट जारी करने का अधिकार भी दिया गया तथा कुछ नियंत्रण लगाए गए– विदेशी बिलों का व्यापार करने, विदेशों से उधार लेने पर रोक, 6 महिने से अधिक के लिए उधार न देना, अचल संपत्ति की जमानत पर उधार देने की मनाही।

विभिन्न बैंकों और विभिन्न बैंकिंग कार्यों के बीच तालमेल बनाये रखने के लिए किसी एक प्रमुख बैंक की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। 1913–17 के बैंक संकट ने तो भारत में स्वतंत्र बैंकिंग प्रणाली की कमियों को और भी अधिक उजागर किया। इसके बाद 1921 में इन तीनों बैंकों के सम्मिलन के समय इनकी कुल 70 शाखाएं, पौने 4 करोड़ रुपये की प्रदत्त पूंजी, साढ़े तीन करोड़ रुपये की कुल रिजर्व, 6 करोड़ की सरकारी जमा और 78 करोड़ रुपये की निजी जमा थी।

विनिमय बैंक– ऐतिहासिक दृष्टि भारत में दो प्रकार के बैंक काम करते थे। पहले वर्ग में हम ब्रिटिश वर्ग को शामिल कर सकते हैं, जैसे– चार्टर्ड बैंक ऑफ इंडिया, ऑस्ट्रेलिया एंड चायना (1835), द नेशनल बैंक ऑफ इंडिया (1863), द हांग कांग एंड शंघाई बैंकिंग कारपोरेशन (1864), द मरकेंटाइल बैंक ऑफ इंडिया (1863) और ईस्टर्न बैंक (1910)। दूसरे वर्ग में वे थे जो भारत के साथ अपने देशों के व्यापार के विशेषज्ञ भी थे, जैसे– काम्प्टायर नेशनल डी एन्कम्पटी डी पेरिस (फास), द योकोहामा स्पेसी बैंक (जापान), द ड्यूशित एशियाटिश्ची बैंक (जर्मनी), द इंटरनेशनल बैंकिंग कारपोरेशन (अमेरिका) और द रूसो–एशियाटिक बैंक (रूस) विनिमय बैंकों की आपसी प्रतिस्पर्धा के कारण इनके मार्जिन कम होते रहते थे और अंततोगत्वा उसका लाभ भारतीय आयतकों अथवा निर्यातकों को ही मिलता था, किंतु फिर भी इन विनिमय बैंकों पर सदैव यह आरोप लगाया जाता था कि ये अपने एकाधिकार का नाजायज फायदा उठाकर हमेशा व्यवसाय को नुकसान ही पहुंचाते हैं। इस दृष्टिकोण के कारण ही केंद्रीय बैंकिंग जांच समिति (1831–31) को इन विनिमय बैंकों के बारे में कई शिकायतें की गई थी। किंतु यह भी सच है कि विदेशी विनिमय बैंकों के सामने अपने–अपने देश का हित ही प्रमुख रहता है। वे भारतीय हित के लिए काम नहीं करते थे। मुख्य रूप से उन्हें विनिमय का काम ही सौंपा गया था।

1826 में इंग्लैंड के व्यापारियों के संगठन ने भी ब्रिटिश भारत के लिए एक ग्रेट बैंकिंग संस्था के निर्माण का सुझाव रखा था। वायसराय कौंसिल के भारत के प्रथम वित्तीय सदस्य विल्सन ने 3 मार्च, 1860 को भारतीय विधान परिषद में पेपर करेंसी के बारे में बिल पेश करते हुए, एक राष्ट्रीय बैंकिंग जैसी संस्था की स्थापना का सुझाव दिया गया। 1867 में जी डिकन्सन ने जो कि बैंक ऑफ बंगाल के तत्कालीन सेक्रेटरी एवं ट्रेजरर थे, तीनों प्रेसीडेंसी बैंकों को मिलाकर करेंसी एवं साख पर नियंत्रण रखने की दृष्टि से समूचे देश के लिए एक बैंक बनाने का सुझाव रखा था किंतु यह स्वीकार नहीं किया गया। 1914 में प्रथम विश्व युद्ध के बाद, अंतर्राष्ट्रीय अर्थ परिषद ने ऐसे देशों में जहां बैंक नहीं थे, वहां इनकी स्थापना पर जोर दिया तो भारत में तीन प्रेसीडेंसी बैंकों को मिलाकर 1921 में इंपीरियल बैंक ऑफ इंडिया की स्थापना कर दी गई।

1.3.5 पूर्व–औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में पूंजीवादी परिवर्तन की संभावनाओं पर परिचर्चा

पूंजीवाद समान्यतः उस आर्थिक प्रणाली या तंत्र को कहते हैं जिसमें उत्पादन के साधन पर निजी स्वामित्व होता है। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि सरकारी प्रणाली के अतिरिक्त अपने तौर पर स्वामित्व वाले किसी भी आर्थिक तंत्र को पूंजीवाद तंत्र के नाम से जाना जाता है। दूसरे रूप में पूंजीवादी तंत्र लाभ के लिए चलाया जाता है, जिसमें निवेश, वितरण, आय, उत्पादन, मूल्य, बाजार मूल्य इत्यादि का निर्धारण मुक्त

बाजार में प्रतिस्पर्धा द्वारा निर्धारित होता है। पूंजीवाद एक आर्थिक पद्धति है जिसमें पूंजी के निजी स्वामित्व, उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत नियंत्रण, स्वतंत्र औद्योगिक प्रतियोगिता और उपभोक्ता द्रव्यों के अनियंत्रित वितरण की व्यवस्था होती है।

पूंजीवादी आर्थिक तंत्र को यूरोप में संस्थागत ढांचे का रूप 16वीं सदी में मिलना आरंभ हुआ।

एडम स्मिथ ने अपनी पुस्तक 'द वेल्थ ऑफ नेशंस' में प्राकृतिक आधार पर आर्थिक स्वतंत्रता की बात कही है। उसने पूंजीवाद का नाम नहीं लिया। आर्थिक मामलों में प्राकृतिक स्वतंत्रता को आधार मानकर चलने के संबंध में उनका विश्वास था, जैसा कि अन्य उदारवादियों का भी मत रहा है कि यदि आर्थिक व्यापार को किसी भी नियंत्रण से मुक्त क्रियान्वित होने दिया जाए तो इस स्थिति में उत्पादन वृद्धि अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाएगी, तथा सर्वकल्याणकारी राज्य की स्थापना होगी। एडम स्मिथ का व्यक्तिगत पूंजी तथा स्वतंत्र उद्योग का उदारवादी मत आधुनिक पूंजीवाद का मेरूदंड है।

18वीं सदी में औद्योगिक क्रांति के साथ पूंजीवाद को नया बल मिला। उसके प्रभाव से 1770 ई. और 1840 ई. के मध्य आर्थिक और व्यापारिक क्षेत्रों में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। पूंजीवाद का सिद्धांत सबसे पहले औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप कार्ल मार्क्स के सिद्धांत की व्याख्या के संदर्भ में आया। पूंजीवाद के विषय में विद्वानों के भिन्न–भिन्न मत हैं। कुछ परिभाषाओं का उल्लेख नीचे किया जा रहा है–

परिभाषाएं

लॉक्स एवं हूट के अनुसार, "पूंजीवाद आर्थिक संगठन की एक ऐसी प्रणाली है, जिसमें व्यक्तिगत स्वामित्व पाया जाता है और मानवकृत एवं प्राकृतिक साधनों को व्यक्तिगत लाभ के लिए प्रयोग किया जाता है।"

पीगू ने पूंजीवाद को परिभाषित करते हुए लिखा है– "पूंजीवादी अर्थ प्रणाली वह है, जिसमें उत्पत्ति के भौतिक साधनों का अधिकार अथवा उपयोग का अधिकार कुछ ही व्यक्तियों के पास होता है और इन साधनों का संचालन इन व्यक्तियों के पास होता है और इन साधनों का संचालन इन व्यक्तियों द्वारा इस प्रकार किया जाता है कि इनकी सहायता से जो वस्तुएं अथवा सेवाएं उत्पन्न हो उनके द्वारा लाभ कमाया जाये। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था वह है, जिसमें उत्पत्ति के साधनों का प्रमुख भाग पूंजीवादी उद्योगों में कार्यरत होता है।"

बेंहम के अनुसार, "पूंजीवादी अर्थव्यवस्था आर्थिक तानाशाही की प्रतिरोधी है। उत्पादन के क्षेत्र में कोई केंद्रीय आयोजन नहीं होता है। राज्य के द्वारा लगाए गए प्रतिबंधों को छोड़कर प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार कार्य करने को स्वतंत्र होता है।"

जी.डी.एच. कोच के अनुसार, "पूंजीवाद लाभ के लिए उत्पादन की वह प्रणाली है, जिसके अंतर्गत उत्पादन के उपकरणों तथा व्यक्तिगत स्वामित्व होता है तथा उत्पादन मुख्य रूप से श्रमिकों द्वारा किया जाता है तथा इस उत्पादन पर पूंजीपति स्वामियों का अधिकार होता है।

सिडनी वैब और बी. वैब के अनुसार, "पूंजीवाद या पूंजीवादी प्रणाली या पूंजीवादी सभ्यता शब्द का अर्थ उद्योगों और कानूनी संस्थाओं के विकास की उस अवस्था से है जिसमें श्रमिकों का एक वर्ग अपने आपको उत्पादन साधनों के स्वामित्व से अलग पाता है और मजदूरी कमाने वालों में सम्मिलित हो जाता है।"

डॉ. भारतन कुमारप्पा ने अपनी पुस्तक 'Capitalism, Socialism and Villagism' में पूंजीवाद को परिभाषित करते हुए लिखा है– "यह एक आर्थिक व्यवस्था है, जिसमें वस्तुओं का उत्पादन और वितरण व्यक्तिगत इकाइयों या व्यक्तियों के समूह द्वारा किया जाता है। ये व्यक्ति अपने संचित धन का प्रयोग धन के और अधिक संचय के लिए करते हैं।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि पूंजीवाद एक ऐसी प्रणाली को व्यक्त करता है जिसमें अधिकांश श्रमिक उत्पत्ति के साधनों पर अधिकार से वंचित कर दिए जाते हैं और केवल मजदूर की श्रेणी में जीवनयापन करते हैं। ऐसे श्रमिकों की आजीविका उनकी सुरक्षा और व्यक्तिगत स्वतंत्रता उन मुट्ठी भर पूंजीपतियों पर निर्भर करती है जिनका उत्पत्ति के समस्त साधनों– भूमि, पूंजी, श्रम संगठन आदि पर अधिकार होता है और जो सदैव व्यक्तिगत लाभ की भावना से आर्थिक क्रियाएं करते हैं। पूंजीवाद के विषय में पूर्ण जानकारी के पश्चात ही हम पूंजीवाद से आये परिवर्तनों की चर्चा करेंगे। संक्षेप में यहां हम पूंजीवाद की विशेषताओं और दोषों का अध्ययन करेंगे–

पूंजीवाद की विशेषताएं

पूंजीवाद की कुछ विशेषताएं निम्नलिखित हैं–

1. पूंजीवादी आर्थिक प्रणाली स्वयं संचालित होती है और उसमें किसी प्रकार के सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं होती है। इस प्रणाली में व्यक्ति स्वयं हित के उद्देश्य से क्रियाशील होते हैं और उसे अपनी इच्छानुसार अपनी आय और अपने संसाधनों पर अपने स्वयं के विवेक के प्रयोग करने का पूर्ण अधिकार होता है।
2. पूंजीवादी आर्थिक प्रणाली में व्यक्तिगत लाभ को अधिकतम करने की चेष्टा, आर्थिक स्वतंत्रता एवं स्पर्धा जैसे घटक समाज के संसाधनों के अनुकूल प्रयोग संभव बनाते हैं। संसाधनों के अधिकतम उत्पादकता वाले क्षेत्र में स्थानांतरित होने के कारण उत्पादकता में वृद्धि का दूसरा कारण यह है कि उत्पादकों एवं वितरकों में बाजार पर नियंत्रण के लिए पारस्परिक प्रतिस्पर्धा होती रहती है, जिसके कारण प्रत्येक उत्पादक अपनी उत्पत्ति की मात्रा में वृद्धि करने के लिए सदैव सचेत रहता है।
3. पूंजीवादी आर्थिक प्रणाली प्रोत्साहनमूलक है, जिसके अंतर्गत उत्पत्ति के क्रियाशील साधनों को यथेष्ठ उत्साह प्रदान किया जा सकता है। इसमें व्यक्तिगत लाभ का उद्देश्य, जो पूंजीवाद की आधारभूत विशेषता हे, एक सबल प्रोत्साहनमूलक तत्व है।
4. अमेरिकी अर्थव्यवस्था में आय की असमानताओं के होते हुए भी समुदाय का प्रत्येक वर्ग देश के विकास एवं बढ़ती हुई आय से लाभान्वित हुआ है।
5. पूंजीवादी प्रणाली में उत्पादक अधिकतम लाभ के उद्देश्य से सदैव नई–नई उत्पादन तकनीकों को विकसित करने के लिए प्रयास करता है और आविष्कार एवं अन्वेषण उसकी आर्थिक क्रियाओं का अभिन्न अंग बन जाता है।
6. पूंजीवाद संसाधनों का पारस्परिक प्रतिस्थापन करके संसाधनों के अनुकूलतम प्रयोग को संभव बनाता है।

7. पूंजीवादी आर्थिक प्रणाली में बचत, विनियोग एवं पूंजी निर्माण की दर अधिक होने के कारण विकास की दर तीव्र गति से बढ़ती है।

पूंजीवादी व्यवस्था के दोष

1. पूंजीवादी आर्थिक प्रणाली में आय और संपत्ति का असमान वितरण होता है जो समाज में सामाजिक एवं राजनीतिक विषमताएं उत्पन्न करता है। समाज में गरीब और अमीर के बीच की खाई बढ़ जाती है, और समाज दो वर्गों में बंट जाता है, जिसके कारण समाज में वर्ग संघर्ष उत्पन्न होता है।
2. साधन संपन्न और अपेक्षाकृत कम क्षमता वाले लोग उत्पत्ति की क्रियाओं पर आधिपत्य स्थापित कर लेते हैं और अपेक्षाकृत अधिक उत्पादन क्षमता वाले श्रमिक साधनों के अभाव में उत्पादन क्रिया में स्वतंत्र रूप से भाग नहीं ले पाते हैं।
3. आय की असमानता पूंजीवादी आर्थिक प्रणाली के निजी संपत्ति के अधिकार के कारण उत्पन्न होती है।
4. पूंजीपतियों की लाभ में वृद्धि करने की लिप्सा उत्पादन की प्रक्रिया को पूंजी गहन बना देती है। जिसके कारण श्रमिकों की आर्थिक स्थिति और दयनीय हो जाती है और इसलिए व्यक्तियों में बेरोजगारी के कारण उनकी आर्थिक स्थिति और दयनीय हो जाती है। दूसरे शब्दों में पूंजीवादी आर्थिक प्रणाली में श्रमिकों की कोई सुरक्षा नहीं होती है और सदैव अपने निष्कासन से भयभीत रहते हैं।
5. पूंजीवादी प्रणाली में पूर्ण प्रतियोगिता की उपस्थिति अपरिहार्य होने के कारण एकाधिकारी प्रवृत्तियों का बढ़ना पूंजीवादी देशों की अर्थव्यवसाि में दृष्टिगोचर होता है।
6. केंद्रीकृत नियोजन की अनुपस्थिति के कारण पूंजीवादी प्रणाली में उत्पादन अनियोजित रहता है। स्पर्धा के कारण प्रत्येक उत्पादक अधिक से अधिक लाभ अर्जित करने का प्रयास करता है। जिसके कारण अर्थव्यवस्था में अति–उत्पादन की दशा उपस्थित होती है और व्यापार चक्र भी सामने आते हैं जो अर्थव्यवस्था की असंतुलित दशाओं के कारण उपस्थित होते हैं जो अर्थव्यवस्था की असंतुलित दशाओं की सूचना देते हैं।
7. पूंजीवादी आर्थिक प्रणाली में मांग एवं पूर्ति बलों के स्वतंत्र कार्य करने के कारण समय–समय पर मांग एवं पूर्ति बलों में असंतुलन उपस्थित होते रहते हैं जिसके कारण व्यापार चक्र के उच्चावचन, अर्थव्यवस्था में आर्थिक अस्थिरता बनाए रखते हैं।
8. इसमें आर्थिक प्रणाली में पूर्ण रोजगार स्तर पर अर्थव्यवस्था को लंबे समय तक बनाए रखना संभव नहीं, लाभ की इच्छा में जब उद्यमी उत्पादन करते चले जाते हैं तब अति उत्पादन की समस्या उत्पन्न होती है, जिसके कारण उद्यमी उत्पादन स्तर का संकुचन करते हैं। परिणामस्वरूप बेरोजगारी एवं गरीबी की समस्या उत्पन्न होती है।

स्पर्धात्मक आर्थिक प्रणाली में यह मान लिया गया कि यह स्वयं संचालित होती है और पूर्ण रोजगार के बिंदु को इस प्रणाली से सहज रूप से प्राप्त कर लिया जाता है। किंतु 1930 की महामंदी के बाद प्रो. जे.एम. कीन्स ने अपने रोजगार सिद्धांत में यह

टिप्पणी

स्पष्ट किया है कि संतुलन पूर्ण रोजगार के बिंदु पर नहीं मिलता बल्कि पूर्ण रोजगार स्तर से पहले ही अर्थव्यवस्था संतुलन की दशा प्राप्त कर लेती है। जिसे प्रो. कीन्स ने पूर्ण रोजगार की पूर्व दशा कहा है।

इस प्रकार पूंजीवादी प्रणाली में पूर्ण रोजगार स्तर प्राप्त न होने के कारण प्राकृतिक एवं मानवीय संसाधनों का संपूर्ण प्रयोग नहीं हो पाता जिसके कारण समाज में संसाधनों का अपव्यय होता है।

पूंजीवाद परिवर्तन की संभावना

इस विषय पर सबसे पहले यह जानना आवश्यक है कि भारत के उपनिवेश बनने से पूर्व व उपनिवेश बनने के बाद क्या परिवर्तन हुए और क्या भारत पहले अधिक सुदृढ़ व समृद्ध था या उपनिवेश बनने के बाद। दोनों ही परिस्थितियों में यह देखना आवश्यक है कि क्या भारत के लिए औपनिवेशिक स्थिति ही लाभकर थी? इस स्थितियों पर काफी समय से इतिहासकारों में परिचर्चा होती आई है।

आज ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विकास की समस्या को देखने की आवश्यकता सारे विश्व में व्यापक रूप से महसूस किया जा रहा है। इस संबंध में आधुनिक भारतीय इतिहास के अध्ययन का महत्व इस वजह से और भी अधिक है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारत के आर्थिक विकास (पूंजीवादी अथवा समाजवादी) की प्रक्रिया और स्वरूप एक बड़ी हद तक विरासत में मिले हुए ढांचे पर निर्भर करते हैं।

पूर्व औपनिवेशिक काल में मुगलों के पतन को ही अराजकता और अस्थिरता का प्रतीक मान लिया गया और एक तरह से यह आर्थिक ह्रास का काल था। यही विचार समकालीन फारसी लेखकों और बाद में अंग्रेजी विद्वानों ने भी रखे थे। सी.ए. बेली, आंद्रे विक और मुज्जफर आलम जैसे कई विद्वान साबित कर रहे हैं कि 18वीं सदी में आर्थिक ह्रास और विघटन के कोई ठोस सबूत नहीं मिलते। इन्होंने तर्क दिया है कि केंद्रीय शक्ति या मुगल साम्राज्य के स्थान पर क्षेत्रीय राज्य व्यवस्थाओं का उदय अवनति और पतन नहीं माना जा सकता। इनकी मान्यता है कि दिल्ली–आगरा क्षेत्र पर अपनी नजर केंद्रित करने और मुगल दरबार और इसकी प्रशासनिक व्यवस्था (जैसे– मनसबदारी, जागीरदारी) पर सारा ध्यान केंद्रित करने से और क्षेत्रीय इतिहास को अनदेखा करने से भ्रांति होती है कि पतन घोर आर्थिक विघटन को पैदा करता है। ये विद्वान महसूस करते हैं कि एक तरफ जहां दिल्ली, आगरा और लाहौर जैसे आर्थिक और व्यापारिक केंद्रों का महत्व घटा तो दूसरी तरफ बनारस, पटना, लखनऊ और पूना जैसे अन्य आर्थिक केंद्रों का विकास हुआ।

सी.ए. बेली का मानना है कि मुगल परंपराओं में एक इजारेदारी भी थी जो बढ़ते हुए कृषि के वाणिज्यीकरण के कारण उत्पन्न हुई। यह प्रणाली नए क्षेत्रीय भू–संपत्तिवान वर्गों के विकास पर टिकी हुई थी ओर इसने कृषि क्षेत्र के तहत मुद्रा प्रचलन को अत्यधिक बढ़ावा दिया। शहरों में केंद्रित नए जमीदार वर्ग और बढ़ते मुद्रा प्रचलन में लेखा–जोखा रखने वाले व्यावसायिक सेवा देने वाले कुलीन वर्ग का विकास घनिष्ठ रूप से नए क्षेत्रीय राज्यों से जुड़ी हुई प्रक्रिया है। अतः मुगल साम्राज्य का पतन आर्थिक ह्रास की बजाए इन नये वर्गों की समृद्धि का परिचायक है, जो इन क्षेत्रीय राज्य व्यवस्थाओं की प्रमुख सामाजिक आधारिशला का काम करते हैं।

मध्यकालीन भारत के व्यापारियों के पास पर्याप्त पूंजी नहीं थी। उनकी संपत्ति का अनुमान यूरोपीय रिकॉर्ड से आता है। 1663 ई. में सूरत के कुछ व्यापारियों के पास 5 या 6 मिलियन रुपये से अधिक का स्वामित्व था। सूरत के अब्दुल गफ्फार के पास 8 करोड़ की संपत्ति थी, वह 20 जहाजों का मालिक था। अंग्रेजी दस्तावेजों से यह पता चलता है कि उन व्यापारियों के व्यापारिक लेन–देन ब्रिटिश कंपनी से कम नहीं थे। सूरत के एक अन्य व्यापारी बिरजी वोरा के पास 8 मिलियन की संपत्ति के लिए फटकार लगाई गई थी। इसके अलावा व्यापारियों ने अपने पैसे को व्यापारिक परिसंचरण में डाल दिया। गैर–व्यापारिक समूहों, जिनमें मुगल सम्राट, शाही महिलाएं, राजकुमारी, रईस लोग शामिल थे जो कि व्यापारिक उद्यमों में निवेश करते थे, जिनके अपने जहाज भी थे। उनका निवेश व्यापारियों की तुलना में कम था लेकिन महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि उनकी भागीदारी ने 'मनी–मार्केट' का आकार बढ़ा दिया था।

पूंजीवादी संबंध तभी विकसित होते हैं जब उत्पादन प्रक्रिया के बड़े क्षेत्र में पूंजी हावी होगी और नियंत्रण करेगी। औद्योगिक क्षेत्र और व्यापारिक पूंजी के मध्य यह मुख्य अंतर है। बाद में यह सीधे निर्माण के साथ शामिल नहीं है। अन्य शब्दों में कहा जाए तो यह व्यापारियों द्वारा नियंत्रित नहीं किया गया था। यह स्वतंत्र कारीगरों की पहुंच से दूर रखा गया था, जिन्होंने कच्चा माल खरीदने के लिए पैसा लगाया, जो अपने घरों से ही काम कर रहे थे, माल तैयार करके मार्केट में बेचा जाता था।

पूंजीवाद इन सभी विशेषताओं को नष्ट कर देता है। स्वतंत्र कारीगरों को मजदूर–श्रमिकों में बदल दिया गया। औद्योगिक पूंजी धीरे–धीरे उत्पादन के अर्थ और संपूर्ण प्रणाली को नियंत्रण में ले लेती है। लेकिन व्यापारी से औद्योगिक पूंजीवाद में परिवर्तन आचनक नहीं था, यह एक क्षणभंगुर मंच था, जो व्यापारी पूंजीवाद के भीतर उत्पन्न हुआ था, जिसे घरेलू उत्पादन प्रणाली कहा जाता है। इसके अलावा मध्यकाल में क्षणभंगुरता की प्रकृति और सीमा की जांच करना उचित है जो कि पूंजी द्वारा उत्पादन और श्रमिकों का प्रगतिशील नियंत्रण है।

17वीं शताब्दी का आर्थिक भारत विक्रेताओं का बाजार था। बड़ी संख्या में प्रतिस्पर्धी खरीदारों की जबदरस्त मांग बाजार में बाढ़ ला रही थी। इस प्रकार व्यापारियों के दृष्टिकोण से विशेष रूप से विदेशी व्यापार में लगे लोगों ने घरेलू उत्पादन प्रणाली को अपने प्रतिद्वंद्वियों से बाहर रखा और उन्हें अपने विनिर्देशों के अनुसार उपयोगी वस्तुओं की निर्धारित मात्रा का समय पर वितरण और पहले से निर्धारित दरों को सुरक्षित किया।

1.3.6 उत्तर–पूर्व औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में विकास का प्रश्न

दूसरे महायुद्ध के पश्चात अविकसित देशों, जिनमें भारत भी है, की आर्थिक विकास की समस्या पर अर्थशास्त्रियों और आर्थिक इतिहासकारों में जो गहरी बहस हुई, उसने आरंभ से ही गैर–ऐतिहासिक मोड़ ले लिया। इस बहस में स्वतंत्रता के समय की भारत की स्थिति को उन देशों के पूंजीवाद–पूर्व और औद्योगीकरण पूर्व की स्थितियों के समतुल्य मानने की प्रवृत्ति रही, जो आज आर्थिक रूप से विकसित है। इसका अर्थ यह था कि भारत का अविकास अपने चरित्र से पारंपरिक था अथवा ब्रिटिश शासन से पूर्व पारंपरिक अतीत का अवशेष था। आधारभूत मान्यता यह है कि आज के विकसित

टिप्पणी

पूंजीवादी देश भी कभी आज के भारत की तरह अविकसित और पिछड़े हुए थे। फिर यह घोषित किया जाता है कि भारतीय अर्थव्यवस्था के आधुनिकीकरण का मुख्य लक्ष्य विकसित होना है और सफल उदाहरणों का अनुसरण करना है। वास्तव में कुछ लेखक यह सुझाव देते हैं कि औपनिवेशिक शासकों ने भारत को आधुनिक बनाने का प्रयत्न किया, परंतु परंपराओं का नियंत्रण होने के कारण उन्हें बहुत कम सफलता मिली। उनका मानना है कि यह असफलता राष्ट्रवाद के उदय और अंत में आजादी की ओर ले गई। वे कहते हैं कि अब भारत सरकार ब्रिटिशों द्वारा छोड़े गए आधुनिकीकरण के कार्य को पूरा करने में लगी हुई है। इसलिए यह कहा जाता है कि आज भारत आधुनिकता से पहले के संक्रमण की स्थिति में है।

कभी–कभी दोनों स्थितियों के अंतर का अनुभव किया जाता है परंतु संरचनात्मक अंतर की पहचान नहीं की जाती और माना जाता है कि इतिहास के साथ उनका संबंध अधिक नहीं है। प्रति व्यक्ति आय अथवा भूमि मनुष्य के अनुपात के अंतर को आकस्मिक, परिस्थिति वश अथवा 'आधुनिकता पूर्व' के अंतर माना जाता है। ये अंतर केवल मात्रात्मक हैं और पिछड़ेपन की गहराई का प्रदर्शन करते हैं। वे किसी प्रारूप के अथवा संरचनात्मक अथवा गुणात्मक अंतर नहीं है। इसके फलस्वरूप इस विषय पर लिखे गए अधिकांश साहित्य में भारत को एक पूंजीवाद पूर्व अथवा औद्योगीकरण–पूर्व अथवा पारंपरिक और ज्यादा से ज्यादा एक दोहरे चरित्र वाला समाज माना गया है, जो आंशिक रूप से पारंपरिक और आधुनिक है और इस कारण 'अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था' के साथ जिसके संबंध कमजोर थे।

वास्तव में, यह धारणा कि 1947 ई. से पूर्व का भारत पूंजीवाद पूर्व का अथवा पारंपरिक अथवा दोहरे चरित्र वाला देश था, बुनियादी और ऐतिहासिक दृष्टिकोण से गलत है। यह मान लेना भी एक ऐतिहासिक गलती है कि ब्रिटिश शासन के अंतर्गत भारत परिवर्तन की प्रक्रिया से नहीं गुजरा अथवा वह बुनियादी तौर पर परंपरावादी ही रहा। 18वीं शताब्दी के मध्य और विशेषकर 18वीं शताब्दी के आरंभ से ही भारत का संसार के आधुनिक पूंजीवाद के साथ धीरे–धीरे एकीकरण हुआ, हालांकि उसकी स्थिति एक अधीनस्थ, औपनिवेशिक देश की थी।

इस प्रकार भारत ब्रिटिश शासन के अंतर्गत मुगल काल के भारत जैसा नहीं था और न ही उसका पिछड़ापन वैसा था क्योंकि आजादी और मुगलकाल के इस अंतराल में वह औपनिवेशिक आधुनिकीकरण की एक लंबी प्रक्रिया से होकर गुजरा। न ही उसकी स्थिति आज के विकसित देशों की पूंजीवाद–पूर्व की स्थिति जैसी थी, क्योंकि इन देशों को भारत जैसी औपनिवेशिक आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से नहीं गुजरना पड़ा। वह औद्योगीकरण से पूर्व का देश भी नहीं था, क्योंकि उसने औद्योगिक पूंजीवाद के पूर्ण प्रभाव को महसूस किया था। हालांकि इस प्रक्रिया में उसका औद्योगीकरण नहीं हुआ था, इसके अलावा उसका एक औद्योगिक पूंजीपति वर्ग भी था। यहां इस पर ध यान दिया जाना चाहिए कि भारत में उपनिवेशवाद ब्रिटेन में औद्योगिक पूंजीवाद जैसी ही एक आधुनिक ऐतिहासिक घटना था– वास्तव में दोनों साथ–साथ ही विकसित हुए। इसके अतिरिक्त औपनिवेशिक भारतीय अर्थव्यवस्था विश्व के पूंजीवाद का एक अंग थी। पूंजीवाद को एक विश्वव्यापी व्यवस्था के रूप में लिया जाना चाहिए, क्योंकि औपनिवेशिक अर्थव्यवस्थाएं इसी व्यवस्था का एक अभिन्न अंग थीं। वह ऐतिहासिक प्रक्रिया जो इस औपनिवेशिक एकीकरण अथवा आधुनिकीकरण के इस स्वरूप की ओर ले गई वे ही

यदि आंद्रे, गुंडर फ्रेंक के संक्षिप्त और सरगर्भित वाक्यांश का प्रयोग किया जाए तो, "भारत को उसके विकास अथवा अविकास की ओर ले गई।"

कभी–कभी यह भी प्रश्न आता है कि जब उस समय के सर्वाधिक विकसित औद्यौगिक राष्ट्र ने लगभग 200 वर्षों तक भारत पर शासन किया तब पूंजीवाद का विकास क्यों नहीं हुआ? वासतव में औद्योगिक क्रांति केवल एक ही देश में हुई थी, दूसरे देशों को उसके 'सृजन' की आवश्यकता नहीं पड़ी, उन्होंने उसे केवल उधार ले लिया। विश्व की पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के साथ भारत का एकीकरण, एक आदर्श उपनिवेश, आर्थिक विकास और पूंजीवाद के प्रतिरोपण के आधार पर 18वीं शताब्दी के दौरान हुआ था।

यह मानना कि अतीत में भारत का जितना भी औद्योगिक विकास हुआ वह भारतीय अर्थव्यवस्था के विश्व की पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के साथ एकीकरण के फलस्वरूप व्यापार और पूंजी निवेश के माध्यम से हुआ, यह इसलिए नकारा जाता है कि भारतीय औद्योगिक विकास में मुख्य प्रगति विशेषकर उन कालों में हुई, जब भारत के औपनिवेशिक आर्थिक संबंध विश्व की पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के साथ अस्थायी रूप से कमजोर हो गए थे अर्थात समाप्त हो गए थे। दूसरी ओर जब यह संबंध मजबूत हुए तो पिछड़ेपन और अस्थिरता में वृद्धि हुई। 20वीं शताब्दी के दौरान जब दोनों विश्वयुद्ध और 1929–1934 में भारी मंदी पड़ी, भारत के विदेश व्यापार और विदेशी पूंजी के आगमन में तीन बार कटौती हुई, फिर भी प्रत्येक स्तर पर उत्पादन में कमी आने के बजाय वृद्धि हुई। वास्तव में औद्योगिक पूंजीपति वर्ग की जड़ें और गहरी हो गई।

विश्व पूंजीवाद एक विशिष्ट व्यवस्था है और उपनिवेशवाद इस व्यवस्था का एक आधारभूत अंग है। 1947 के पश्चात इसी औपनिवेशिक चरण से भारत को एक नई सामाजिक व्यवस्था कायम करने की प्रक्रिया आरंभ करनी थी। दूसरे शब्दों में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात मुख्य कार्य औपनिवेशिक काल में आरंभ हुए संक्रमण को पूरा करना नहीं बल्कि औपनिवेशिक व्यवस्था के संक्रमण से एक नई व्यवस्था अथवा इतिहास के चरण में प्रवेश करना था। जिस प्रकार 19वीं शताब्दी के दौरान आधुनिकीकरण ब्रिटेन में औद्योगिक पूंजीवाद के विकास और भारत में उपनिवेशवाद के विकास और अविकास का प्रतीक था, उसी प्रकार आज आधुनिकीकरण समाजवाद अथवा एक अविकसित पूंजीवाद का प्रतीक बन सकता है। जिसे निरंतर प्रतिगमन की ओर संक्रमण और नवउपनिवेशवाद का खतरा है।

अपनी प्रगति जांचिए

5. किन राज्यों में स्थायी बंदोबस्त लागू किया गया था?

   (क) बंगाल (ख) उड़ीसा और बिहार

   (ग) उत्तर प्रदेश (घ) उपरोक्त सभी

6. किस सन् में बैंक ऑफ बंगाल को प्रेसीडेंसी बैंक का दर्जा दिया गया?

   (क) सन् 1830 (ख) सन् 1840

   (ग) सन् 1850 (घ) सन् 1860

1.4 औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था का आरंभिक चरण

औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था से तात्पर्य है कि किसी दूसरे देश की अर्थव्यवस्था का उपयोग अपने हित के लिए प्रयोग करना। भारत में औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था की शुरुआत 1757 ई. में प्लासी युद्ध से हुई, जो विभिन्न चरणों में अपने बदलते स्वरूप के साथ स्वतंत्रता प्राप्ति तक चलती रही।

भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के बारे में सर्वप्रथम दादा भाई नौरोजी ने अपनी पुस्तक 'द पावर्टी एण्ड अन ब्रिटिश रूल इन इण्डिया' में उल्लेख किया। इनके अलावा रजनी पाम दत्त, कार्ल मार्क्स, रमेश चन्द्र दत्त, वी.के.आर.वी राव आदि ने भी ब्रिटिश औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के बारे में अपने विचार प्रगट किये हैं।

रजनी पाम दत्त ने अपनी पुस्तक 'इण्डिया टुडे' में ब्रिटिश औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था को तीन चरणों में विभाजित किया है–

1. वाणिज्यिक चरण –1757–1813
2. औद्योगिक मुक्त व्यापार– 1813–1858
3. वित्तीय पूंजीवाद –1858 के बाद

उपरोक्त चरणों में ऐसा नहीं है कि एक चरण समाप्त होने के बाद दूसरा चरण चला अपितु शोषण के पुराने रूप समाप्त नहीं हुए बल्कि नए रूपों में अगले चरण में चलते रहे।

वाणिज्यिक चरण की शुरुआत 1757 के प्लासी युद्ध की विजय के साथ प्रारम्भ होता है। इस चरण में कम्पनी का मुख्य लक्ष्य अधिकाधिक व्यापार में लाभ प्राप्त करना था। यद्यपि इसके पहले भी ब्रिटिश व्यापार को महत्व देते थे, किन्तु तब इनका व्यापार भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए लाभकारी था। किन्तु प्लासी की विजय ने इस व्यवस्था को उलट दिया, इस विजय के बाद बंगाल का राजस्व इनके अधिकार में आ गया। बक्सर विजय के बाद बंगाल, बिहार, उड़ीसा की दीवानी मिल गयी, जिससे इनके पास ढेर सारा भारतीय पैसा राजस्व के रूप में कम्पनी को मिलने लगा। अब ये इसी पैसे से भारतीय माल खरीदते और ब्रिटेन भेज देते थे।

इस व्यापारिक प्रक्रिया से भारत को अपनी वस्तु के बदले विदेशी मुद्रा न प्राप्त होकर भारतीय मुद्रा की प्राप्त होती, जो कि सामान्य व्यापारिक सिद्धान्त के प्रतिकूल था। इस तरह भारतीय पूँजी भारत से निकलने लगी, यहीं से धन निष्कासन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है।

औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था का दूसरा चरण 1813 में व्यापारिक एकाधिकार समाप्त होने के साथ शुरू होता है। इस चरण का मुख्य प्रभाव विऔद्योगीकरण के रूप में दिखाई देता है।

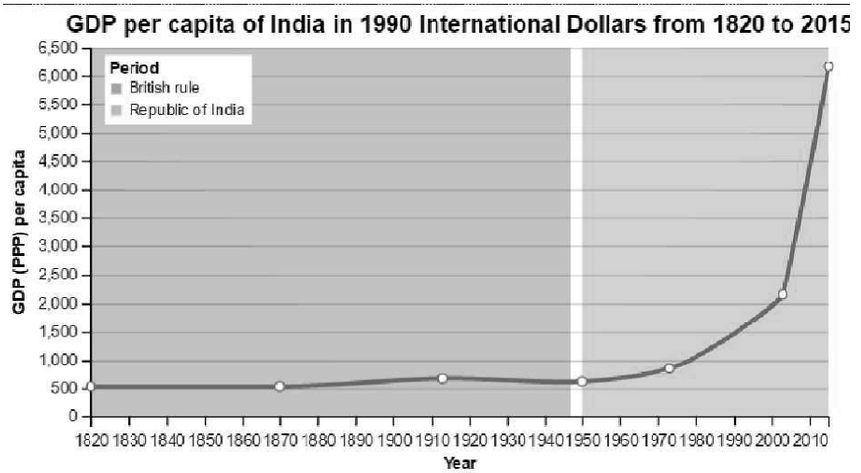

भारत का सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी 1820 से अब तक)

यही वह काल था जब ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति हो रही थी। अतः भारतीय अर्थव्यवस्था का दोहन औद्योगिक क्रान्ति को सफल बनाने के लिए होने लगा। औद्योगिक क्रान्ति की सफलता निम्न तीन बिन्दुओं पर निर्भर थी–

- विनिर्मित उत्पादों के लिए विशाल बाजार।
- कच्चे माल की सतत आपूर्ति।
- खाद्यान्न की आपूर्ति।

उपरोक्त आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भारतीय अर्थव्यवस्था एवं प्रशासनिक संरचना में अमूल–चूल परिवर्तन किए गये।

बाजार प्राप्ति के लिए भारतीय राज्यों पर प्रत्यक्ष नियंत्रण स्थापित किया जाने लगा। जिसे बैंटिक एवं डलहौजी के कार्य–काल में देखा जा सकता है।

कच्चे माल की बंदरगाहों तक पहुँच एवं तैयार माल को सुदूर गाँवों एवं छोटे बाजारों तक पहुंच सुनिश्चित करने के लिए रेल परिवहन, सड़क परिवहन का विकास किया गया।

दूसरी तरफ भारतीय उद्योगों से प्रतिस्पर्धा को कम करने के लिए विऔद्योगीकरण पर बल दिया गया। इससे इनके सभी उद्देश्यों की पूर्ति दिखाई पड़ती है।

भारतीय पारम्परिक उद्योगों के पतन के कारण ब्रिटेन को विशाल बाजार के साथ–साथ कच्चे माल की सतत् आपूर्ति होती रही।

विऔद्योगीकरण के कारण श्रम–बल कृषि कार्यों में लग गया। जिससे ब्रिटेन को कच्चे माल के साथ–साथ खाद्यान्न आपूर्ति भी होती रही।

इस चरण तक भारतीय अर्थव्यवस्था पूरी तरह से टूट गई। देश की पारंपरिक हस्तकलाओं को उखाड़ फेंका गया। कुटीर उद्योगों के पतन एवं अधिकाधिक खाद्यान्न निर्यात के साथ–साथ वाणिज्यिक उत्पादन से भारत में गरीबी, बेरोजगारी, भुखमरी का संकट बढ़ता गया। इस दुर्दशा का वर्णन स्वयं वैंटिंग तथा मार्क्स ने किया है–

''इस आर्थिक दुर्दशा का व्यापार के इतिहास में कोई जोड़ नहीं, भारतीय बुनकरो की हड्डियां भारत के मैदान में विखरी पड़ी हैं।''–विलियम बैंटिक

''यह अंग्रेज घुसपैठिए थे जिन्होंने भारतीय खड्डी एवं चरखे तोड़ दिये।''
–मार्क्स

टिप्पणी

उपनिवेशवाद का तीसरा चरण 1858 के बाद प्रारम्भ होता है, जिसे वित्तीय पूँजीवादी चरण के नाम से जाना जाता है।

इस चरण तक आते–आते अन्य यूरोपीय देशों में भी औद्योगिक क्रान्ति प्रारम्भ हो चुकी थी। जिससे बाजार एवं कच्चे माल की प्रतिस्पर्धा बढ़ गयी।

ब्रिटेन के पूँजीवादी वर्ग ने औद्योगिक क्रान्ति जिसका निवेश वे अधिक लाभ हेतु अन्यत्र करना चाहते थे, के लिए भारत लाभकारी एवं सुरक्षित था। क्योंकि–

- 1857 की क्रान्ति के बाद, प्रशानिक व्यवस्था में व्यापार में परिवर्तन किया गया था।
- चूंकि भारत ब्रिटिश प्रशासन के अधीन था, अतः यहाँ ब्रिटिश हितों के अनुकूल नीतियां बनायी जा सकती थीं।
- भारत में कच्चा माल तथा सस्ता श्रम आसानी से उपलब्ध था।
- ब्रिटिश प्रशासन द्वारा पूँजीपति को सस्ता ऋण भी उपलब्ध कराया गया।

उपरोक्त परिस्थितियों ने ब्रिटिश पूँजीपतियों को अनेक क्षेत्रों में निवेश के लिए प्रेरित किया। अब ब्रिटिश पूँजी के अन्तर्गत अनेक उद्योग धन्धों, चाय, काफी नील तथा जूट के बगानों, बैंकिंग, बीमा आदि क्षेत्र आ गये।

उपरोक्त चरणों के अध्ययन से पता चलता है कि औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था ने भारतीय अर्थव्यवस्था को पूरी तरह नष्ट–भ्रष्ट कर दिया। कृषि, उद्योग, हस्तशिल्प कुटीर उद्योग पर इसके दूरगामी प्रभाव पड़े, जिसे हम निम्नलिखित बिन्दुओं के तहत समझ सकते है–

- व्यापार एवं कुटीर उद्योग पूर्णतया समाप्त हो गये जिससे कृषि पर दबाव बढ़ गया।
- वाणिज्यिक फसलें उगाने के कारण देश में दुर्भिक्ष, अकाल आदि आम बात हो गये, जिससे देश में प्रतिवर्ष बड़ी संख्या में धन–जन की हानि हुई।
- ब्रिटिश उद्योगों को प्रोत्साहन तथा भारतीय उद्योगों को हतोत्साहित किया गया, जिससे भारत के हस्त–शिल्प एवं परम्परागत कपड़ा उद्योग पूर्णतया नष्ट हो गये।
- अंग्रेजों ने भारतीय जुलाहों को इतना कम मूल्य देना आरम्भ कर दिया कि उन्होंने बढ़िया कपड़ा बनाना ही बन्द कर दिया।
- भारतीय माल पर अंग्रेजों द्वारा इतना कर लगा दिया जाता था जिससे उसकी कीमत बाजार में दोगुनी हो गई, अतः बाजार प्रतिस्पर्धा में वे मशीनी उत्पादन का मुकाबला न कर सके।

औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के कुछ सकारात्मक प्रभाव भी पड़े, किन्तु नकारात्मक प्रभाव के सामने ये बहुत कम हैं। जो सकारात्मक प्रभाव पड़े भी उनके पीछे अंग्रेजों की कोई सद्भावना नहीं थी। सकारात्मक परिणामों का विवरण निम्नलिखित है–

- अंग्रेजों द्वारा उद्योग लगाने के क्रम में आधारभूत संरचना का विकास किया गया, जिसका लाभ भारत को भी मिला।

- सीमित मात्रा में लोगों को रोजगार मिला लेकिन मजदूरों को शोषण का शिकार होना पड़ा।
- औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के परिणाम स्वरूप सबसे बड़ा लाभ भारत में राष्ट्रवाद के उदय के रूप में मिला।
- अंग्रेजों के न चाहते हुए भी अपनी शोषणवादी प्रक्रिया में वे अपनी इस अनैच्छिक संतान को जन्म दे गये जिसने अन्ततः उनके विनाश में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

उपरोक्त तीनों चरणों में ब्रिटिश औपनिवेशिक अर्थवस्था ने भारतीय अर्थव्यवस्था को तहस–नहस कर दिया। भारतीय कृषि व्यापार, उद्योग, हस्त–शिल्प पूरी तरह नष्ट हो गये। विश्व की सबसे मजबूत अर्थव्यवस्था वाला देश अब सबसे गरीब देश की श्रेणी में आ गया। 'सोने की चिड़िया कहलाने वाला भारत अब भुखमरी, अकाल, दरिद्रता वाला देश कहलाने लगा।

1.4.1 भारत में वाणिज्यवाद और यूरोपीय आर्थिक हित

वाणिज्यवाद उस विचारधारा का नाम है जो पश्चिमी यूरोप, विशेष रूप से इंग्लैंड, फ्रांस तथा जर्मनी के 16वीं, 17वीं तथा 18वीं शताब्दी के 6 दशकों में विद्यमान थी। वाणिज्यवाद ऐसा शब्द है जिसका प्रयोग उन नीतियों, सिद्धांतों, व्यवहारों के लिए किया गया, जिन्हें राष्ट्र द्वारा तत्कालीन परिस्थितियों में अपनाया गया था और जिनके आधार पर वे राष्ट्र आर्थिक क्षेत्र में शक्ति, संपत्ति व समृद्धि प्राप्त कर सके। वाणिज्यवादी विचारधारा के अंतर्गत बहुमूल्य धातुओं के अपने देश में आगमन को प्रोत्साहित करने एवं निगर्मन को रोकने, आयातित वस्तुओं की अपेक्षा निर्यातित वस्तुओं के मूल्यों का अधिक निर्धारण, देश के निर्यात में वृद्धि के प्रयत्न, देश के उद्योगों एवं राष्ट्रीय बचत आदि को प्रोत्साहित करने जैसी बातें सम्मिलित थीं।

16वीं व 17वीं शताब्दी में पश्चिमी यूरोप में एक नई आर्थिक प्रवृत्ति आई जिसका नाम वाणिज्यवाद था। इस नई प्रवृत्ति को फ्रांस में कोलबर्टवाद, जर्मनी में कैमरालिनवाद एवं ब्रिटेन में व्यापारवाद या वणिकवाद के नाम से जाना गया। वाणिज्यिक क्रांति को जिस नीति के तहत बढ़ावा मिला उस नीति को व्यापारवाद या वाणिज्यवाद कहा जाता है। 16वीं तथा 17वीं शताब्दी में यूरोप में जीवन पद्धति में जो महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए वह धर्म के स्थान पर धन को महत्व देता था। इसका कारण राष्ट्र राज्यों की स्थापना और पुनर्जागरण था। राज्यों को शक्तिशाली और आत्मनिर्भर बनाने के लिए धन की आवश्यकता होती थी और इस युग में धन का अर्थ सोना–चांदी इत्यादि होता था। अतः राज्यों ने इसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना प्रारंभ कर दिया था। इसके लिए राज्य ने व्यापार और वाणिज्य को नियमित करने के लिए जो नीति अपनाई उसे ही वाणिज्यवाद कहा जाता है।

हेज के शब्दों में, "वाणिज्यवाद एक आधुनिक शब्द है जो सरकार की आर्थिक नीति विशेष रूप से व्यापार तथा वाणिज्य को नियमित करने की नीति प्रदर्शित करता है।"

वाणिज्यवाद की समझ

रोमन साम्राज्य के पतन के बाद सामंती व्यवस्था के तहत हुए युद्धों के कारण व्यावसायिक पुनुरुत्थान की प्रक्रिया तीव्र न हो सकी। 11वीं शताब्दी में यूरोपीय कृषि, व्यापार की प्रगति होने लगी और यूरोप का संबंध पूर्व में स्थापित होने लगा, किंतु फिर भी आर्थिक विचारधारा उन्नत नहीं थी। धीरे–धीरे स्थितियां बदल रही थीं, पुनर्जागरण के समय भौगोलिक खोजें हुईं और नए देशों का पता चला, अब नए रास्ते मिल गए। इन्हीं भौगोलिक खोजों ने व्यापार में वृद्धि की। यहीं से उपनिवेश की स्थापना होने लगी। जिसने व्यापारी वर्ग के हितों को और मजबूत कर दिया। अब व्यापार का क्षेत्र विस्तार हो रहा था। वहीं से व्यापारिक या वाणिज्यिक क्रांति की शुरुआत हुई। वाणिज्यिक क्रांति का विकास एवं प्रगति को जिस नीति के तहत प्रश्रय या बढ़ावा मिला, वह नीति ही वाणिज्यवाद कहलाई। 1500 ई.–1750 ई. के मध्य शक्तिशाली राष्ट्र राज्यों की स्थापना आरंभ हुई, किंतु यहां सबसे बड़ा प्रश्न था इन राज्यों की सुरक्षा हेतु पर्याप्त धन की आवश्यकता। अब अत्यधिक धन की प्राप्ति का सबसे बड़ा स्रोत अंतर्राष्ट्रीय व्यापार ही था। तत्कालीन शासकों द्वारा अब धर्म के स्थान पर धन को अधिक महत्व दिया गया। अब शासकों ने व्यापार और उद्योग को नियमित करने हेतु सोना व चांदी प्राप्त करने की नीति बनाई, जिसे वाणिज्यवाद कहा गया।

'वाणिज्यवाद' शब्द की सुव्यवस्थित विचारधारा या परिभाषा अभी तक स्पष्ट नहीं है। एडम स्मिथ ने 1776 में प्रकाशित अपनी 'वेल्थ ऑफ नेशसं' में सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग किया था। स्मिथ ने 'वाणिज्यवाद' शब्द का प्रयोग इसकी निंदा हेतु किया था। वहीं 1833 में जर्मन आर्थिक इतिहासकार गुस्ताव वॉन श्मॉलर ने प्रकाशित 'फ्रेडरिक महान की आर्थिक नीतियों का अध्ययन' नामक पुस्तक में प्रशंसनीय रूप में किया था।

मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि वाणिज्यवाद उस विचारधारा का नाम है जो पश्चिमी यूरोप में 16वीं, 17वीं, 18वीं शताब्दी में विद्यमान थी। वाणिज्यवाद आर्थिक मामलों, व्यापार व उद्योग के क्षेत्र में राजकीय नियमन व नियंत्रण को दर्शाता है।

अब 17वीं शताब्दी में यह विचार सामने आया कि कृषि एक आवश्यक उद्योग है किंतु इसकी एक सीमा है जिसके आगे वहां उत्पादन नहीं हो सकता, जबकि उद्योग में असीमित संभावनाएं हैं, यह मत 1613 में इटालियन अर्थशास्त्री 'एंटोनियो सिरा' ने अपने लेख 'उन देशों में जहां खानें नहीं हैं सोने और चांदी लाने की विधियों पर संक्षिप्त लेख' में प्रकाशित किया। वाणिकवाद को बहुमूल्य धातुवाद की संज्ञा दी गई है। वणिकवादी विचारधारा के अनुसार अधिक स्वर्ण अधिक धन तथा अधिक शक्ति का प्रतीक था।

वाणिज्यवाद की उत्पत्ति के कारण

16वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशक में विश्व व्यापार में आई उथल–पुथल से समाज के आर्थिक जीवन में भारी परिवर्तन हुआ, जिसके निम्नलिखित कारण थे–

1. **धर्म सुधार** : 14वीं से 16वीं शताब्दी में यूरोप में धर्म सुधार आंदोलनों के सुधारकों द्वारा चर्च के स्थान पर व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर जोर दिया गया। धार्मिक क्षेत्र में आए इस परिवर्तन से वाणिकवाद को नई शक्ति प्राप्त हुई। इन सुधारकों ने व्यक्तिगत संपत्ति व संविदा की स्वतंत्रता, जो आर्थिक विकास के

लिए आवश्यक है, का समर्थन किया। अब लोगों में चर्च के प्रति उपेक्षा और व्यक्तिवाद में समर्थन जाग्रत हो रहा था। इस प्रकार लोग भौतिक सुखों द्वारा व्यक्तिगत सुखों की प्राप्ति की ओर उन्मुख होने लगे, जिससे आर्थिक क्रियाकलापों में वृद्धि हुई।

2. **पुनर्जागरण** : 14वीं शताब्दी में हुए पुनर्जागरण ने मनुष्य की बौद्धिक चेतना और चिंतन शक्ति को जाग्रत किया। इसका प्रभाव साहित्य और विज्ञान के क्षेत्रों में भी परिलक्षित हुआ। छापेखाने सहित अनेक वैज्ञानिक आविष्कारों ने विचारों के क्षेत्र में क्रांति ला दी। परिणामस्वरूप मनुष्य का जीवन के प्रति दृष्टिकोण में भारी परिवर्तन हुआ। अब पारलौकिक जीवन की अपेक्षा वर्तमान जीवन को अधिक महत्व दिया जाने लगा। यह मानववादी विचारधारा थी जिसका आधार जीवन में भौतिक सुखों की प्राप्ति था।

3. **भौगोलिक खोजें** : पुर्तगाल के नाविकों द्वारा पुनर्जागरण के दौर में नए देशों की खोज हुई। इन भौगोलिक खोजों ने एशियाई देशों, अफ्रीका, अमेरिका में नए व्यापारिक बाजारों को खोला और व्यापार का अधिकाधिक भाग हड़प करने के लिए वाणिकवादी नीतियों का विभिन्न प्रतिस्पर्धी देशों ने प्रयोग किया।

4. **राष्ट्रीय राज्यों का उत्थान** : यूरोप में राष्ट्रीय राज्यों के उदय में भी वाणिज्यवाद को प्रोत्साहन दिया। सर्वप्रथम 15वीं शताब्दी में इंग्लैंड और फ्रांस में राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना हुई। उसके बाद 16वीं शताब्दी में पुर्तगाल, स्पेन, हालैंड में, 17वीं शताब्दी में स्वीडन आदि राष्ट्र राज्य बने। शक्तिशाली राष्ट्र राज्यों की स्थापना से शांति और सुरक्षा की स्थापना हुई, जो व्यापार के विकास के लिए आवश्यक थी। भौगोलिक क्षेत्रों में वृद्धि के कारण व्यापार का विकास होने लगा। इससे वाणिज्यवाद को नई शक्ति प्राप्त हुई।

5. **जनसंख्या वृद्धि** : भौगोलिक खोजों से भी वाणिज्यवाद को प्रोत्साहन मिला था। मध्यकाल में यूरोप की जनसंख्या में तीव्र वृद्धि हुई। जनसंख्या वृद्धि के कारण मजदूरी सस्ती हुई। वस्तुओं की मांग होने से कीमतें बढ़ीं। इससे स्पष्ट है कि जनसंख्या वृद्धि ने उद्योग एवं व्यापार का विकास किया। फलतः व्यापारी वर्ग समाज में शक्तिशाली बन गया।

6. **मुद्रा का प्रचलन** : मध्यकाल में संपूर्ण आदान–प्रदान वस्तु विनिमय द्वारा होता था। इंग्लैंड की महारानी एलिजाबेथ प्रथम (1558–1603 ई.) ने सिक्कों में सुधार करके बड़े पैमाने पर व्यापार और उद्योग प्रणाली को संभव बनाया। यही वह समय था जब बैंकों का जन्म हुआ, जिसके द्वारा आंतरिक और विदेशी व्यापार बढ़ने और पूंजी निर्माण में अभूतपूर्व सहयोग मिला। साथ ही अमेरिका व अन्य देशों में सोने–चांदी के भंडारों की जानकारी ने व्यापार–वाणिज्य के विकास में प्रतियोगिता प्रारंभ कर दी।

वाणिज्यवाद का प्रमुख सिद्धांत व्यापार संतुलन है, जिसमें माना जाता है कि राज्यों को अपने राजकोष को समृद्ध रखना चाहिए। इसके लिए आयात पर अधिक कर व निर्यात पर सामान्य कर लगाना चाहिए। इससे राजकोष में अधिक मुद्रा का संचय होगा। एक अन्य सिद्धांत, अधिक से अधिक मात्रा में बहुमूल्य धातुएं राज्य के पास होनी चाहिए, यही देश की असली संपत्ति मानी जाती है। वाणिज्यवाद ने ही उपनिवेशवाद

को बढ़ावा दिया। उपनिवेशों की स्थापना से विदेशी व्यापार से अधिक और स्थायी लाभ होने लगे। उपनिवेशों से राज्य की उत्पत्ति वस्तुओं का निर्यात बढ़ाया जा सकता था और वहां से उद्योगों के लिए कच्चा माल आयात किया जाना अधिक आसान हो जाता है।

इन्हीं सिद्धांतों के आधार पर इंग्लैंड ने भारत को खूब लूटा और पूरी तरह से खोखला कर दिया।

भारत में यूरोपीय आर्थिक हित

व्यापार के उद्देश्य से भारत के सूरत में सबसे पहले अंग्रेज आए थे। 24 अगस्त, 1608 को अंग्रेज सूरत में आए थे। अंग्रेजी कंपनी ने भारत को यूरोप के व्यापार का सर्किट बना दिया था और यूरोपीय शक्तियां अपने व्यापारिक लाभों को पाने के लिए एशिया की ओर दौड़ पड़ी। भले ही पहला प्राथमिक मकसद व्यापार था। धीरे–धीरे प्राथमिक यूरोपीय शक्तियों ने क्षेत्र अधिग्रहण में अधिक रुचि लेना प्रारंभ कर दिया। धन और शक्ति की तलाश में अंग्रेज इन्हीं शक्तियों में से एक थे।

भारतीय मसालों के व्यापार में रुचि के कारण दिसंबर 1600 ई. में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी स्थापित की गई। इससे पहले स्पेन और पुर्तगाल का इस पर एकाधिकार था। कंपनी अंततः, दक्षिण एशिया में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की शक्तिशाली एजेंट और भारत के बड़े हिस्से के वास्तविक औपनिवेशिक शासक बन गए। आंशिक रूप से कंपनी धीरे–धीरे अपने वाणिज्यिक एकाधिकार और राजनीतिक नियंत्रण से वंचित हो गई और 1858 में ब्रिटिश ताज द्वारा इसकी भारतीय संपत्ति का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। भारत में व्यापार की रुचि का एक महत्वपूर्ण कारण कुशल कामगारों या कहा जाए दासों की आवश्यकता भी थी, क्योंकि नए देशों में जा कर कम दामों में काम करने वालों की आवश्यकता सदैव ही रहती थी, इसलिए वे भारत से पुरुषों व स्त्रियों को दास बना कर ले जाते थे।

1.4.2 ईस्ट इंडिया कंपनी और बंगाल में उसका शासन

किसी प्रमुख भारतीय शक्ति के साथ अंग्रेजों का प्रथम संघर्ष बंगाल का संघर्ष था। ब्रिटिशकालीन इतिहास नवाबों द्वारा अंग्रेजों को धीरे–धीरे सत्ता के हस्तांतरण का इतिहास है। बंगाल में अंग्रेजों की स्थिति अभी भी असुरक्षित थी, क्योंकि 'बुसी' जैसे सुयोग्य सेनानायकों के नेतृत्व में फ्रांसीसी सेना दक्षिण से आकर बंगाल में फ्रांसीसी सत्ता की पुर्नस्थापना कर सकती थी। मुर्शिदाबाद की राजगद्दी पर नए नवाब को बैठाने का विचार केवल अंग्रेजों का ही नहीं था। व्यक्तिगत स्वार्थों से मुख्यतः प्रेरित दरबार के कुछ व्यक्ति भी सरकार में परिवर्तन चाहते थे। इस प्रकार के कुछ व्यक्ति थे– मीर जाफर, राय दुर्लभ सिंह, अमीचंद और बंगाल के प्रमुख जगत सेठ। नवाब के विरुद्ध षड्यंत्र की शुरुआत करने का सबसे पहले अमीचंद ने आभास दिया, जब उसने अंग्रेजों के साथ संपर्क किया। इसमें संदेह नहीं है कि सिराज ने अपने शासन एवं राज्य के शक्तिशाली प्रतिष्ठित लोगों को नाराज करके बहुत मूर्खतापूर्ण कार्य किया था। 1756 में केवल इतना परिवर्तन आया कि अब अंग्रेज षड्यंत्र का हिस्सा थे। षड्यंत्रकारियों में अपने कृत्यों के दुष्परिणामों को समझने के लिए राजनीतिक बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता का अभाव था। निजाम–उल–मुल्क के उत्तराधिकारियों की

नियति से उन्होंने कोई सबक नहीं लिया। षड्यंत्रकारियों के सहयोग का आश्वासन पाकर अंग्रेज प्रोत्साहित हो गए। वे नवाब की कमजोरियों से पूर्णतः अवगत थे, "प्रत्येक वर्ग और हर प्रकार के लोग उससे घृणा करते थे। अपने अधिकारियों के साथ दुर्व्यवहार करने के कारण उसे अपनी सेना का भी सम्मान प्राप्त नहीं था और लोग किसी क्रांति की कामना कर रहे थे।"

5 जून, 1757 को अंग्रेजों और मीरजाफर के मध्य एक संधि हुई, जिसमें सभी फ्रांसीसी भगोड़ों और फैक्ट्रियों का समर्पण, फर्रूखसियर के फरमान के द्वारा अनुमोदित सभी विशेषाधिकारों का अनुपालन, कासिम बाजार और ढाका की अंग्रेज फैक्ट्रियों की किलेबंदी की स्वतंत्रता, कलकत्ता सीमा के अंदर अंग्रेज प्रभुता को मान्यता, अंग्रेजी सेना पर होने वाले व्यय नवाब द्वारा पूर्ति करने का दायित्व और नवाब के दरबार में कंपनी के एक एजेंट की नियुक्ति आदि शामिल थी। इन शर्तों ने बंगाल के नवाब को ब्रिटिश नियंत्रणाधीन एक अधीनस्थ भारतीय शासक बना दिया गया। अब बंगाल पर पूर्णतः शासन के दो चरण थे–

(क) प्लासी का युद्ध व परिणाम

23 जून, 1757 को अंग्रेजों ने सिराज पर आक्रमण किया। क्लाइव के तीव्र आक्रमणों ने नवाब की सारी सैन्य योजना को छिन्न–भिन्न कर दिया। सिराज स्वयं मैदान छोड़ कर भाग गया। उस समय सेना को आदेश देने वाला कोई नहीं था। अंग्रेजी फौज में मरने वालों की संख्या 23 थी जबकि अंग्रेजों के पास 500 सैनिक थे। यह सैन्य शक्तियों की श्रेष्ठता नहीं थी बल्कि वह षड्यंत्र था जिसने अंग्रेजों को युद्ध जीतने में मदद की।

अंग्रेजों की मदद स्वरूप नवाब के सेनापति मीर जाफर को क्लाइव ने नवाब का पद दिया। मीर जाफर ने कंपनी को उपहार स्वरूप एक करोड़ सतहत्तर लाख रुपये (1,77,00,000) की धन राशि उपहार में दी, तथा कंपनी अधिकारियों को रिश्वत के रूप में काफी धन दिया गया। प्लासी के युद्ध के परिणामों का विवेचन करते हुए सर जदुनाथ सरकार का कथन है, "23 जून, 1757 ई. को भारत में मध्यकालीन युग का अंत हो गया और आधुनिक युग का आरंभ हुआ। एक पीढ़ी से भी कम समय में प्लासी के युद्ध के 20 वर्ष बाद ही देश धर्मतंत्री शासन के अभिशाप से मुक्त होने लगा।"

वैधानिक रूप से अंग्रेज 1757 में बंगाल के राजनीतिक स्वामी नहीं बन पाए। इसके कुछ वर्ष उपरांत कलकत्ता की सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि केवल कलकत्ता के निवासी ही अंग्रेजी शासन के प्रजाजन हैं। अतः सैद्धांतिक रूप से प्लासी के बाद भी अंग्रेजों का भारत में "वाणिज्यिक स्वरूप" बना रहा। 1757 में कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था कि मराठों और फ्रांसीसियों के सामने यह दुर्भाग्य आ खड़ा होगा। बंगाल में ब्रिटिश शासन की स्थापना के बारे में सोचा तक नहीं जा सकता था।

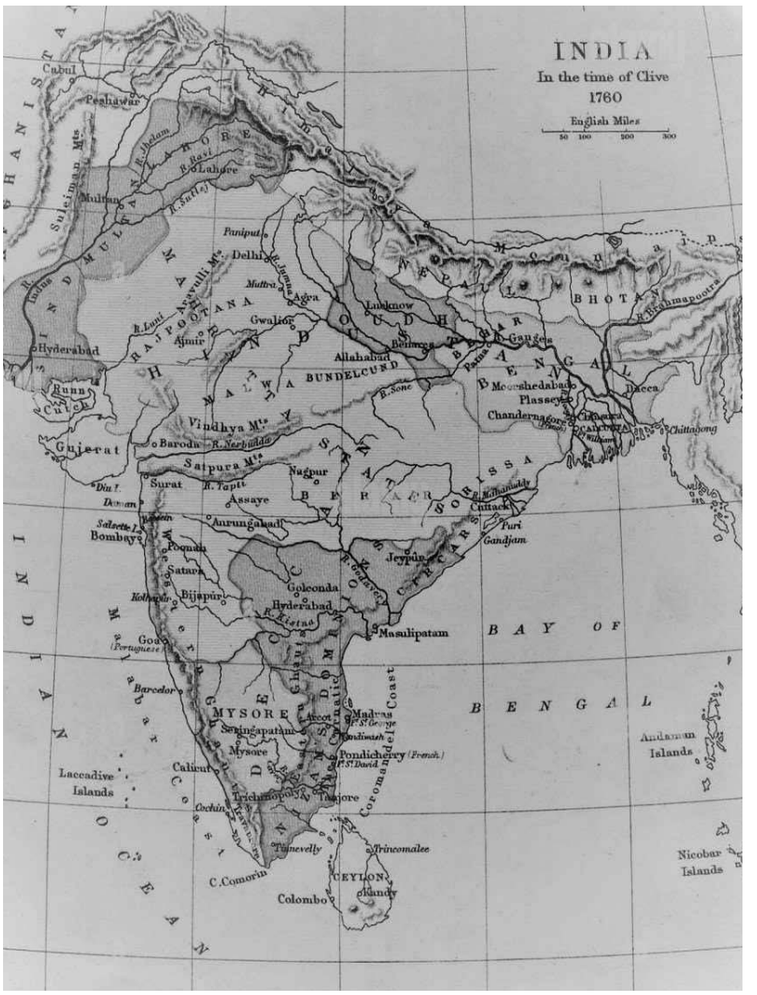

प्लासी के युद्ध के बाद 1760 में भारतीय राजनीतिक स्थिति

प्लासी के युद्ध ने अंग्रेजों को तात्कालिक सैनिक एवं वाणिज्यिक लाभ प्रदान किए। उन्होंने 'कृषि उत्पादन और दस्तकारियों के क्षेत्र में अग्रणी तीन राज्यों– बिहार, बंगाल और उड़ीसा में राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करने के लिए पृष्ठभूमि तैयार की।'

(ख) बक्सर का युद्ध व परिणाम

मीर जाफर ने गद्दी के लालच में अंग्रेजों की सभी मांगों का पूरा करता रहा, किंतु अब एक समय ऐसा आया कि मीरजाफर अंग्रेज अधिकारियों की मांग पूरी करने में असफल रहा, दूसरी ओर अंग्रेजों को डर था कि डच कंपनियों और मीरजाफर की बढ़ती नजदीकियां उनके लिए अहितकर हो सकती हैं। अतः 1760 में अग्रेजों ने मीरजाफर को गद्दी से उतार फेंका और अब मीर कासिम को गद्दी पर बैठाया जो अंग्रेजों की आर्थिक उम्मीदों को पूरा करेगा। नवाब को बेहतर प्रशासनिक व्यवस्था स्थापित करने में सफलता प्राप्त हुई किंतु विशेषाधिकार के मामलों पर कंपनी द्वारा मुक्त निजी मामलों पर टकराव होने लगे। अंग्रेज बराबर शर्तों पर भारतीय उत्पाद का मुकाबला नहीं कर सके। नवाब द्वारा सेना को संगठित करने का प्रयत्न तथा मुर्शिदाबाद से मुंगेर राजधानी स्थानांतरण को भी कंपनी के प्रति अपराध रूप में देखा गया।

जून 1763 को मेजर एडम्स के नेतृत्व में अंग्रेजी सेना ने बंगाल के नवाब मीर कासिम को पराजित कर दिया। मीर कासिम पटना भाग गया तथा बादशाह शाह आलम द्वितीय एवं शुजादौला से भी सहायता ली किंतु झगड़ा शिखर तक पहुंच गया था, जब कंपनी के अधिकारियों ने पटना पर आधिपत्य करने का प्रयास किया। यही युद्ध का सबसे बड़ा कारण था। मीर कासिम एक योग्य प्रशासक था किंतु कुशल सेनापति नहीं था।

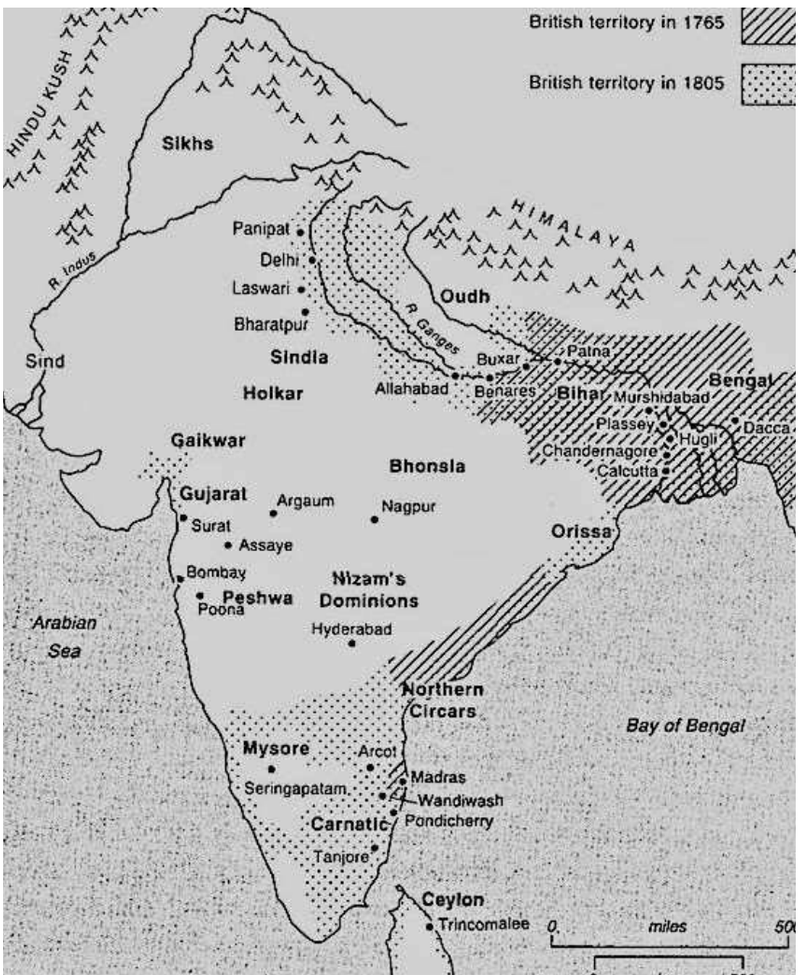

बक्सर के युद्ध के बाद भारतीय राजनीतिक स्थिति

अंततः उसकी सेना पराजित हुई। जब वह अवध की ओर पलायन करने को बाध्य हुआ तो शाहआलम द्वितीय तथा नवाब अपनी रियासत के पूर्वी सूबों के बचाव में आए। यही युद्ध बक्सर के युद्ध के नाम से जाना जाता है जो 22 अक्टूबर, 1764 ई. को बक्सर (बिहार) नामक स्थान पर लड़ा गया था। बक्सर की भारी विजय के पश्चात अंग्रेजी सेना अवध की ओर बढ़ी। शाहआलम ने अंग्रेजों से संधि कर ली। बंगाल के तत्कालीन अंग्रेज गर्वनर लॉर्ड क्लाइव ने इलाहाबाद की संधि अवध के नवाब वजीर शुजा–उद्–दौला से की, जिसके तहत युद्धों के खर्चे के रूप में 50 लाख रुपये का भुगतान कंपनी को करना था, जिसके पश्चात उसके क्षेत्र उसे वापस मिल जाते। उसने कंपनी के साथ यह रक्षात्मक समझौता कर लिया।

अवध अब अंग्रेजों के लिए एक मध्यवर्ती राज्य बन गया था। अंग्रेजों ने शाहआलम द्वितीय को 'कड़ा' तथा 'इलाहाबाद' के क्षेत्र दिए। कंपनी ने बंगाल, बिहार, उड़ीसा की दीवानी प्रदान की। इसके बदले उसने कंपनी को 26 लाख रुपया वार्षिक देना स्वीकार किया।

मई 1764 में पटना के आस–पास कुछ सैनिक अभियान के उपरांत, शुजा ने बक्सर के किले में अपना अड्डा जमाया और वहीं वर्षा ऋतु बिताई। इस समय मेजर हेक्टर मुनरो को नियुक्त किया गया था, जो अंग्रेजी सेना के साथ अक्टूबर 1764 में बक्सर पहुंचा। यहीं 23 अक्टूबर, 1764 में एक घमासान युद्ध में शुजा को परास्त किया।

सैनिक दृष्टि से बक्सर का युद्ध अंग्रजों की बहुत बड़ी सैनिक सफलता थी। सिराजुदौला अपने विश्वासघाती सैनिकों के कारण पराजित हुआ। यहां विजय प्राप्त करने पर बंगाल में अंग्रेजी सत्ता के प्रभुत्व की स्थापना की प्रक्रिया पूरी हो गई और अवध–इलाहाबाद क्षेत्र के द्वार भी उनके प्रभाव विस्तार के लिए उनमुक्त हो गए।

बंगाल में दोहरा (द्वैध) शासन

इस प्रणाली के अंतर्गत, अंग्रेजों के पास बिना किसी जिम्मेदारी के सभी शक्तियां और संसाधन थे। नवाब के पास बिना किसी शक्ति के सभी जिम्मेदारियां थीं और राजस्व पर कंपनी का अधिकार हो गया था।

अंग्रेजों से 1765 में इलाहाबाद की संधि करके बंगाल के दीवानी अधिकार प्राप्त कर लिया और इसके बदले में मुगल सम्राट ने कंपनी को 26 लाख रुपये सालाना देने का वचन दिया। कंपनी ने बंगाल के दीवानी अधिकार मुगल सम्राट से और निजामत शक्तियां नवाब से प्राप्त कर ली। कंपनी और नवाब दोनों द्वारा प्रशासन की व्यवस्था को बंगाल का द्वैध या दोहरा प्रशासन कहा जाता है।

जिस समय बंगाल में कंपनी शासन स्थापित हो रहा था, उस समय मुगल साम्राज्य के प्रशासन में दो विभाग कार्य करते थे–

- **निजामत** : व्यापक अर्थ में निजामत से अर्थ कानून व्यवस्था, प्रशासन और फौजदारी मामलों से है। प्रांतीय सूबेदार निजामत का प्रभारी हुआ करता था जिसे नजीम कहा जाता था।
- **दीवानी** : दीवानी राजस्व प्रशासन तथा नागरिक कानून से संबंधित थी। दीवान राजस्व प्रशासन का प्रभारी हुआ करता था।

इलाहाबाद की संधि के उपरांत अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी को बंगाल का नवाब बनाया गया था किंतु लॉर्ड क्लाइव ने बंगाल शासन पर प्रत्यक्ष नियंत्रण न लेना ही पसंद किया। यह जिम्मेदारी नवाब के नायब दीवान तथा नायब नजीम मुहम्मद रजा खान को सौंपी गई। नायब नजीम के तौर पर वह नवाब का प्रतिनिधि था वहीं नायक दीवान के नाते वह कंपनी का प्रतिनिधित्व भी करता था। इस प्रकार नवाब को ही दीवानी तथा फौजदारी दोनों ही कानूनों को देखना पड़ता था। हालांकि उसे अपने कार्य मुहम्मद रजा खान के माध्यम से करना था जो अंग्रेज कंपनी के नियंत्रण, निर्देशन तथा निरीक्षण में था। दीवान के तौर पर कंपनी राजस्व की वसूली प्रत्यक्ष किया करती थी

जबकि उप–निजाम की नियुक्ति के अधिकार द्वारा वह निजामत अर्थात पुलिस/न्यायिक शक्तियों पर नियंत्रण रखती थी। इसी व्यवस्था को शासन की दोहरी प्रणाली के रूप में जाना गया। इस प्रणाली के तहत अंग्रेजों के पास बिना किसी जिम्मेदारी के शक्ति व संसाधन थे, वही नवाब के पास बिना शक्ति के शासन चलाने की जिम्मेदारी थी। इस प्रकार कुशासन का पूर्ण उत्तरदायित्व नवाब का ही होता था। मुगल बादशाह को अदा की जाने वाली मामूली राशि के बदले में एकत्र किया राजस्व कंपनी की आय का एक अनन्य साधन था।

इस व्यवस्था के परिणामस्वरूप प्रशासनिक विघटन हुआ। कानून और व्यवस्था की स्थिति खराब हुई, व्यापार और वाणिज्य का पतन हुआ, व्यापारियों की स्थिति भिखारियों जैसी हो गई। रेशम व कपड़ा उद्योग विनष्ट हो गए। 1770 में भयंकर अकाल के दौरान कंपनी के अप्रत्यक्ष शासन के दुष्परिणामों को पूरी तरह अनुभव किया गया। क्लाइव द्वारा द्वैध शासन राजनीति की भयंकर विफलता सिद्ध हुआ। वारेन हेस्टिंग्स को 1772 में बंगाल का गवर्नर नियुक्त किया गया तो उसने मूल प्रभुसत्ता के प्रति निष्ठा का नकाब उतार फेंका और उसने बंगाल पर विजित राज्य के रूप में शासन प्रारंभ किया। द्वैध शासन व्यवस्था कंपनी के कर्मचारियों को हस्तांतरित कर दी गई।

इस प्रकार दो दशक से भी कम समय में बंगाल की वास्तविक प्रशासनिक एवं राजनीतिक शक्ति बंगाल के नवाब के हाथों से ईस्ट इंडिया कंपनी को हस्तांतरित हो गई। अंग्रेजों द्वारा बंगाल पर अधिकार के तत्काल बाद ही ब्रिटिश उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद देश की समृद्ध अर्थव्यवस्था औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में परिवर्तित हो गई।

एक व्यापारिक कंपनी की भूमिका से बदल कर अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी धीरे–धीरे भारत में सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति बन गई। कई अन्य क्षेत्रीय शक्तियां भी ईस्ट इंडिया कंपनी के अधीन हो गई। अब बंगाल, बिहार के बाद 1790 में अंग्रेज कर्नाटक की राजनीति में लिप्त होने लगे, जहां उनका सामना हैदरअली व टीपू सुल्तान से होना था।

1.4.3 बाह्य बाजार और आंतरिक वाणिज्य के लिए भारतीय विनिर्माण

15वीं शताब्दी में उत्तरमाशा अंतरीप से होकर भारत के लिए समुद्री मार्ग की खोज हो जाने से पूर्व और पश्चिम में संबंध स्थापित हो गया और व्यापारिक मार्गों में युगांतकारी परिवर्तन हुए। इंग्लैंड, हॉलैंड, फ्रांस के आकर्षण का प्रधान कारण कच्चा माल नहीं था वरन् लिनेन, छींट, जरी के काम के कपड़े, ऊनी, रेशमी वस्तुएं आदि थी। यही वस्तुएं ईस्ट इंडिया कंपनी के लाभकारी व्यापार का आधार थी, जिस पर अंत में सप्तवर्षीय युद्ध की समाप्ति और फ्रांसीसियों की हार के उपरांत उसे पूर्ण एकाधिकार प्राप्त हो गया।

17वीं शताब्दी के अंत में भारतीय कपड़ों का प्रयोग दंडनीय अपराध घोषित किया गया, इसके लिए कपड़ों पर आयात कर इतना अधिक लगाया कि आयात बिल्कुल बंद हो जाए।

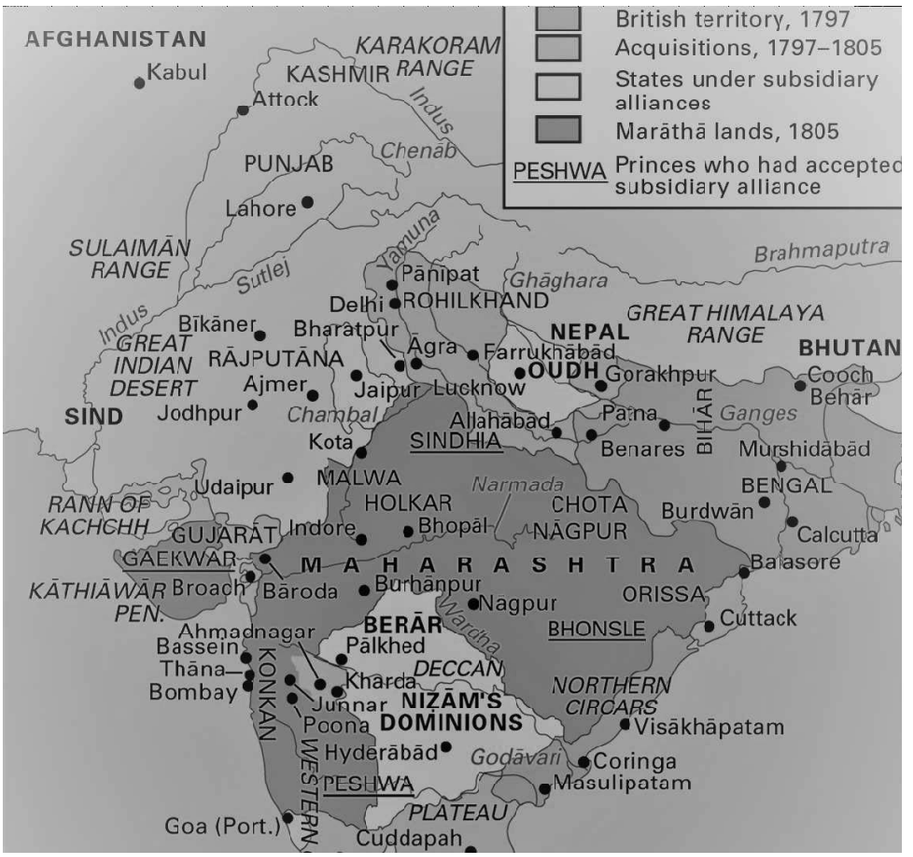

19वीं सदी के प्रारंभ में भारतीय राजनीतिक स्थिति

बाह्य व्यापार

19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इंग्लैंड और भारत में होने वाले व्यापार के स्वभाव में काफी परिवर्तन आया। अब भारत उन्हीं वस्तुओं, उदाहरणार्थ कपड़ा और चीनी का आयात करने लगा, जिनका वह अब तक निर्यात करता आया। 19वीं शताब्दी के मध्य तक लंकाशायर में कपड़े का उद्योग इतना विकसित हो गया था कि भारत में भेजी जाने वाली वस्तुओं का आधा भाग कपड़ा ही होता था।

रूस और जापान के युद्ध के उपरांत भारतीय व्यापार में जापान की दिलचस्पी तेजी से बढ़ने लगी। इन देशों का उद्देश्य भारत में अपनी निर्मित वस्तुओं की बिक्री बढ़ाना था, लेकिन इस उद्देश्य से निर्मित संगठनों ने भारत के कच्चे माल तथा खाद्यान्न जो इन देशों के उद्योग के लिए आवश्यक थे, के निर्यात की प्रेरणा दी। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निम्नलिखित तरीके काम में लाए गए–

1. राष्ट्रीय जहाजरानी सेवाओं का विकास।
2. राष्ट्रीय बैंकों की शाखाओं की स्थापना।
3. बम्बई, कलकत्ता जैसे व्यवसाय प्रधान केंद्रों में वाणिज्य सदनों की स्थापना।

इस कार्यवाही में उन देशों की सरकारों की भी साहनुभूति थी तथा उनके भारत स्थित राजदूतों ने भी अपने देश के व्यापारिक हित को पूरा प्रोत्साहन दिया। सं. रा.

अमेरिका ने लंदन द्वारा भारत से संबंध स्थापित कर रखा था। 1914–18 के युद्ध के प्रारंभ होने के बाद भी भारत में व्यापारिक संबंध स्थापित करने के लिए सं.रा. के प्रयत्न इतने जागरूक एवं कटिबद्ध नहीं थे जितने जापान और जर्मनी के थे।

नवीन शताब्दी के प्रथम 14 वर्षों में विशेषकर 1905 के बाद, भारत के विदेश व्यापार में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। सबसे अधिक वृद्धि प्रथम विश्वयुद्ध के प्रारंभ होने से पहले पांच वर्षों में हुई। इन वर्षों में रुपये का मूल्य प्रायः स्थिर था। रेलवे व सिंचाई जैसे जन कार्य बड़ी तत्परता के साथ किए जा रहे थे। जैसा कि ऊपर बताया गया है कि जर्मनी, जापान तथा संयुक्त राज्य अमेरिका भी अपने व्यापार को आगे बढ़ाने का संगठित प्रयत्न कर रहे थे जो इन देशों में होने वाले आर्थिक परिवर्तनों के फलस्वरूप तेजी से बढ़ रहा था। जिसने औद्योगिक दृष्टि से उन्हें इंग्लैंड के समक्ष कर दिया था।

क्षति की ओर भारतीय बाजार (1917–1940)

इस काल के प्रारंभिक वर्षों में निर्यात पर लगाये गए युद्ध कालीन प्रतिबंधों के हट जाने, शत्रु देशों से पूर्ववत व्यापारिक संबंध स्थापित होने तथा किराये की स्थिति में सुधार होने के परिणामस्वरूप व्यापार में समृद्धि मालूम होने लगी। इसके चिह्न 1920–21 के अंत में स्पष्ट रूप से लक्षित होने लगे थे। सबसे पहले निर्यात व्यापार पर प्रभाव पड़ा। ब्रिटेन, संयुक्त राज्य तथा जापान के बाजार भारतीय उत्पादनों से भर गए और उनकी ओर से मांग काफी कम हो गई। यह ठीक है कि मध्य यूरोप के देशों में भारतीय वस्तुओं की मांग काफी कम हो गई, लेकिन युद्ध से विच्छिलन हुए साधनों तथा घटी हुई क्रय शक्ति के कारण इन्हें खरीदने में असमर्थ थे। 1920 की असंतोषजनक वर्षा तथा खाद्यान्नों की बढ़ती हुई कीमतों के कारण यह आवश्यक हो गया कि खाद्यान्नों के निर्यात पर लगाए गए प्रतिबंध जारी रखे जाएं। जापान में भी भीषण संकट उत्पन्न हो जाने से उस देश को निर्यात की जाने वाली कपास में रुकावट पड़ गई। सरकार द्वारा दो शिलिंग प्रति रुपये के विनिमय मूल्य को स्थिर करने के प्रयत्न ने भी पहले से ही कमजोर निर्यात व्यापार को और भी दुर्बल बना दिया। इसके विपरीत आयात–व्यापार शीघ्रता से बढ़ता गया। इस प्रकार युद्ध काल में भारत की जो कुछ आयात संबंधी आवश्यकताएं थीं वे पूरी नहीं हो सकीं। मशीन तथा अन्य निर्मित वस्तुओं के लिए दिए गए ऑर्डर अब तक वैसे ही पड़े थे। अब यही सामान देश में भी आने लगे। 1920–21 में भरत का व्यापारिक संतुलन 7980 करोड़ रुपये से प्रतिकूल था। यही संतुलन दूसरे वर्ष भी 3394 करोड़ रुपये से प्रतिकूल रहा।

1929 में एक अधोमुखी प्रवृत्ति आरंभ हुई ओर साथ ही स्वर्ण मुद्राओं का अवमूल्यन इन्हीं प्रभावों के कारण बहुत सी वस्तुओं के मूल्यों में दिन–प्रतिदिन वृद्धि होने लगी। 1939 में जो मंदी प्रारंभ हुई, उससे भारत जैसे कृषि प्रधान देश को विशेष रूप से हानि पहुंचाई। इसका कारण कृषि उत्पत्ति के मूल्यों में हुई अभूतपूर्व कमी थी। कृषि उत्पादन की कीमतों में सुधार भी कुछ पहले ही होने लगा। लेकिन कृषि कीमतों में पर्याप्त वृद्धि 1936–37 के बीच दिखाई पड़ी।

1937 के लगभग सं.रा. में व्यापार में गिरावट प्रारंभ हुई। समय बीतने के साथ यह जोर पकड़ती गई, जिससे विश्व के आर्थिक समुत्थान को एक आकस्मिक धक्का लगा।

आर्थिक दशाओं की ऊर्ध्वगामी दिशा एकाएक विपरीत हो गई। संयुक्त राष्ट्र में बैंकों ने साख सुविधाओं पर प्रतिबंध लगा दिया और नियंत्रित उत्पादन की योजनाओं

में ढील दे दी गई। फलतः विश्व में प्राथमिक वस्तुओं का मूल्य तेजी से घट गया और जून 1938 तक कम बना रहा। 1937–38 में भारत के समुद्र पार व्यापार के आयात में थोड़ी वृद्धि और निर्यात में थोड़ी कमी हुई। परिणामस्वरूप भारत से व्यक्तिगत सौदों का निर्यात 51 करोड़ रुपये से घटकर 10 करोड़ रुपये हो गया। भारतीय विदेशी व्यापार के व्यक्तिगत सौदों का कुल मूल्य 363 करोड़ रुपये था, जो कि घटकर 1939 में 322 करोड़ हो गया।

निर्यात में 41 करोड़ रुपये मूल्य की कमी कुछ अंशों में विश्व के बाजारों में प्रारंभिक वस्तुओं की मंदी का परिणाम थी और इसका कारण भारतीय कपास के लिए क्रय शक्ति का घट जाना भी था। आयात की कमी के कारण कृषकों की क्रयशक्ति का ह्रास हुआ था। 1939 में आयात में कमी होने के कारण लगभग 2 करोड़ रुपये से भारत का व्यापारिक संतुलन सुधर गया।

1945 तक भारतीय बाजार

1939 में युद्ध के पश्चात भारत के व्यापार को प्रभावित करने वाले अनेक प्रतिकूल प्रभाव सामने पड़े। ये परिस्थितियां युद्ध घोषणा के पूर्व की राजनीतिक अनिश्चितता का परिणाम थी। जर्मनी, चेकोस्लोवाकिया और पोलैंड, सितंबर 1939 के पहले ही समाप्त हो गए। 1940 के दशक तक नार्वे, हालैंड, डेनमार्क, बेलज्यिम, फ्रांस और इटली शत्रुओं द्वारा अधिकृत क्षेत्र हो गए। रूस के साथ पहले ही सारा व्यापार समाप्त हो गया था। 1941 में जापान भी शत्रु की सूची में आ गया। जापान द्वारा क्रमशः हिंदचीन, स्याम, ईस्टइंडीज, मलाया और बर्मा जैसे महत्वपूर्ण बाजारों को बंद कर दिया।

इस प्रकार के प्रधान देश, जिनके साथ भारत का व्यापार हो सकता था, वे थे– संयुक्त राज्य अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया, ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य देश और एशिया तथा अफ्रीका के निकट एवं मध्य पूर्वी देश थे। यहां जहाजी सुविधाओं की समस्या सबसे बड़ी थी। 1940 में इटली के साथ अंग्रेजों के राजनीतिक संबंध खराब होने के कारण भारत यूरोपीय व्यापार उत्तरमाशा अंतरीप की ओर से होने लगा। तब जहाजरानी की कमी का अनुभव किया गया। 1941 में जापान द्वारा युद्ध में शामिल हो जाने पर प्रशांत महासागर के मार्ग भी आरक्षित हो गए और संयुक्त राज्य, आस्ट्रेलिया एवं न्यूजीलैंड के साथ होने वाले भारतीय व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

युद्ध प्रारंभ होने के ठीक बाद सरकार द्वारा निर्यात की जाने वाली अनेक सामग्रियों पर प्रतिबंध लगा दिया गया। शत्रु देशों के साथ व्यापार बिल्कुल बंद कर दिया गया। 1940 में 68 मदों पर प्रतिबंध लगा दिया गया। इसका उद्देश्य विदेशी विनिमय को सुरक्षित करना और जहाज के बोझ को कम करना था। परिणामस्वरूप वैकल्पिक पूर्ति हेतु अनेक छोटे बड़े उद्योग खड़े हो गए जिससे व्यापार अपने साधारण मार्ग से हट गया।

1940 में ग्रेगरी मीक मिशन जिसके उद्देश्य भारतीय व्यापार को पुनर्जीवित करना था, इसके सदस्य डॉ. टी.ई. ग्रेगरी और डेविड मीक की रिपोर्ट से स्पष्ट है कि "भारत के खोए हुए बाजारों का स्थानापन्न अमेरिकी बाजारों में नहीं मिल सकता। इसका कारण था कि भारत द्वारा यूरोप भेजी जाने वाली कपास, मूंगफली, खली, बीज इत्यादि प्रत्यक्ष्प रूप से भारतीय सामग्री के प्रतिस्पर्धी थे। रिपोर्ट में स्पष्ट कहा गया कि भारत को अपने खोये हुए यूरोपीय बाजारों के घाटे को भरने के लिए गैर–अमेरिकी बाजार ढूंढ़े।"

1.4.4 तत्संदर्भित प्रश्न पर परिचर्चा

ब्रिटिश शासन द्वारा भारत में लाए आर्थिक बदलावों का घरेलू उद्योगों पर 19वीं सदी में काफी गहरा प्रभाव पड़ा। ब्रिटिश शासन ने कृषि के वाणिज्य को बढ़ावा देकर, इंग्लैंड के उद्योगों के माल को भारत में बड़े पैमाने पर आयात करके और भारतीय सूती कपड़ों के निर्यात को प्रतिबंधित करके 19वीं सदी में हिंदुस्तान के शिल्प एवं हस्त उद्योगों को पूरी तरह से बर्बाद कर दिया और रोजगार पा रहे कारीगरों के विनाश का रास्ता खोल दिया। ब्रिटिश शासन के शुरू में भारत का शिल्प उद्योग निरपेक्ष रूप से काफी बड़ा था। 1750 में दुनिया के औद्योगिक उत्पादन का लगभग 1/4वां भाग की आपूर्ति भारत करता था। भारत उद्योगों की उत्पादन तकनीकी में काफी पिछड़ा हुआ था। इसके विपरीत इंग्लैंड में तेजी से मशीनी तकनीकी पर सूती–वस्त्र उद्योग पनपने लगा। 1800 तक इंग्लैंड ने दुनिया के दूसरे भागों में हिंदुस्तान के मुकाबले सूती कपड़ों की आपूर्ति में पहल प्राप्त कर ली थी। इससे भारत का सूत कपड़ा उद्योग और घरेलू सूती कपड़ों की मांग इंग्लैंड के उद्योग के दवाब में आ गई। 1850 के बाद भारतीय बुनकरों को कपड़े की कीमतें कम करने पर मजबूर कर दिया था। उन्हें कम गुणवत्ता वाले क्षेत्र में धकेल दिया।

ब्रिटिश आर्थिक नीति का एक और महत्वपूर्ण पक्ष जो प्रतियोगिता के इस युद्ध में ब्रिटिश उद्योगों की मदद कर रहा था– वह था मुक्त व्यापार के प्रति साम्राज्य की प्रतिबद्धता। 1856 के बाद भारत में मशीन उद्योग उभरना शुरू हो गया था। 1901 में भारत में आधुनिक फैक्टरी उत्पादन में श्रम शक्ति के केवल 5 प्रतिशत को ही रोजगार प्राप्त था। भारत के औपनिवेशीकरण ने इंग्लैंड के औद्योगीकरण में मदद की।

ब्रिटिश उपनिवेशवाद की आर्थिक आलोचना करने वाले प्रांरभिक राष्ट्रवादी नेताओं जैसे– दादा भाई नौरोजी, रमेश चंद्र आदि ने अपने लेखन में स्पष्ट रूप से अपना रोष प्रकट किया। इसका दूसरा वैचारिक मूल मार्क्सवादी चिंतन में साम्राज्यवाद और उसके आर्थिक प्रभाव में देखने को मिलता है। लेकिन इस प्रक्रिया और इसके आर्थिक प्रभावों को लेकर विद्वानों में काफी मतभेद हैं। आमतौर पर इस पक्ष में बोलने वाले विद्वानों का मत है कि भारत में अंग्रेजी शासन और माल ने निरोधीकरण को जन्म दिया। संपूर्ण प्रभाव की जांच किए बगैर केवल छोटे हस्त शिल्प उद्योग के ब्रिटिश माल की प्रतियोगिता के कारण विनाश और पतन के आंकड़े ही प्रस्तुत करते हैं।

राष्ट्रवादी मत

राष्ट्रवादी अर्थशास्त्रियों ने अंग्रेज अधिकारियों की रिर्पोटों, यात्रियों के वृत्तांतों और सरकारी कमेटियों की जांच रिपोर्ट के आधार पर इस बात की पुष्टि होती है कि 19वीं सदी में तेजी से उद्योगों का पतन हुआ। लेकिन इस विश्लेषण में आंकड़ों का सहारा नहीं लिया गया है, इसलिए यह कहना कठिन है कि पूरे भारत में उद्योगों का पतन हुआ है।

रामेश चंद्र दत्त ने भारत के उद्योगों के पतन के लिए इंग्लैंड के औद्योगिक उत्पादों के बढ़ते आयाम को जिम्मेदार ठहराया है।

डैनियल थार्नर का मत है कि संभवतः 19वीं सदी की शुरुआत में निरोधीकरण हुआ होगा, लेकिन बाद में आधुनिक कल–कारखाने खुलने से 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध और 20वीं सदी में औद्योगिक अवनति के संकेत नहीं मिलते। अपने मत को साबित

करने के लिए उन्होंने 1881 से 1931 के बीच जनसंख्या के आंकड़ों के आधार पर भारत के व्यावसायिक ढांचे की जांच की। उनके अनुसार सतही तौर पर देखने से यह लगता है कि 1881 से 1931 के बीच कृषि व्यवसाय में रोजगार पा रहे लोगों की संख्या और अनुपात में बढोत्तरी हो रही है, औद्योगिक क्षेत्र में रोजगार का अनुपात सिकुड़ रहा है। लेकिन डैनियल इसे निरोधीकरण का सबूत नहीं मानते क्योंकि उनके अनुसार जनसंख्या के आंकड़ों में कई किस्म की खामियां हैं। उनके अनुसार इस आधार पर जो व्यावसायिक ढांचे की तस्वीर उभरती है वह निरोधीकरण दर्शाने की बजाए एक जड़ व्यावसायिक ढांचे की तरफ संकेत करती है।

डेविस मौरिस का तर्क है निरोधीकरण का कोई भी असर अर्थात प्रभाव भारतीय उद्योगों पर नहीं हुआ। उनके अनुसार राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने औद्योगिक माल के आयात की वृद्धि को ही इसका सूचक मान लिया है, लेकिन ऐसा संभव है कि अंग्रेजी राज में विदेश व्यापार की मात्रा, राष्ट्रीय आय और जनसंख्या सभी में वृद्धि हो रही थी और देशी उद्योग भी नष्ट नहीं हुए थे। फिर वे तर्क देते हैं कि औद्योगिक उत्पादन से देशी–उद्योगों को नुकसान हुआ, लेकिन किसी दूसरे उद्योग की तरक्की हो सकती है। जैसे– लोहे के आयात से लौह उद्योग को नुकसान हुआ लेकिन लोहे से मशीनें, पुर्जे और बर्तन बनाने से उद्योगों को फायदा हुआ। क्योंकि प्रचुर मात्रा में लोहा मंडियों में मिलने लगा। इसी प्रकार इंग्लैंड की मिलों द्वारा सूत के आयात से सूत कातने वाले मजदूरों को धक्का लगा, लेकिन बुनकरों को सस्ते दर पर सूत मिलने से वे कम लागत में कपड़ा बुनने लगे और विदेशी आयात से प्रतियोगिता करने लगे। इसको उन्होंने औद्योगिक आयात का क्षतिपूरक प्रभाव कहा।

अतः 19वीं सदी में रिचर्ड कॉबडेन, जॉन ब्राहट, मॉरिसन ने भी तर्क दिया कि आर्थिक विकास का रास्ता श्रम विभाजन है। जैसे इंग्लैंड में अगर दक्षिण में खेती, पशु–पालन लाभप्रद व्यवसाय थे तो उत्तर में कल–कारखानों का उत्पादन। इनका मानना है कि श्रम विभाजन स्थानीय स्तर पर लाभदायक है तो अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी श्रम विभाजन लाभदायक है अर्थात अगर भारत एक कृषि प्रधान देश बनकर कच्चे माल का निर्यात इंग्लैंड के उद्योगों के लिए कर रहा था तो यह तुलनात्मक लाभ के सिद्धांत के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय श्रम–विभाजन का नमूना था और अगर भारतीय हस्त शिल्प नष्ट हो रहे हैं तो इस पर आंसू बहाने का क्या फायदा? यहां यह सवाल बुनियादी महत्व का है कि एक पराधीन और प्रभुत्वशाली देश के बीच का श्रम विभाजन, किसान और ताहैर के बीच का श्रम विभाजन एक जैसे कैसे माना जा सकता है? अगर यह भी मान लिया जाए कि यह श्रम विभाजन स्वाभाविक था तब भी कृषि प्रधान उपनिवेश आर्थिक विकास और औद्योगीकरण के बहुत से प्रत्यक्ष और अनदेखे लाभों से वंचित रह रहा था।

उपरोक्त मतों की चर्चा से पता चलता है कि औनिवेशिक अर्थव्यवस्था ने भारतीय वाणिज्य, अर्थव्यवस्था को पूरी तरह नष्ट भ्रष्ट कर दिया। कृषि उद्योग, हस्तशिल्प, कुटीर उद्योग पूरी तरह नष्ट हो गए। औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के कुछ सकारात्मक प्रभाव भी पड़े, किंतु नकारात्मक प्रभाव के सामने वे बहुत कम थे।

लेकिन जैसे जे.टी. संडरलैंड ने कहा है कि– "भारत में अंग्रेजी शासन वटवृक्ष के समान ही था। एक वटवृक्ष के नीचे छोटा पौधा या कोई भी वृक्ष उग नहीं सकता।

वृक्ष अपने नीचे की सभी वनस्पतियों को आच्छादित कर देता है तथा मार डालता है। केवल वही उद्‌भव पनप सकते हैं जिन्हें ऊपर से वृक्ष ने नीचे भेजा है और जो जड़ पकड़ लेते हैं और विकसित हो जाते हैं। अन्य नहीं।"

अपनी प्रगति जांचिए

7. वाणिज्यवाद का प्रथम चरण कब प्रारंभ हुआ?

   (क) सन् 1757 (ख) सन् 1758

   (ग) सन् 1759 (घ) सन् 1760

8. किस सन् में वारेन हेस्टिंग्स को बंगाल का गवर्नर नियुक्त किया गया?

   (क) सन् 1765 (ख) सन् 1770

   (ग) सन् 1775 (घ) सन् 1780

1.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ग)
2. (क)
3. (ख)
4. (ग)
5. (घ)
6. (ख)
7. (क)
8. (ख)

1.6 सारांश

अंग्रेजों की ये धारणा थी कि भारतीयों को अपने इतिहास को संजोना नहीं आता। तत्कालीन आर्थिक विषय पर ब्रिटिशर्स का मानना था कि भारतीयों की हालत तो सदैव ही मंद रही है, वे सदैव ही बेरोजगारी इत्यादि आर्थिक समस्याओं से ग्रसित रहे हैं। वे मानते थे कि भारतीयों को परिस्थिति से लाभ उठाना नहीं आता था। ब्रिटिशर्स ने सदैव ही स्वयं को सही और भारतीयों को गलत ठहराया। उन्होंने यह कभी स्वीकार नहीं किया कि उनके द्वारा भारतीय पर हर प्रकार के शेषण किए गए। उधर भारतीय भी प्रारंभ में दूसरी दुनिया या पश्चिमी दुनिया के प्रति अधिक मोह से ग्रसित थे, वे उससे काफी प्रभावित थे, किंतु कहीं न कहीं यह प्रभाव बाद भारत में राष्ट्रीय जागरूकता, शैक्षिक उत्थान इत्यादि के लिए हितकर रहा। उस समय ब्रिटिशर्स का मानना था कि भारतीय मूर्ख हैं और समस्त ज्ञान का तत्व ब्रिटिशर्स के पास है। 1882 में जॉन और स्ट्रेची ने कहा कि पिछले 25 वर्षों में जो कार्य ब्रिटिशर्स ने भारतीयों के लिए किया वो पहले कभी किसी ने नहीं किया। इसी क्रम में 1887 में डब्ल्यू.डब्ल्यू. हंटर ने लिखा था,

टिप्पणी

50 वर्षों में भारत की प्रगति कम आश्चर्यजनक नहीं रही है। इस प्रकार विभिन्न ब्रटिश विद्वानों समय–समय पर खुद की तारीफ करते रहे। परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि भारत में ऐसे राष्ट्रवादी लेखक नहीं हुए जिन्होंने तत्कालीन परिस्थितियों पर कोई प्रकाश नहीं डाला। हमारे देश में भी ऐसे अर्थशास्त्री विद्वान हुए जिन्होंने न केवल आजादी का बिगुल बजाया बल्कि तत्कालीन परिस्थितियों में मार्गदर्शन हेतु ऐसे लेख, पुस्तकें लिखीं जिससे जनता न केवल जाग्रत हुई बल्कि आज भी वे हमारे लिए लाभप्रद हैं।

इसी संदर्भ में गोपाल कृष्ण गोखले ने 1903 ई. में बजट के लिए ब्रिटिश सरकार से सूती माल व नमक कर में कमी करने की बात रखी थी। पुनः उन्होंने 1905 में नमक कर में कमी तथा देश के कृषकों की सहायता पर ध्यान आकर्षित किया। राजा राममोहन राय ने भी इस क्षेत्र में ब्रिटिश सरकार का ध्यान आकर्षित किया था। इसके अतिरिक्त महागोविंद राणाडे की फ्रेडरिक लिस्ट की पुस्तक में 'नेशनल सिस्टम ऑफ पॉलिटीकल इकोनॉमी' के लेख काफी महत्वपूर्ण हैं। इन्होंने ही लघु उद्योग पर नियोजत विकास पर ध्यान केंद्रित किया था। रोमेशचंद्र की पुस्तक 'फेमाइन्स इन इंडिया' में उन्होंने कृषकों की दशा का उल्लेख किया। दादाभाई नौरोजी ने सर्वप्रथम धन–निकास जैसे महत्वपूर्ण बिंदु प्रकाश डाला, जो काफी लाभप्रद रहा किंतु ब्रिटिश शासन इसे मानने को तैयार नहीं था।

इसके अतिरिक्त तत्कालीन कृषि, विदेशी व्यापार, औद्योगिक क्षेत्र, जनांकिकीय परिस्थिति इत्यादि की समस्याओं पर भी प्रकाश डाला गया। जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है कि तत्कालीन इतिहास हेतु हमें अधिकांश रूप से ब्रिटिशर्स के रिकॉर्ड पर निर्भर रहना पड़ता है, क्योंकि वे रिकॉर्ड्स प्रशासकीय रिकार्ड्स है। इसका अर्थ यह बिल्कुल भी नहीं है कि हमारे पास कोई भारतीय साक्ष्य नहीं है। हमारे पास भारतीय राष्ट्रवादियों की पुस्तकें, लेख, संस्मरण, जीवन–वृत्तांत, यात्रा वृत्तांत, डायरी इत्यादि उपलब्ध है जो तत्कालीन भारतीय इतिहास को बताने में सहायक है।

कंपनी शासन की स्थापना के विषय में विस्तृत वर्णन किया गया है। कंपनी शासन केवल उद्योग–व्यापार के लिए प्रारंभ किया गया था। किंतु धीरे–धीरे अंग्रेजी शासन ने व्यापार और शासन पर एकाधिकार किया। इनका पहला कदम कृषि क्षेत्रों से प्रारंभ हुआ था। औद्योतगिक क्रांति के फलस्वरूप भारत में शिल्पकलाओं को झटका लगा। पहले किसानों की हालत पस्त हो चुकी थी अब कारीगर भी अपने काम से हाथ धो बैठा। भारत में होने वाली खेती, उत्पादन पर भी अग्रेजों का अधिकार था। वे अपने लाभ के लिए वही खेती कराते थे जो उनके लिए लाभकारी होती जिससे किसानों को परेशानियों का सामना करना पड़ता था। इससे किसानों की स्थिति बेकार होती जा रही थी।

इस काल में भारत में बैंकिंग सुविधा देना एक उल्लेखनीय कदम था। इस काल में स्वदेशी बैंकर/निजी फर्म जो बैंकों के रूप में कार्य करते थे, इनका कार्य पैसा जमा करना, ऋण देना था। भारतीय साहूकार, महाजनों के घराने, किसानों, जमीदारों तथा कारीगरी की साख की जरूरतों को पूरा करते थे। फिर भी आवश्यकतानुरूप 19वीं शताब्दी के प्रारंभ में भारत में यूरोपीय एजेंसी हाउस का उदय हुआ। 18वीं शताब्दी के अंत में बैंक ऑफ कलकत्ता के नाम से नए बैंक की स्थापना हुई। प्रारंभ में इनके पास कुछ सीमित अधिकार ही थे। बाद में ये काफी सफल रहे।

पूर्व औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में पूंजीवाद का विशेष योगदान था। एडम स्मिथ ने अपनी पुस्तक 'द वेल्थ ऑफ नेशंस' में प्राकृतिक आधार पर आर्थिक स्वतंत्रता की

बात कही है। उसने पूंजीवाद का नाम नहीं लिया। 18वीं शताब्दी में हुई औद्योगिक क्रांति के साथ पूंजीवाद का उदय हुआ। इसी बीच आर्थिक और व्यापारिक क्षेत्रों में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। पूंजीवादी आर्थिक प्रणाली स्वयं संचालित होती है और उसमें किसी भी प्रकार के सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं होती थी। इस प्रणाली में व्यक्ति स्वयं हित के उद्देश्य से क्रियाशील होते थे। पूंजीवाद के विषय में विद्वानों में मतभेद है। प्लासी व बक्सर के युद्ध के पश्चात ब्रिटिशर्स भारत में अपना एकाधिकार बनाने में सफल रहे। इसी बीच 1765 में इलाहाबाद की संधि के पश्चात अंग्रेजों ने बंगाल के दीवानी अधिकार प्राप्त कर लिए। 1772 में वारेन हैस्टिंग्स बंगाल का गवर्नर बन कर आया और उसने मुगल प्रभुसत्ता के प्रति निष्ठा का नकाब उतार फेंका और उसने बंगाल पर सफल विजित शासन प्रारंभ किया।

1.7 मुख्य शब्दावली

- **इतिहास** : इतिहास वह बौद्धिक स्वरूप है, जिसमें सभ्यता अपने अतीत को चित्रित करती है।
- **नहर** : नहर में नदियों या जल के किसी अन्य बड़े स्रोत आदि को मिलाकर बनाया गया कृत्रिम निर्माण होता है जो कि जल को एक जगह से दूसरी जगह तक प्रवाहित करने के लिए किया जाता है।
- **रहट** : सिंचाई का एक ऐसा साधन है जिसमें न ही ईंधन और न ही बिजली का प्रयोग होता है। इस तकनीक को दो बैलों की मदद से चलाया जाता है। रहट सिंचाई में एक धुरी से दो बैलों को इस तरह बांधा जाता था कि वो गोल चक्कर काटते रहें।
- **पूंजीवाद** : पूंजीवाद वह आर्थिक व्यवस्था है जिसमें वस्तुओं का उत्पादन और वितरण व्यक्तिगत इकाइयों या व्यक्तियों के समूह द्वारा किया जाता है।
- **वाणिज्यवाद** : देश के वाणिज्यिक हितों के सरकारी विनियमन द्वारा देश की संपत्ति को बढ़ाने के लिए एक आर्थिक प्रणाली।
- **दीवानी** : मालगुजारी वसूल करने का अधिकार दीवानी कहलाता है।

1.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. महात्मा गांधी के आर्थिक विचारों का संक्षिप्त उल्लेख कीजिए।
2. भारतीय कृषि की मुख्य समस्याएं कौन–कौन सी हैं?
3. जनसंख्या वृद्धि किन–किन समस्याओं को उत्पन्न करती है?
4. मौखिक प्रमाण से क्या तात्पर्य है?
5. रेग्यूलेटिंग एक्ट क्यों पारित किया गया?
6. औपनिवेशिक इतिहास लेखन से आप क्या समझते हो?

7. व्यापार और स्वदेशी बैंकों के मध्य संबंधों को स्पष्ट कीजिए।
8. वाणिज्यवाद से आप क्या समझते हैं?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. भारतीय आर्थिक इतिहास के मुद्दों एवं समस्याओं का उल्लेख कीजिए।
2. ब्रिटिश भारत के आर्थिक इतिहास के स्रोतों का वर्णन कीजिए।
3. 18वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कृषि व गैर–कृषि उत्पादन पर प्रकाश डालिए।
4. पूंजीवाद से आप क्या समझते हैं? इसकी मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
5. पूर्व–औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में पूंजीवाद परिवर्तन की संभावनाओं पर परिचर्चा कीजिए।
6. वाणिज्यवाद की उत्पत्ति के कारणों का उल्लेख कीजिए।
7. प्लासी का युद्ध कब और किसके साथ हुआ? इस युद्ध के क्या परिणाम हुए।
8. द्वैध शासन प्रणाली से क्या तात्पर्य है? बंगाल में द्वैध शासन प्रणाली का उल्लेख कीजिए।

1.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1. शर्मा, हरिश्चंद्र, 'भारतीय अर्थव्यवस्था', साहित्य भवन, इलाहाबाद।
2. स्पेक्ट्रम, 'आधुनिक भारत का इतिहास'।
3. चंद्रा, बिपिन, 'आधुनिक भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद', अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली।
4. मिश्र, गंगाशंकर, 'भारत में ब्रिटिश शासन', काशी हिंदू विश्वविद्यालय।
5. 'आधुनिक विश्व' (एम.ए.), दूरस्थ शिक्षा निदेशालय, महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक।
6. दत्त, रुद्र एवं के.पी.एम. सुंदरम (2010), 'भारतीय अर्थव्यवस्था', एस. चांद कंपनी लि., नई दिल्ली।
7. Dixit, A.K. (1996), 'The Making of Economic Policy', The MIT Pres.
8. Mishra, S.K. and V.K. Puri (2010), 'Problem of Indian Economy', Himalaya Publishing House.
9. Sabyasachi, Bhatyacharya, 'Colonial Histrography', IGNOU-MHI 03, Block-06, Nit 19, New Delhi.

इकाई 2 कृषि व्यवस्था और कृषि उत्पादन

टिप्पणी

संरचना

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 कृषि की स्थिति – क्षेत्रीय विभिन्नताएं
2.3 स्थायी बंदोबस्त
  2.3.1 स्थायी बंदोबस्त लागू करने के उद्देश्य
  2.3.2 स्थायी बंदोबस्त की विशेषताएं
  2.3.3 क्रियान्वयन
  2.3.4 स्थायी बंदोबस्त का प्रभाव एवं अधिकृत आलोचनाएं
2.4 रैयतवाड़ी और महालवाड़ी व्यवस्था
  2.4.1 रैयतवाड़ी व्यवस्था
  2.4.2 महालवाड़ी व्यवस्था
2.5 सामयिक कृषि व्यवस्था के परिणाम
2.6 निर्यात फसलों की खेती में वृद्धि एवं निर्यात वस्तुओं के उत्पादन के व्यवस्थापन में नए तत्व
  2.6.1 निर्यात फसलों की खेती में वृद्धि
  2.6.2 निर्यात वस्तुओं के उत्पादन के व्यवस्थापन में नए तत्व
2.7 पारिस्थितिक परिवर्तन और ग्रामीण समाज
  2.7.1 वनों पर औपनिवेशिक शासन का नियंत्रण
  2.7.2 औपनिवेशिक काल में वनों का प्रयोग
  2.7.3 इम्पीरियल फॉरेस्ट रिसर्च इंस्टीट्यूट की स्थापना की पृष्ठभूमि
  2.7.4 वन विभाग का कार्य
  2.7.5 वन अधिनियम का प्रभाव
2.8 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.9 सारांश
2.10 मुख्य शब्दावली
2.11 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.12 सहायक पाठ्य सामग्री

2.0 परिचय

मुगल साम्राज्य के विघटन और अंग्रेजों की भारत विजय ने यहां के ग्रामीण आर्थिक क्षेत्र में आमूल–चूल परिवर्तन कर दिए थे। प्राक–ब्रिटिश भारत में आत्म निर्भर ग्राम मूल आर्थिक इकाई थे। ये ग्राम कृषि उद्योग, व्यापार के केन्द्र बिन्दु थे परन्तु पेशा कृषि नहीं था। प्राक ब्रिटिश काल के गांवों को हम दो भागों में बांट सकते हैं– रैयता एवं तालुका। तालुका में गांव पर जमींदारों ने हक किया हुआ था जो बदले में राज्य को सैनिक सेवा देते थे और ऐसा भी पाया गया है कि कुछ जमींदार गांव के कृषक सरकार के द्वारा नियुक्त व्यक्ति को ही निश्चित लगान देते थे और बची हुई रकम गांव के काम आती थी। मुगल काल में कृषि ब्रिटिश काल से बेहतर थी। गांव के पास अपनी जमीन होती थी। किसान जब तक लगान देता था तब तक उसे खेती करने का स्वामित्व प्राप्त था। इस प्रकार प्राचीन काल से चला आ रहा वंशानुगत अधिकार पूर्णतः सुरक्षित था।

टिप्पणी

यह भी सत्य है कि गांव में कृषि और उद्योगों की तकनीकी निम्न स्तर की थी तथा हमेशा से अपरिवर्तनशील रही जैसे पुराने कृषि उपकरण, खाद का अपर्याप्त और उचित प्रयोग न होना। इस समय लगान उपज का एक तिहाई से लेकर आधा भाग कृषक से लिया जाता था। इस समय भूमि पर अधिकार तो वंशानुगत था किन्तु नये नियम भी बने। मध्य युग में बंजर भूमि अधिक थी। जहां गांव बसा कर पास की भूमि पर खेती करके जमीन के मालिक बन जाते थे, इसके अतिरिक्त लगान प्राप्त करना भी वंशानुगत अधिकार था, जिसे जमींदार कहा जाता था। जमींदारों के ऊपर राजा होते थे। जमींदारों के पास अपनी सेना होती थी। भारत प्रारम्भ से विभिन्नताओं का देश रहा है। मध्यकाल में आये विदेशी यात्रियों ने भारत के नगरों की खूब प्रशंसा की है। तत्कालीन भारत के नगरों आगरा और फतेहपुर सीकरी की तुलना लन्दन जैसे बड़े शहरों से की है।

उस समय भारत में लाहौर काफी धनी व समृद्ध नगर था, लाहौर की तुलना एशिया व यूरोप के बड़े समृद्ध शहरों से की गयी थी। इसके अतिरिक्त बनारस, पटना, राजमहल, हुगली, वर्धमान, ढाका, चटगांव, समृद्ध नगर थे। इसी प्रकार सम्पूर्ण भारत के विभिन्न हिस्सों में भिन्न–भिन्न पैदावार होती थी जैसे– बंगाल में चावल, बिहार में चीनी, उत्तर प्रदेश में नील। गेहूं, पंजाब, मध्य प्रदेश, आगरा में, दीपालपुर में खरीफ, ज्वार इत्यादि थी।

वास्तविक रूप में भू–राजस्व व्यवस्था सल्तनत व मुगलकाल में स्थापित या प्रारम्भ की गयी। फसल में से राज्य के अंश को माल या खराज कहा जाता था। ये उपज का 1/3 भू–राजस्व होता था। मध्य काल में अकबर, शाहजहां तक कृषि की स्थिति ठीक थी किन्तु मुगल काल के पतन के साथ ही कृषि पर भी पतन के बादल छाने लगे। मध्य काल में बिचौलियों की भूमिका भी देखने को मिलती थी। इनका मुख्य दायित्व था– भू–राजस्व वसूली का वितरण, अपने क्षेत्रों में कानून बनाये रखना इत्यादि। मुगलों के पतन के समय जागीरों का दबाव बढ़ गया, जो बाद में कृषि के लिये संकट बन गया।

मुगलों का पूर्णतः पतन 1707 में नहीं हुआ था बल्कि जब ब्रिटिश कम्पनी ने बंगाल पर अधिकार करके पहले व्यापारिक क्षेत्र में वर्चस्व कायम किया, तब हुआ था। वारेन हेस्टिंग्ज द्वारा बंगाल में कर पद्धति स्थापित करने से कृषकों की स्थिति शोचनीय हो गयी। बंगाल में स्थायी बंदोबस्त लार्ड कार्नवालिस द्वारा लागू किया गया। स्थायी बंदोबस्त का बंगाल एवं संपूर्ण भारत पर जो प्रभाव पड़ा उसे हम अध्याय में पढ़ेंगे।

ब्रिटिश कम्पनी ने एक और राजस्व व्यवस्था लागू की, यह व्यवस्था असम, बम्बई, मद्रास व सिंध में प्रचलित थी। इस व्यवस्था में कम्पनी और किसानों के मध्य समझौता था। यह व्यवस्था किसानों व खेती पर को कितना प्रभावित करती है, अध्याय में इसकी विस्तृत व्याख्या की गयी है। तीसरी व्यवस्था महालवाड़ी व्यवस्था, जो कम्पनी और भू–क्षेत्र से सम्बन्धित थी।

तीन भू–राजस्व प्रणालियों के प्रयोग के पश्चात् भी स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। अंग्रेज कर्मचारी और साहूकार कृषकों का शोषण करने में एकजुट हो गये। ब्रिटिश कालीन भू–राजस्व नीतियों से किसानों का कोई भला नहीं हुआ। इसके विपरीत उनकी हालत गिरती गयी। महजन, कुलीन प्रधानों का बोलबाला हो गया। दिनोंदिन

टिप्पणी

कम्पनी की नवीन व्यवस्थाओं ने कृषकों की हालत बिगाड़ दी थी। कृषकों के पास न ही कृषि के साधन थे और न ही कृषि में निवेश के लिये धन था और सरकार की ओर से उन्हें कोई भी सहायता प्राप्त नहीं थी। 1813 के चार्टर एक्ट द्वारा कम्पनी का व्यापारिक एकाधिकार समाप्त करके मुक्त व्यापार की नीति अपनायी गयी। इसके बाद भारत को उन फसलों का उत्पादन करना था जिनसे इंग्लैण्ड को फायदा हो।

इस इकाई में कृषि व्यवस्था और कृषि उत्पादन को विस्तार से समझाया गया है।

2.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- कृषि की स्थिति और क्षेत्रीय विभिन्नताओं को जान पाएंगे;
- स्थायी बंदोबस्त का अर्थ, उद्देश्य, क्रियान्वयन, प्रभाव और इसकी अधिकृत आलोचनाओं का विश्लेषण कर पाएंगे;
- रैयतवाड़ी और महालवाड़ी व्यवस्था से परिचित हो पाएंगे;
- सामयिक कृषि समझौतों के परिणामों का उल्लेख कर पाएंगे;
- निर्यात फसलों की खेती में वृद्धि तथा निर्यात वस्तुओं के उत्पादन के व्यवस्थापन में नए तत्वों की विवेचना कर पाएंगे;
- पारिस्थितिक परिवर्तन और ग्रामीण समाज का आकलन कर पाएंगे।

2.2 कृषि की स्थिति – क्षेत्रीय विभिन्नताएं

ब्रिटिश सरकार की भू–राजस्व कर नीति ने भारत में न केवल जमींदार एवं भूमिहीन किसान जैसे नये आर्थिक वर्गों को जन्म दिया, बल्कि देश की आर्थिक स्थिति को भी पूंजीवादी हितों के अनुरूप ढाल दिया। इस नीति ने कृषि उत्पादन पर विपरीत प्रभाव डाले। अंग्रेजों के आने के पहले किसानों का शोषण तो होता था किन्तु कृषि उत्पादन में आत्म निर्भरता थी। अंग्रेजों के आने के बाद कृषि उत्पादन में भारी गिरावट आयी। इसके लिये अंग्रेजों की कृषि नीति उत्तरदायी थी।

1813 ई. तक ब्रिटिश कम्पनी ने व्यापारिक क्षेत्र में एकाधिकार रखा। इस कारण शिल्पी, दस्तकार एवं कारीगर बड़ी संख्या में बेरोजगार हो गये और गांव की ओर जाने लगे। वहां उन्होंने कृषि को जीविकोपार्जन का साधन बनाया। इस प्रकार कृषि पर निर्भर रहने वालों की संख्या में बढ़ोत्तरी होने लगी जिससे भूमि का विभाजन और उपविभाजन आरम्भ हुआ। भूमि के विभाजन से कृषि की उपलब्धता, कृषि में लगे हुए लोगों की संख्या के बीच असन्तुलन पैदा हो गया।

किसी भी देश की अर्थव्यवस्था में कृषि, उद्योग, नगर व्यवस्था, भू–राजस्व, व्यापार का बहुत बड़ा योगदान होता है। ब्रिटिश शासन से पूर्व आये विदेशी यात्रियों के विवरणों से ज्ञात होता है कि उस समय के कई बड़े–बड़े नगर समृद्धशाली थे। 16वीं शताब्दी में फिच ने लिखा है कि "आगरा और फतेहपुर सीकरी भारत में दो महानगर हैं जो दोनों लन्दन से बड़े हैं और उनकी जनसंख्या भी अधिक है। आगरा और फतेहपुर

टिप्पणी

के बीच 12 मील की दूरी है और उस क्षेत्र में सुन्दर बाजार है जो किसी नगर से कम नहीं है।" टेरी लिखता है कि "पंजाब का प्रान्त जिसमें लाहौर प्रधान नगर है। लाहौर काफी धनी व समृद्ध नगर है। वह भारत के मुख्य व्यापारिक नगरों में से एक है।" मोसरेट ने लिखा है कि "उस समय लाहौर, एशिया व यूरोप के किसी बड़े शहर से कम नहीं था।" खानपुर में बुरहानपुर एक समृद्ध नगर था और गुजरात का अहमदाबाद शहर संसार के सर्वश्रेष्ठ नगरों में गिना जाता था। इसके अतिरिक्त बनारस, पटना, राजमहल, हुगली, वर्धमान, ढाका, चटगांव समृद्ध नगर थे।

कृषि की क्षेत्रीय विभिन्नताएं

प्राचीन व मध्यकाल तक तो भारत का मुख्य उद्योग कृषि था। किसानों ने मुगलों द्वारा स्थापित शान्ति का पूरा लाभ उठाया। वे अधिक उत्पादन करने के लिए अपनी पूर्ण शक्ति और समय को लगाने के इच्छुक थे। भिन्न–भिन्न स्थानों में भिन्न–भिन्न चीजों का उत्पादन होता था। बंगाल और बिहार के अधिकांश हिस्सों में चीनी होती है, देश के अन्य भागों से लोग चीनी ले जाते थे। उत्तर प्रदेश के कई भागों में नील की खेती होती थी। पेलसार्ट ने लिखा है कि यमुना का उपत्यका और मध्य भारत के कई क्षेत्रों में नील की खेती होती थी। भारत के कई भागों में रेशम और रूई की खेती बड़े पैमाने पर होती थी। मुगलकाल में तम्बाकू की खेती हिन्दुस्तान में प्रारम्भ की गयी और बढ़ती चली गयी।

अधिकांश चावल असम, बंगाल, बिहार, उड़ीसा, पूर्वी तट, पश्चिमी तट, तमिल देश और कश्मीर में उगाया जाता था। कुछ मात्रा में यह इलाहाबाद, अवध, खानदेश और गुजरात में भी उगाया जाता था। गेहूं, जौ पंजाब, मध्य प्रदेश, आगरा में पैदा होते थे। दीपालपुर क्षेत्र की मुख्य फसल खरीफ, ज्वार थी। बाजरा मुख्यतः अजमेर, गुजरात और खानदेश में होता था। दालें सारे देश में होती थी। कपास तथा गन्ना पैसे देने वाली फसलें मानी जाती थी और इन्हें "जिन्से कामिल' या 'जिन्से आला' कहा जाता था। कपास मुख्यतः खानदेश और बंगाल में पैदा होती थी। सबसे बढ़िया प्रकार की नील बवाना क्षेत्र और अहमदाबाद के पास सरखेज में पैदा होती थी। घटिया किस्म के नील की खेती दोआब, बंगाल, तेलंगाना और सिन्ध में होती थी।

भारत में कई स्थानों से लोहा, भारत और राजपूताने की खानों से तांबा निकाला जाता था। नमक, पंजाब की खानों, सांभर झील और समुद्र के पानी से प्राप्त किया जाता था। अफीम, मालवा और बिहार में होती थी। शोरा पैदा करने की बहुत मांग थी। डच और अंग्रेज व्यापारी इसका बड़ी मात्रा में निर्यात करते थे। 17वीं शताब्दी में भारत के भागों में उसका उत्पादन होता था। ब्रिटिश काल से पूर्व सम्पूर्ण भारत में खेती उन्नति पर थी। इस प्रकार भारत विविधतायें देखने को मिलती हैं।

पूर्व–औपनिवेशिक काल भू–राजस्व– मध्यकालीन भू–राजस्व व्यवस्था का वास्तविक संस्थापक अकबर था। कृषि अधिशेष के अधिकांश अंश को राज्य लगान या भू–राजस्व के रूप में वसूल करता था। वास्तविक कृषि उत्पाद या फसल में राज्य के अंश को माल या खराज कहा जाता था। खेती की पैमाइश करके भूमि की उत्पादकता के आधार पर किसानों के भू–राजस्व को फसलवार निर्धारित किया जाता था। उपज का 1/3 भू–राजस्व होता था। विभिन्न कृषि उत्पादों की एक केन्द्रीय मूल्य तालिका तैयार की

टिप्पणी

जाती थी जिनके आधार पर जिंस या उपज के रूप में निर्धारित भू–राजस्व को नकदी के रूप में वसूल किया जाता था।

वास्तविक कृषि उत्पादन, कृषि की स्थिति, स्थानीय कीमतों आदि के बारे में कानूनगो द्वारा प्रदत्त सूचनाओं की जांच विशेष अधिकारी द्वारा की जाती थी। 1580 में एक नई प्रणाली का विकास हुआ, जिसे दहसाला प्रणाली कहा गया। यह प्रणाली अधिकांश भागों में भू–राजस्व निर्धारण की मानक प्रणाली थी। इस प्रणाली को विकसित करने का श्रेय विज़ारत या राजस्व मंत्रालय के प्रमुख राजा टोडरमल को जाता है।

पूर्व औपनिवेशिक काल में कृषि व्यवस्था– मुगलकाल में कृषिजन्य जीवन में अनेक बिचौलिये छाये हुए थे, जैसे कि मुकद्दमा, मुखिया, चौधरी, तालुक्कदार आदि। वस्तुतः सम्पूर्ण देश किसी न किसी प्रकार के बिचौलिये के क्षेत्राधिकार में रहता था। ये बिचौलिये राजनीतिक, प्रशासनिक व आर्थिक जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। इनके मुख्य दायित्व थे– भू–राजस्व वसूली का वितरण, प्रस्तुत करना, अपने–अपने क्षेत्रों में कानून व्यवस्था बनाये रखना और यह सुनिश्चित करना था कि भू–राजस्व का निर्धारण उचित ढंग से हो रहा है। उत्तर मुगल शासकों को जमींदारों के सहयोग एवं समर्थन पर आश्रित रहना पड़ता था। शासनकाल के अन्तिम वर्षों में विभिन्न श्रेणियों के जमींदारों तथा साम्राज्य के भू–राजस्व की मांग का भार अन्ततः किसानों पर आ पड़ा। जब मुगल साम्राज्य का पतन होने लगा और जागीरों पर दबाव बढ़ गया, तब कृषिजन्य अर्थव्यवस्था को संकट का सामना करना पड़ा। जिससे 18वीं सदी में गंभीर परिणाम सामने आये।

कृषि पर संकट– जागीरदारी व्यवस्था के दुर्गुण और दुष्परिणाम कृषि पर संकट बन गये। जागीरदारों को जगीर से लगान वसूल करने का अधिकार तो था, पर जागीरों के प्रति इनका कोई कर्त्तव्य नहीं था। समय के साथ भू–राजस्व की मांग भी बढ़ती गयी। शाही प्रशासन और व्यक्तिगत जागीरदारों के हितों में टकराव होने लगे।

जागीरदार को किसी भी क्षण एक जागीर से दूसरी जागीर में स्थानांतरित किया जा सकता था। तीन–चार वर्ष तक एक ही जागीर, जागीरदार के पास नहीं रह सकती थी। 17वीं शताब्दी में यह विचार सुदृढ़ हो चुका था कि जागीरों के स्थानान्तरण की व्यवस्था के परिणामस्वरूप किसानों का बेरहमी से शोषण होता था। इसके अतिरिक्त जागीरदार किसानों पर विविध प्रकार के कर आरोपित करते और वसूल करते थे। करों के बोझ से दबे हुए "किसानों को करों को अदा करने के लिये प्रायः अपने स्त्री, बच्चे, पशुओं को बेचना पड़ता था।" कालान्तर में कृषकों का उत्पीड़न बढ़ गया था, किसान गांव छोड़ कर भागने लगे थे। फ्रांसीसी यात्री बर्नियर ने लिखा है, "खेतिहर मजदूरों के अभाव में भूमि के बहुत बड़े भाग पर खेती नहीं हो पाती थी। अनेक मजदूर जमींदारों के उत्पीड़न के कारण काल के ग्रास बन जाते हैं या उनके सम्मुख ग्रामों को छोड़कर भाग जाने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं होता था।"

भूमि संबंधी तनावों के कारण ही जाट, बुन्देला और सतनामी विद्रोह तथा सिख और मराठा शक्तियों का उत्थान हुआ। सम्पूर्ण साम्राज्य अन्तर्विरोधों से इतना त्रस्त हो गया था कि आपसी संघर्ष अपरिहार्य हो गया था। अन्ततः कृषकों की हालत दयनीय हो गई।

टिप्पणी

इस समय तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत में अपने व्यापारिक हितों की पूर्ति में लगी थी और गिरती हुई मुगल सत्ता पर अपना आधिपत्य जमाने के लिये अब प्रशासनिक क्षेत्र में दखल कर चुकी थी। कृषि सम्पदा से संपन्न भारत में अब अंग्रेजों ने नई कृषि नीति व भू–राजस्व नियम लागू किए जिनमें अन्ततः किसान ही पिसा, जैसा अब तक पिसता आया था।

अपनी प्रगति जांचिए

1. मध्यकालीन भू–राजस्व व्यवस्था का वास्तविक संस्थापक कौन था?

   (क) जहांगीर (ख) अकबर

   (ग) हुमायूं (घ) बाबर

2. दहसाला प्रणाली का विकास कब हुआ?

   (क) सन् 1550 (ख) सन् 1560

   (ग) सन् 1580 (घ) सन् 1580

2.3 स्थायी बंदोबस्त

कृषि भारत का हृदय है। भारत की अर्थव्यवस्था का सबसे बड़ा आधार ही कृषि है। ब्रिटिश शासन के समय भी यही स्थिति थी। किन्तु औपनिवेशिक काल में भू–स्वामित्व के स्वरूप में परिवर्तन, अंग्रेजों की नई–नई भू–राजस्व नीतियां, राजस्व वसूलने के नये–नये नियम, नवीन कृषि प्रणाली इत्यादि में सफलता नहीं मिलने पर अगर सबसे ज्यादा हानि हुई तो किसानों की, साथ ही कृषि उत्पादन और भूमि की उर्वरता पर भी खतरा हुआ। ग्रामीण समाज की आत्मनिर्भरता नष्ट हो गई।

बंगाल की दीवानी प्राप्त करने के उपरान्त वारेन हेस्टिंग्ज द्वारा एक भू–राजस्व व्यवस्था इस आशय से की गई कि सम्पूर्ण भूमि का स्वामी सम्राट है। इस व्यवस्था के तहत सम्पूर्ण भूमि की नीलामी की गई और सबसे ऊंची बोली लगाने वाले को भूमि मिल जाती थी, जिससे कई प्रकार के रिश्ते टूट गए, जैसे– सिाान का जमीन पर से पुश्तैनी अधिकार समाप्त हो गया, सरकार और उनके बीच तथा किसानों और उनके मध्य सदियों पुराने सम्बन्ध टूट गए।

2.3.1 स्थायी बंदोबस्त लागू करने के उद्देश्य

वारेन हेस्टिंग्ज द्वारा बंगाल में स्थापित कर एकत्र करने की ठेकदारी व्यवस्था से किसानों की स्थिति शोचनीय हो गई थी। इस स्थिति में सुधार के लिए कम्पनी ने लार्ड कार्नवालिस को स्थायी सुधार के लिए नियुक्त किया। स्थायी बंदोबस्त अथवा इस्तमरारी बंदोबस्त ईस्ट इण्डिया कंपनी और बंगाल के जमींदारों के बीच कर वसूलने से संबंधित एक स्थायी व्यवस्था हेतु सहमति समझौता था बंगाल में लार्ड कार्नवालिस द्वारा 22 मार्च, 1793 को लागू किया गया। इसके द्वारा तत्कालीन बंगाल और बिहार में भूमि कर वसूलने की जमींदारी प्रथा का अधिकारिक तरीका चुना गया। बाद में यह कुछ विनियामकों द्वारा पूरे उत्तर भारत में लागू किया गया।

टिप्पणी

स्थायी रूप से राजस्व की राशि तय करने पर कंपनी को नियमित राशि प्राप्त हो सकेगी। इसके अतिरिक्त बंगाल विजय के समय से ही जो परेशानी आई, वे दूर हो जायेगी, क्योंकि बंगाल की ग्रामीण आर्थिक व्यवस्था 1770 के दशक से दयनीय और संकटपूर्ण स्थिति का सामना कर रही थी। अकाल की पुनरावृत्ति होने के कारण कृषि नष्ट हो रही थी। व्यापार पतन की ओर अग्रसर था। कृषि निवेश के अभाव में क्षेत्र में राजस्व संसाधन का अभाव हो गया था, अतः कृषि निवेश को प्रोत्साहन देने के लिये जमींदारों को विशेष क्षेत्र देकर निश्चित राजस्व वसूल की मांग को स्थायी रूप से करने पर कंपनी को अधिक लाभ होगा। इसके अतिरिक्त कृषकों तथा जमीदारों का एक ऐसे समूह पैदा होगा जो ब्रिटिश कम्पनी का वफादार वर्ग साबित होगा, जिसके पास कृषि में निवेश करने के लिये उद्यम तथा पूंजी होंगे। कंपनी ने अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिये बंगाल के नवाबों, राजाओं और तालुक्कदारों के साथ यह बंदोबस्त व्यवस्था लागू की।

यह व्यवस्था सर्वप्रथम बंगाल और फिर बिहार, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश तथा उत्तर कर्नाटक में लागू की गई। यह ब्रिटिश भारत के कुल क्षेत्र का 19% थी। इस व्यवस्था के अंतर्गत जमींदारों को नई भूमि का स्वामी बना दिया गया और वे भू–राजस्व एकत्र करके उसका 10वां भाग अपने पास रख सकते थे और शेष सरकार को देना होता था। 1793 से पूर्व यह व्यवस्था स्थायी थी, किन्तु लार्ड कार्नवालिस ने 1793 में इसे स्थायी घोषित कर दिया था। अब जमींदार अपनी भूमि के स्वामी बन गये थे और काश्तकारों पर मनमाना शोषण करने की छूट मिल गई थी, जिससे जमींदार शक्तिशाली होते जा रहे थे।

अब जो नये जमींदार बने वे पीछे से भू–स्वामी या जमींदार वर्ग से संबंधित नहीं थे, बल्कि मिले–जुले लोगों का समूह था, जैसे– कम्पनी के प्रशासन से जुड़े व्यक्ति, ठेकेदारों का एजेंट, क्लर्क, व्यापारी इत्यादि। अब भूमि खरीदने की होड़ के पीछे अनेक सामाजिक–आर्थिक कारण थे। स्वदेशी बैंक के बंद हो जाने से भारतीय पूंजीपतियों को कंपनी के बाण्डों में धन लगाने के अवसरों से वंचित रखा गया। भारतीय व्यापारी बैंकरों का स्थान धीरे–धीरे ब्रिटिश एजेंटों ने ले लिया। वारेन हस्टिंग्स ने बंगाल में प्रचलित भू–राजस्व व्यवस्था का पूरा अध्ययन किया। उसके समक्ष तीन प्रमुख प्रश्न थे–

(i) जमींदार या कृषक में से किसके साथ यह व्यवस्था की जाए?

(ii) भूमि की उपज में कंपनी का क्या भाग होना चाहिए?

(iii) भूमि व्यवस्था स्थायी होनी चाहिए या केवल 10 वर्षों के लिए होनी चाहिए?

उपरोक्त प्रश्नों के हल के लिए राजस्व बोर्ड के प्रधान सर जॉन शोर और आलेखपाल जेम्स ग्रांट के साथ लार्ड कार्नवालिस की बातचीत हुई। कार्नवालिस ने जमींदारों को भूमि का स्वामी मान लिया और 1790 में उसने यह व्यवस्था लागू की किन्तु 1793 में इसे स्थायी कर दिया गया। इस व्यवस्था के तहत एक निश्चित राशि पर भूमि दे दी गई। जमींदारों को यह निश्चित राशि सूर्य अस्त से पहले ही चुकानी होती थी इसलिए इसे सूर्यास्त कानून कहा जाता है।

इस बंदोबस्त के अनेक दूरगामी परिणाम हुए और भारत में पहली बार अधिकारिक सेवाओं को तीन स्पष्ट भागों में विभाजित किया गया– राजस्व, न्याय और वाणिज्य।

टिप्पणी

2.3.2 स्थायी बंदोबस्त की विशेषताएं

स्थायी बंदोबस्त की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं–

(i) सरकार ने जमींदारों से सिविल और दीवानी संबंधी मामले वापस ले लिए।

(ii) जमींदारों को लगान वसूली के साथ–साथ भू–स्वामी के अधिकार भी प्राप्त हुए।

(iii) सरकार को दिए जाने वाले लगान की राशि निश्चित कर दी गई, जिसे अब बढ़ाया नहीं जा सकता था।

(iv) जमींदारों द्वारा किसानों से एकत्र किए हुए भूमि कर का 10/11 भाग सरकार को देना पड़ता था। शेष 1/11 भाग अपने पास रख सकते थे।

(v) सरकार द्वारा निश्चित भूमि कर की अदायगी से जमींदारों की असमर्थता होने पर सरकार द्वारा उसकी भूमि का कुछ भाग बेचकर यह राशि वसूल की जाती थी।

(vi) भूमि कर की निश्चित की गई राशि के अलावा सरकार को कोई और कर या नजराना आदि नहीं देना होता था।

(vii) किसानों और जमींदारों के आपसी विवादों में सरकार का कोई हस्तक्षेप नहीं होगा।

उपरोक्त विशेषतायें तो एक पक्षीय ही हैं। इस व्यवस्था द्वारा किसानों को क्या लाभ हुआ, यह महत्वपूर्ण होना चाहिए था।

2.3.3 क्रियान्वयन

10 फरवरी, 1790 ई. को 10 वर्षीय बंदोबस्त की घोषणा कर दी गई और कहा गया कि यदि निदेशकों ने अनुमति दी तो उसे स्थायी कर दिया जाएगा। निदेशकों ने गवर्नर–जनरल की योजना को मान लिया और 22 मार्च, 1793 ई. को बंदोबस्त स्थायी घोषित कर दिया गया। जमींदारों को भूमि का स्थायी स्वामी मान लिया गया। सरकारी लगान भी स्थायी रूप से निश्चित कर दिया गया और सरकार ने वचन दिया कि जब तक जमींदार लोग निर्धारित लगान देते रहेंगे तक तक उन्हें भूमि संबंधी अधिकारों से वंचित नहीं किया जाएगा।

स्थायी बंदोबस्त के लाभ

1. **बंगाल के रैयत को लाभ** : कंपनी के कुशासन में बंगाल की बहुत दुर्दशा हुई थी। बंगाल की आधी कृषि योग्य भूमि बंजर बन गई थी क्योंकि कृषि व्यवस्था लाभदायक न होने के कारण अधिकांश किसानों ने खेती का कार्य करना बंद कर दिया था; परंतु स्थायी बंदोबस्त के पश्चात बंगाल में पुनः आर्थिक संपन्नता आ गई।

2. **जमींदारों को लाभ** : कार्नवालिस को आशा थी कि जब जमींदार अपनी भूमि के स्वामी बन जाएंगे तो वे उसकी उन्नति की ओर ध्यान देंगे और उसमें अपना धन लगाएंगे। इससे किसानों को भी लाभ होगा और सारे प्रांत भी समृद्ध होंगे। स्थायी बंदोबस्त से भूमि की उपज बढ़ी और जमींदारों के लगान में कोई वृद्धि

नहीं हुई। इससे जमींदार धनी और संपन्न हुए। कहा जाता है कि इन संपन्न जमींदारों ने 18वीं शताब्दी में बंगाल के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

टिप्पणी

3. **सरकार को लाभ** : सरकार बार–बार बंदोबस्त की उलझनों से बच गई। अब वह अपना समय व ध्यान प्रशासन के कामों में लगाने लगी। इससे प्रशासन की कुशलता में वृद्धि हुई। सरकार को भी अपनी निश्चित आय का पता चल गया। इससे सरकार अपनी दीर्घकालीन प्रशासनिक योजनाएं बना सकती थी। इस योजना से सरकार को एक लाभ यह भी हुआ कि जमींदार वर्ग उनका भक्त बन गया। स्थायी बंदोबस्त के परिणामस्वरूप बंगाल में ब्रिटिश सरकार सुदृढ़ हो गई।

   डॉ. ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है, "राजनीतिक दृष्टि से भी यह कार्य अत्यंत महत्वपूर्ण था। जमींदार लोग ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा तथा सरकार बनी रहने में रुचि लेने लगे। विद्रोह के समय भी उनकी वफादारी दृढ़ रही। इस दृष्टिकोण से यह व्यवस्था अत्यंत सफल रही।"

स्थायी बंदोबस्त के दोष

1. **जमींदारों पर विपरीत प्रभाव** : स्थायी बंदोबस्त का जमींदारों पर विपरीत प्रभाव पड़ा। जमींदारों ने भूमि–सुधार पर बहुत बड़ी धनराशि खर्च की थी, किंतु उत्पादन में अनुपात से कम वृद्धि हुई। इसके परिणामस्वरूप जमींदार लगान तक नहीं चुका पाए और उनकी जमींदारियां समाप्त हो गई।

2. **भूमि का स्वामित्व दोषपूर्ण** : इतिहासकारों में सबसे पहले तो भूमि के स्वामित्व के संबंध में मतभेद है। वारेन हेस्टिंग्स ने भूमि नीलाम की थी और सबसे ऊंची बोली लगाने वालों को जमीन दी गई थी। वे सब वंशानुगत जमींदार नहीं थे। उनमें से तो कई सट्टेबाज थे। अतः जमींदारों को भूमि का स्वामी नहीं कहा जा सकता है। कार्नवालिस ने विभिन्न जमींदारों के अधिकारों के संबंध में जांच नहीं की थी, और उस समय जिन जमींदारों के अधिकार में भूमि थी उनको मालिक मान लिया गया।

3. **किसानों को हानि** : इस व्यवस्था से सबसे ज्यादा नुकसान किसानों को हुआ। किसानों को पूरी तरह जमींदारों की दया पर छोड़ दिया गया। वह अपनी पूरी मेहनत लगाकर खेती करते लेकिन वह फल नहीं भोग पाते थे। जमींदार किसानों से मनमाना कर वसूल करते और उन पर अनेक प्रकार के अत्याचार करते रहते थे।

4. **कृषि व्यवस्था पर ध्यान न देना** : कार्नवालिस ने सोचा था कि जमींदार भूमि के स्वामी होने पर वह कृषि पर ध्यान केंद्रित करेंगे लेकिन वह अपनी भूमि बिचौलियों पर छोड़कर स्वयं कलकत्ता जैसे शहर में बस गए। भूमि से उनका संपर्क स्थापित न हो सका।

2.3.4 स्थायी बंदोबस्त का प्रभाव एवं अधिकृत आलोचनाएं

कार्नवालिस ने रैयत द्वारा दिए जाने वाले किराए को बढ़ाने अथवा इसके विरुद्ध रक्षा की कोई व्यवस्था नहीं की। 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ग्रामीण अर्थव्यवस्था का एक महत्वपूर्ण पहलू कृषि योग्य भूमि के वितरण पर जनसंख्या का बढ़ता हुआ दबाव था।

कंपनी की वाणिज्यिक नीतियों के परिणामस्वरूप ग्रामीण उद्योगों के समाप्त होने तथा भारतीय अर्थव्यवस्था पर इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रांति के कारण यह दबाव और बढ़ गया। इस व्यवस्था से किसको क्या लाभ मिला वह निम्नलिखित है–

टिप्पणी

(i) जमींदार– इस व्यवस्था से सर्वाधिक लाभ जमींदारों को हुआ, वे स्थायी रूप से भूमि के मालिक बन गए। इसके साथ ही लगान की राशि सरकार को देने के पश्चात् काफी बड़ी राशि जमींदारों को प्राप्त होने लगी। कालांतर में इस प्रकार की बड़ी आय प्राप्त होने से जमींदार अधिक समृद्ध हो गए थे तथा उनका जीवन सुखमय होने लगा था। इसके अतिरिक्त बहुत से जमींदारों के पास अधिक धन होने के कारण वे गांव छोड़कर शहरों में बस गए।

(ii) सरकार– स्थायी बंदोबस्त व्यवस्था ने सरकार की आय में वृद्धि कर दी। अब सरकार की आय निश्चित हो गई जिससे अपना बजट तैयार करने में उन्हें आसानी हुई। अब सरकार को प्रतिवर्ष राजस्व की दरें तय करने एवं ठेके देने के झंझट से मुक्ति मिल गई। साथ ही कंपनी के कर्मचारियों को लगान व्यवस्था से मुक्ति मिल गई, जिससे वे कंपनी के व्यापार की ओर अधिक ध्यान दे सके, प्रशासनिक व्यय में भी कमी आई और प्रशासनिक कुशलता भी बढ़ी।

सरकार को इन सभी फायदों के साथ एक बड़ा फायदा यह हुआ कि जमींदारों के रूप में सरकार को एक ऐसा वर्ग प्राप्त हुआ जो हर परिस्थिति में सरकार का साथ देने को तैयार था। जमींदारों के इस वर्ग ने अंग्रेजी सत्ता को एक सामाजिक आधार प्रदान किया तथा कई अवसरों पर ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध किए गए विद्रोह को कुचलने में सरकार की सहायता की।

(iii) अन्य– राजस्व में वृद्धि की संभावनाओं के कारण जमींदारों ने कृषि में स्थायी रूप से रुचि लेना प्रारम्भ कर दिया तथा कृषि उत्पादन में वृद्धि के अनेक उपाय किए जिससे कृषि की उत्पादकता में वृद्धि हुई। कृषि में उन्नति होने से व्यापार और उद्योग में प्रगति हुई। जमींदारों से न्याय एवं शांति स्थापित करने की जिम्मेदारी छीन ली गई। जिससे उनका ध्यान मुख्यतः कृषि के विकास में लगा तथा इससे सूबों की आर्थिक संपन्नता में वृद्धि हुई।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट ज्ञात हो रहा है कि किसानों के पक्ष में किसी भी प्रकार के लाभ इंगित नहीं हो रहे हैं। समस्त लाभ या तो सरकार को मिला या फिर जमींदारों को। किसानों की स्थिति में कोई बदलाव नहीं आया। अब इस व्यवस्था से किसको और कितनी हानि हुई इसका वर्णन निम्नलिखित है–

(i) इस व्यवस्था में सबसे अधिक हानि किसानों को हुई, क्योंकि इस व्यवस्था के तहत भूमि संबंधी व अन्य परंपरागत अधिकार किसानों से छीन लिए गए और वे केवल खेतिहर मजदूर बन कर रह गए।

(ii) किसानों पर सरकार का तो अत्याचार था ही अब खुले रूप से जमींदारों के अत्याचारों व शोषण का सामना भी उन्हें करना पड़ा तथा वे पूर्णतया जमींदारों की दया पर निर्भर हो गए।

(iii) इसमें केवल उन जमींदारों को हानि प्राप्त हुई जो राजस्व वसूली की उगाही में उदार थे, भू–राजस्व की उच्च दरें सरकार को समय पर नहीं अदा कर सके,

टिप्पणी

उन्हें बेरहमी के साथ बेदखल कर दिया गया तथा उनकी जमींदारी की नीलामी कर दी गई।

(iv) स्थाई बंदोबस्त व्यवस्था ने कालांतर में राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्ष में भी हानि पहुंचाई। जमींदारों का यह वर्ग स्वतंत्रता संघर्ष में अंग्रेज भक्त बन गए और कई अवसरों पर उसने राष्ट्रवादियों के विरुद्ध सरकार की मदद की।

(v) इस व्यवस्था से किसान दिनोंदिन निर्धन होते चले गये और उनमें सरकार और जमींदारों के विरुद्ध असंतोष फैलने लगा।

(vi) सरकार के लिए यह व्यवस्था लाभप्रद तो थी किन्तु कृषि उत्पादन में वृद्धि के साथ–साथ उनकी आय में कोई वृद्धि नहीं हुई तथा संपूर्ण लाभ केवल जमींदारों को ही प्राप्त हुआ।

स्थायी बंदोबस्त की अधिकृत आलोचना

इस व्यवस्था के पश्चात् यह तो निश्चित ही हो गया था कि सारा फायदा कम्पनी को और जमींदारों को हो रहा था। जमींदार भूमि से प्राप्त आय का काफी बड़ा हिस्सा किराये के रूप में ले लेते थे, इस प्रकार जमींदारी प्रथा वाले क्षेत्रों में आसामी काश्तकारों की आर्थिक हालत धीरे–धीरे खराब होती गई। उनकी हालत दिन पर दिन गिरती गई, काश्तकार गरीब होते चले गए, उचित खाद, बीज आदि के आभाव में कृषि उत्पादन भी तेजी से कम होने लगा। राष्ट्रवादियों और ब्रिटिश राजनेताओं दोनों ने स्वीकार किया कि जमींदारी क्षेत्रों में कृषिजन्य अर्थव्यवस्था की स्थिति दयनीय एवं आसामी काश्तकार जनसंख्या की गरीबी की स्थिति भयंकर रूप से चिंताजनक थी।

देश के भूस्वामी अभिजात वर्ग के बारे में भारतीय और विदेशी आलोचकों ने टिप्पणी करते हुए लिखा है कि, "जमींदारों की भारतीय अर्थव्यवस्था में कोई उत्पादक भूमिका नहीं थी। वे जमींदारी प्रथा को युक्तिसंगत बनाना चाहते थे, न कि इसे समाप्त करना। उनकी दृष्टि में भारतीय कृषि, जिस पर अधिसंख्य भारतीयों की आर्थिक स्थिति आश्रित थी, के पुनरुद्धार और विकास के लिए यह एक अपरिहार्य पूर्वापेक्षा थी।

इस प्रकार स्पष्ट हो रहा है कि स्थायी बंदोबस्त से सर्वाधिक लाभ जमींदारों को हुआ। यद्यपि सरकार की आय भी बढ़ी, किन्तु अन्य दृष्टिकोणों से इसमें लाभ के बजाय हानि अधिक हुई। सामाजिक रूप से जमींदार वर्ग ने सामाजिक सुधारों और राष्ट्रवादी आवश्यकताओं का पूर्ण विरोध किया। भारतीय जमींदारों ने सुधार और विकास के प्रति अपना विद्रोह विशेष ढंग से जोर देकर प्रदर्शित किया।

अपनी प्रगति जांचिए

3. भारत की अर्थव्यवस्था का सबसे बड़ा आधार क्या है?

(क) कृषि (ख) उद्योग

(ग) खनिज (घ) वाणिज्य

4. बंगाल में लॉर्ड कार्नवालिस द्वारा स्थायी बंदोबस्त कब लागू किया गया?

(क) 20 मार्च, 1782 (ख) 22 मार्च, 1785

(ग) 22 मार्च 1789 (घ) 22 मार्च 1793

टिप्पणी

2.4 रैयतवाड़ी और महालवाड़ी व्यवस्था

औपनिवेशिक राज्य को जरूरत इस बात की थी अपनी व्यापारिक कार्रवाइयों का भुगतान करने के लिए तथा योजना बनाने के साथ–साथ नए क्षेत्रों को जीतने के उद्देश्य से नई फौजें खड़ी करने के लिए राजस्व से होने वाली आय का प्रवाह एक सा बना रहे। राजस्व संग्रह के नए तरीकों को ईज़ाद करने की प्रक्रिया के दौरान बहुत से सवाल उठ खड़े हुए। इनका संबंध स्वामित्व देने, कृषि उत्पादन में राज्य के हिस्से की वसूली का उत्तरदायित्व देने आदि से था। इन सवालों का समाधान अलग–अलग समय और क्षेत्रों में अलग–अलग ढंग से किया गया, जिसके चलते भू–राजस्व बंदोबस्त के विभिन्न रूप पैदा हो गए। औपनिवेशिक काल से पहले राजस्व को पट्टे और उप–पट्टे पर उठाने की विशाल और स्तूपाकार व्यवस्था काम कर रही थी और स्थानीय रीतियों के अनुसार जमीन रखने वालों को कुछ अधिकार भी मिले हुए थे, परंतु कोई सुस्पष्ट संपत्ति अधिकार नहीं थे। अंग्रेजों ने इस तरह के अधिकार स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार कुछ वर्गों को दिए और इस तरह से उन्होंने उन बड़े–बड़े भूस्वामियों को फायदा पहुंचाया जो खेती के औपनिवेशिक ढांचे के साथ जुड़ गए थे। इन वर्गों का अंग्रेजों का शक्तिशाली सहयोगी बनना स्वाभाविक था।

अंग्रेजों द्वारा भू–राजस्व के नए नियमों को लागू किया जाने लगा। इसी संबंध में बंगाल में स्थायी बंदोबस्त फिर इसी प्रकार अन्य स्थानों नई भू–राजस्व प्रणालियां लागू की गई, जैसे– रैयतवाड़ी, महालवाड़ी व्यवस्था।

2.4.1 रैयतवाड़ी व्यवस्था

रैयतवाड़ी दो शब्दों के मेल से बना है, जिसमें रैयत का आशय प्रजा या किसान है, (अरबी शब्द रैयत, ब्रिटिश पूर्व स्रोतों में इसका उपयोग अक्सर किसानों के लिए किया गया) वाड़ी का अर्थ है– प्रबंधन। दूसरे शब्दों में रैयतवाड़ी व्यवस्था ब्रिटिश कंपनी द्वारा प्रचलित की गई एक ऐसी व्यवस्था है, जिसमें राज्य या सरकार किसानों के साथ प्रत्यक्ष तौर पर भू–राजस्व का प्रबंधन करती है। मद्रास, बंबई, असम और सिंध के क्षेत्र में यह व्यवस्था प्रचलित थी अर्थात् भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के कुल भू–भाग के 51% भूमि पर यह व्यवस्था थी। रैयतवाड़ी व्यवस्था के प्रचलन के संदर्भ में मूल रूप से दो विचारधारायें प्रस्तुत की जाती है– पूंजीवादी विचारधारा और उपयोगितावादी विचारधारा। रैयतवाड़ी विचारधारा के पीछे सबसे अधिक पूंजीवादी विचारधारा तथा पूंजीवादी विचारधारा का मानवीय चेहरा उपयोगितावादी विचारधारा मुख्य तौर पर जिम्मेदार था। इस विचारधारा की केन्द्रीय विचारधारा यह थी कि भूमि के ऊपर उस वर्ग का स्वामित्व होना चाहिए, जो उस भूमि में अपना श्रम लगाकर फसलों का उत्पादन करता है और इसी कारण जमींदारों को गैर उत्पादक वर्ग मानते हुए किसानों को ही भूमि का मालिक स्वीकार किया गया। इस पद्धति के तहत किसानों के साथ भू–राजस्व कर निर्धारण भी इसी सिद्धान्त पर आधारित था।

कुल उत्पादन–किसान की कुल लागत = शेष और उस शेष पर राज्य एवं किसानों के बीच फसल से प्राप्त आय का बंटवारा। अर्थात कुल उत्पादन में से कुल लागत को घटाकर जो शेष बचे उसका बंटवारा।

टिप्पणी

रैयतवाड़ी व्यवस्था के उद्देश्य– इस व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य राजस्व की नियमित वसूली और रैयतों की स्थिति सुधारना था। पहले उद्देश्य की तो पूर्ति हुई किन्तु दूसरा उद्देश्य अपूर्ण रहा। इस बात की सरकारी तौर पर घोषणा की गयी कि रैयत जब तक लगान देते रहेंगे, तब तक उन्हें बेदखल नहीं किया जा सकता, किन्तु लगान का निर्धारण इतना अधिक था कि उसका भुगतान कर पाना आसान नहीं था। मुनरो ने एक सुनिश्चित भू–राजस्व निर्धारित करने की वकालत की, ताकि रैयतों द्वारा कृषि उत्पादन में की गयी अभिवृद्धि का लाभ उन्हें ही प्राप्त हो सके।

थॉमस मुनरो 1820 ई. से 1827 ई. तक मद्रास का गवर्नर रहा। 1792 ई. में मद्रास प्रेसीडेन्सी के बारामहल जिले में सर्वप्रथम यह व्यवस्था लागू की गयी। रैयतवाड़ी व्यवस्था के प्रारम्भिक प्रयोग के बाद मुनरो ने इसे 1820 ई. में सम्पूर्ण मद्रास में लागू कर दिया। इस प्रथा के अन्तर्गत रैयतों को भूमि का मालिकाना और कब्जादारी अधिकार दिये गये और यह प्रत्यक्ष रूप से सीधे या स्वयं सरकार को भू–राजस्व का भुगतान करने के लिए उत्तरदायी थे।

थॉमस मुनरो और अलेक्जेण्डर रीड जैसे औपनिवेशिक प्रशासकों ने काश्तकारों और राज्य के बीच बिचौलियों की मौजूदगी का विरोध किया। इस दौरान कम्पनी के प्रशासनिक क्षेत्रों में प्रचलित उपयोगितावादी विचारधारा 'शुद्ध उत्पाद' के अधिकतम हिस्से को राजस्व के रूप में विनियोग के सिद्धान्त पर आधारित थी। 'शुद्ध उत्पाद' का हिसाब तब ही लगाया जा सकता था। जब किसान की उत्पादन लागत मालूम हो। तब भू–राजस्व प्रशासन इस उत्पादन लागत को सकल उत्पाद से हटा कर आसानी से उत्पाद के आंकड़े तक पहुंच सकता था, लेकिन प्रत्येक किसान तक पहुंचने के लिये नीचे गांव के स्तर तक राजस्व प्रशासन का एक विस्तृत तन्त्र होना आवश्यक था, परन्तु इससे औपनिवेशिक राज्यों को लाभ होता था क्योंकि इसके चलते कृषि–अधिशेष के एक भाग का उपयोग करने के लिये कोई बिचौलिया वर्ग नहीं होता था और समय–समय पर 20–30 वर्षों बाद भू–राजस्व की मांग को बदला जा सकता था।

रैयतवाड़ी व्यवस्था की विशेषता– ब्रिटिश लोगों द्वारा लागू की गयी इस राजस्व व्यवस्था को पहले तो तमिलनाडु में और तत्पश्चात् पूर्वी बंगाल, असम, कुर्ग (आधुनिक कर्नाटक) में लागू किया था। इस प्रथा के अन्तर्गत रैयतों को भूमि का मालिकाना और कब्जादारी अधिकार दिये गये थे और प्रत्यक्ष रूप से या सीधे तथा व्यक्तिगत रूप से स्वयं सरकार को भू–राजस्व का भुगतान करने के लिये उत्तरदायी थे। इसी व्यवस्था के तहत कृषक भू–स्वामित्व की स्थापना की गई। इस व्यवस्था की विशेषतायें निम्नलिखित थी–

इस पद्धति द्वारा कृषकों के भू–राजस्व का व्यक्तिगत रूप से निर्धारण किया गया। इसके साथ ही खेतों की पैमाइश और उत्पादन का आकलन भी किया गया। उपज के 55% भाग को सरकार द्वारा भू–राजस्व के रूप में निर्धारित किया गया।

रैयतवाड़ी व्यवस्था का प्रभाव

रैयतवाड़ी व्यवस्था के प्रभाव को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है–

- भू–राजस्व का निर्धारण भूमि की उत्पादकता पर न करके भूमि पर किया गया, जो किसान के हित के लिये सही नहीं था।

टिप्पणी

- इस पद्धति में भू–राजस्व की दर इतना ज्यादा थी कि किसान के पास अधिशेष नहीं बचता था। परिणामस्वरूप किसान महाजनों के चंगुल में फंसते गये और इस तरह महाजन जमींदार के रूप में उभर कर आने लगे।
- दोषपूर्ण राजस्व व्यवस्था के कारण किसानों के पास इतना अधिशेष नहीं बचता था कि वह कृषि में उत्पादकता बढ़ाने के लिये निवेश कर सके, परिणामस्वरूप किसान धीरे–धीरे कर्ज और लगान के कुचक्र में फंसते चले गये।
- यद्यपि इस व्यवस्था में फसलों के वाणिज्यीकरण को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ, लेकिन इसका लाभ भी किसानों को प्राप्त नहीं हुआ।

कुल मिलाकर रैयतवाड़ी व्यवस्था स्थाई बंदोबस्त के सापेक्ष निसंदेह एक प्रगतिशील कदम था, लेकिन विद्यमान ढांचा साम्राज्यवादी था, जिसका उद्देश्य 'भारतीय अर्थव्यवस्था' का शोषण करना था।

2.4.2 महालवाड़ी व्यवस्था

जब जमींदारी और रैयतवाड़ी व्यवस्थायें नीति निर्माताओं की आशा के अनुरूप खरी नहीं उतरी तो उन्होंने एक तीसरी व्यवस्था आरम्भ करने का निर्णय लिया, जिसे 'महालवाड़ी' के नाम से जाना जाता है।

'महल' शब्द का प्रयोग स्थानीय क्षेत्रों में भू–राजस्व के भुगतान के लिये किया जाता था। 'महाल' भौगोलिक रूप से सीमांकित रहा है और अकसर यह एक गांव, गांवों का हिस्सा या कई गांवों को कहा जाता था।

'महालवाड़ी' का प्रारंभ– सर्वप्रथम इस व्यवस्था के विषय में होल्ट मैकन्जी ने बताया। होल्ट मैकंजी 1808 ई. में बंगाल सरकार में प्रादेशिक विभाग के सचिव के रूप में भारत आये थे। जो कार्य जॉन शोर ने बंगाल में किया था, वही कार्य मैकंजी ने उत्तर भारत में किया। अपने विस्तृत अध्ययन द्वारा क्षेत्रीय जानकारी के आधार पर उन्होंने दोआब क्षेत्र में गांव आधारित व्यवस्था पर ज़ोर दिया था। यही व्यवस्था आगे जाकर 'महलवाड़ी' व्यवस्था के नाम से जानी गयी। मैकंजी ने आरोप लगाया था कि 'स्थायी बंदोबस्त एक ढीला' सौदा था, जो कि यह भी सिद्ध नहीं कर सका कि स्थायी व्यवस्था ब्रिटिश सरकार के लिये लाभकारी है या किसानों के लिये या फिर खेती के लिये। इसलिये मैकंजी ने 'महल' व्यवस्था की वकालत की। अन्ततः रेग्यूलेशन–8 के अंतर्गत इस व्यवस्था को शामिल किया गया। ब्रिटिश शासन के भू–राजस्व प्रशासन में यह व्यवस्था एक क्रान्तिकारी शुरुआत थी। यह व्यवस्था भूमि के सर्वेक्षण पर आधारित थी।

उत्तर पश्चिमी सूबों के पश्चिमी हिस्सों, मध्य भारत और पंजाब के हिस्सों में राजस्व बंदोबस्त गांव के अनुसार या रियासतों के अनुसार, भूस्वामियों अथवा परिवार प्रमुख के साथ किये गये थे जो सामूहिक तौर पर गांव या रियासत के स्वामी होने का दावा करते थे। इन इलाकों में राजस्व विनियोग की सामूहिक जिम्मेदारी गांव की जमीनों के साझा भू–स्वामियों पर थी। इनमें से बहुत से इलाकों में राजस्व का भुगतान किसानों की सगोत्रीय इकाइयों द्वारा किया जाता था। इनमें भूमि के

टिप्पणी

संसाधनों का प्रबंधन समाज नहीं करता था बल्कि इन भू–संसाधनों पर नियंत्रण संगोत्रीय समूहों का था। ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधीन गांव के भू–स्वामी समुदायों के साथ भूमि बंदोबस्त होल्ट मैकंजी द्वारा तैयार किए गए प्रारूप पर आधारित था। विभिन्न जिलों में अधिकारों के विस्तृत अभिलेख योजनाबद्ध सर्वेक्षण तथा जांच–पड़ताल के बाद तैयार किए गए थे। भू–राजस्व संग्रह का काम प्रभावशाली भू–स्वामियों की सहायता से किया जाना था। इन्हें 'लम्बरदार' कहा जाता था अर्थात वे लोग जिनका नम्बर कलेक्टर के उस रजिस्टर में दर्ज था जिसमें राज्य को भू–राजस्व अदा करने के जिम्मेदार लोगों की सूची थी।

राज्य द्वारा महल पर निर्धारित भू–राजस्व की अदायगी के लिए महल के सभी मालिक व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से जिम्मेदार थे। वस्तुतः महलवाड़ी बंदोबस्त द्विस्तरीय था अर्थात् संपूर्ण ग्राम समुदाय के साथ संयुक्त रूप से और व्यक्तिगत कृषक भू–स्वामी के साथ किया गया बंदोबस्त था। इस प्रकार की इस द्वि–स्तरीय व्यवस्था के अंतर्गत (1) भूमि के मालिकाना और कब्जेदारी के अधिकार व्यक्तिगत कृषक भू–स्वामी को प्राप्त थे और वे व्यक्तिगत रूप से खेती करते थे, (2) कृषक सरकार को भू–राजस्व का भुगतान करने के लिये संयुक्त रूप से उत्तरदायी थे। सम्पूर्ण ग्राम अपने मुखिया या लम्बरदार के माध्यम से भू–राजस्व का भुगतान करते थे। महालवाड़ी व्यवस्था को सबसे पहले अवध में लागू किया गया और बाद में उसे संयुक्त प्रांतों के विलय और विजित किए गए क्षेत्रों (Ceded and conquered parts of the united Provinces) ने लागू किया।

महालवाड़ी व्यवस्था के परिणाम– प्रारम्भिक दो भू–राजस्व व्यवस्थाओं के असफल हो जाने के पश्चात् इस प्रथा को एक माध्यम मार्ग के रूप में अपनाया गया था किन्तु यह व्यवस्था भी पूर्ण रूप से क्रियान्वित नहीं हो सकी। जमींदारी प्रथा की अपेक्षानुरूप इससे भी एक सुनिश्चित राजस्व प्राप्त होगा और साथ ही रैयतवाड़ी व्यवस्था की भांति सरकार और किसानों के बीच सीधा संबंध बनाए रखा जाए। सरकार और किसानों के बीच लम्बदार लाए गए लेकिन उन्हें बंगाल के जमींदारों के चिरस्थायी अधिकार नहीं दिए गए थे। सरकार ने कृषि–अर्थव्यवस्था के प्रत्यक्ष प्रबंधन का अधिकार अपने पास रखा लेकिन उसे खेती और भू–राजस्व की वसूली से कोई सरोकार नहीं था। जैसा कि रैयतवाड़ी व्यवस्था के अधीन किया गया था। यद्यपि खेती अलग–अलग की जाती थी लेकिन गांववालों को भू–राजस्व का भुगतान संयुक्त रूप से करना पड़ता था। इस प्रकार योजना तो अच्छी थी किन्तु अन्य योजनाओं की भांति इसी भी क्रियान्वित नहीं किया जा सका।

वास्तविक स्थिति यह थी कि अधिकार समस्त गांव वालों को न देकर मात्र गांव के कुछ बड़े परिवारों के समूहों को दिया गया, तो सम्भव है कि लाभ भी इसी वर्ग द्वारा प्राप्त किए गए। किसानों की स्थिति एक बार फिर उसी स्थान पर थी। अस्थायी व्यवस्था होने के कारण निश्चित भू–राजस्व प्राप्त करने का उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सका।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

5. मद्रास प्रेसीडेंसी के बारामहल जिले में सर्वप्रथम 1792 ई. में कौन सी व्यवस्था लागू की गई?

   (क) स्थायी बंदोबस्त (ख) रैयतवाड़ी व्यवस्था

   (ग) रैयतवाड़ी व्यवस्था (घ) वाणिज्यिक व्यवस्था

6. होल्ट मैकंजी 1808 ई. में किस सरकार में प्रादेशिक विभाग के सचित के रूप में भारत कब आए?

   (क) बिहार (ख) उत्तर प्रदेश

   (ग) बंगाल (घ) महाराष्ट्र

2.5 सामयिक कृषि व्यवस्था के परिणाम

19वीं सदी के मध्य तक कंपनी के प्रशासन ने भूमि में निजी संपत्ति का सृजन करते हुए तीन अलग–अलग समूहों को मालिकाना अधिकार देते हुए मालगुजारी प्रशासन की तीन व्यवस्थाएं पैदा की। जमींदारों के साथ स्थायी बंदोबस्त किया गया। रैयत अर्थात् मालिक किसानों के साथ रैयतवाड़ी बंदोबस्त किया गया और ग्राम समुदायों के साथ महालवाड़ी बंदोबस्त किया गया। जब पंजाब और मध्य भारत को जीता गया तो इस तीसरी व्यवस्था को इन क्षेत्रों में भी लागू किया गया, जबकि रैयतवाड़ी बंदोबस्त को सिंध, असम और कुर्ग में लागू किया गया। जमींदारी व्यवस्था को मद्रास प्रेसीडेंसी के उत्तरी जिलों में लागू किया गया, जहां जमींदार मिल गये। एक अनुमान के अनुसार 1928–29 में भारत में खेती योग्य भूमि का लगभग 19% भाग जमींदारी बंदोबस्त के अंतर्गत था। ऐसा प्रतीत होता है। इन बंदोबस्त की एक सांझी विशेषता थी 'अति–आकलन', क्योंकि मालगुजारी की आय को यथासम्भव बढ़ाना कंपनी की सरकार का मुख्य उद्देश्य था। परिणामस्वरूप बकाये, बढ़ते कर्ज, जमीन की बढ़ती बिक्री और बेदखली, किसानों पर कहर इत्यादि पहले जैसा ही रहा।

टिप्पणी

इसके अतिरिक्त औपनिवेशिक शासकों को उच्च दरों पर निर्धारित राजस्वों की समय पर वसूली करने से मतलब था। राजस्व एकत्रित करने में लगे जमींदारों और अन्य लोगों को किसानों की राजस्व भुगतान करने की क्षमता से कोई मतलब नहीं था और वे करों की जबरन वसूली करते थे। करों की मांग पूरा करने के लिए किसान अपनी जमीन बेच देते थे और साहूकारों के चंगुल में फंस जाते थे। स्थानीय प्रशासन से न्याय की आशा नहीं की जा सकती थी, क्योंकि वे तो धनी लोगों से प्रभावित थे। इस प्रकार औपनिवेशिक शासन के दौरान कर्मचारी और साहूकार कृषकों का शोषण करने में एकजुट हो गए। 1770 में पड़ा अकाल ग्रामीण समाज पर ब्रिटिश साम्राज्य की नीति के विध्वंसकारी प्रभाव का प्रमाण है। अर्थव्यवस्था के उपनिवेश के साथ–साथ ब्रिटिश सरकार ने स्थानीय प्रशासन और समाज में परिवर्तन किए। इससे स्थानीय लोगों में असंतोष और रोष पैदा हो गया। कालांतर में इसी असंतोष ने विद्रोहों का रूप धारण कर लिया।

ब्रिटिश भू–राजस्व नीति के परिणाम

सरकार को भू–राजस्व की एक निश्चित रकम नियमित रूप से अदा करने की गारंटी देकर उन्होंने राजनीतिक रूप से असहाय तथा आर्थिक रूप से कमजोर किसानों को यथासंभव लूटने का अधिकार खरीद लिया था। इन व्यवस्थाओं के दबाव में ग्रामीण समुदाय का पुराना राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक ढांचा टूट गया। भू–स्वामी, व्यवसायी महाजन जैसे नव सामाजिक वर्ग और भूमि संपन्न कुलीन वर्ग का प्रधान्य हो गया। दूसरी ओर ग्रामीण समुदाय के पतन और ग्राम क्षेत्रों में प्रतिद्वंद्विता के परिणामस्वरूप बेदखल किसानों, ग्रामीण दस्तकारों और ग्रामीण मजदूरों के कृषक जनसंख्या के साथ परंपरागत संबंध विच्छिन्न हो गए। ब्रिटिश कृषि व्यवस्था के परिणामों को निम्नलिखित रूप से देखा जा सकता है–

(i) अवरुद्ध कृषि प्रगति– भू–राजस्व नीति किसानें के लिये उत्पीड़नकारी थी। चूंकि विदेशी विजेताओं ने भारत के व्यापार और उद्योगों को बर्बाद कर दिया था, इसलिए करारोपण का भार गरीब किसानों को ही वहन करना पड़ा। लगान अथवा भू–राजस्व की अत्यधिक ऊंची दरों के कारण धन बचाकर खेती में लगाकर कृषि उत्पादन में वृद्धि करना असम्भव था। कृषकों के लिए भूमि में सुधार करने हेतु कोई प्रोत्साहन शेष नहीं रह गया था। स्थायी बंदोबस्त वाले क्षेत्रों में जमींदार अपना दायित्व भूमि किराए या लगान की वसूली तक ही सीमित मानते थे और उनका कृषि उत्पादन से कोई सरोकार नहीं था। इन क्षेत्रों में भूमि किराया या लगान सौदेबाजी पर निर्भर था जो कृषि उत्पादन में वृद्धि पर आधारित होने के बजाय काश्तकार की क्षमता पर आधारित होता था। समस्त कृषि अधिशेष भू–स्वामियों के पास चला जाता था और काश्तकारों के पास मौसम और भाग्य की मार से निपटने के लिए धन बिल्कुल नहीं बच पाता था। सरकार ने रैयतवाड़ी क्षेत्रों में कमरतोड़ लगान लगाने वाले भू–स्वामियों की भूमिका अदा की। परिणामस्वरूप कृषक वर्ग के हाथों में पूंजी न होने के कारण कृषि का विकास रुक गया।

टिप्पणी

(ii) आर्थिक निर्भरता की समाप्ति– स्थायी बंदोबस्त के अंतर्गत आए क्षेत्रों में किसानों के पास जमींदारों द्वारा भू–किराए में मनमाने ढंग से की जाने वाली वृद्धि से बचने का कोई उपाय नहीं था क्योंकि कानून अस्पष्ट थे और मुकदमेबाजी बहुत खर्चीली थी। रैयतवादी प्रदेशों में किसान अन्य कारणों से परेशान थे। 19वीं शताब्दी के पहले 25 वर्षों में जबकि ब्रिटिश सरकार युद्धों के व्ययों को भू–राजस्व से पूरा करने का प्रयास कर रही थी और उसके कर्मचारी अप्रशिक्षित और कहीं–कहीं भ्रष्ट भी थे। मद्रास और बम्बई में भयंकर करारोपण करके किसानों को काफी उत्पीड़ित किया गया। परिणामस्वरूप किसानों की आत्मनिर्भरता कम हो गई।

(iii) ग्रामीण समुदायों का विघटन– ब्रिटिश शासन द्वारा भारत में स्थापित की गई भू–राजस्व प्रणाली ने उस प्राचीन सामाजिक ढांचे को ध्वस्त कर दिया जिसमें किसान सदियों से रहते आए थे। संयुक्त परिवार व्यवस्था और पंचायतों को भारी धक्का लगा। सहयोग का स्थान पंचायतों ने ले लिया। गांव के सामूहिक जीवन का स्थान व्यक्तिवाद ने ले लिया। कृषि उत्पादन से ग्रामीण जनता की आवश्यकताओं पूरी की जाने के बजाय उसे बाहरी बाजार की आवश्यकताओं के अनुकूल बनाया जाना लगा। कार्ल मार्क्स के अनुसार– "संपत्ति संबंधों में परिवर्तन आने से सामाजिक क्रान्ति आई।"

(iv) भारी ऋणों से ग्रस्त किसान– उपर्युक्त कारणों से ब्रिटिश शासन के अधीन भारतीय किसानों की ऋणग्रस्तता तेजी से बढ़ी। सन् 1880 के बाद ग्रामीण ऋणग्रस्तता में इतनी अधिक वृद्धि हुई कि यह कहना पड़ा : "खेतीहर जमीनों को रखने वाले वर्गों का एक तिहाई हिस्सा इतने भयंकर और न उबरने वाले कर्ज में डूबा हुआ है और कम से कम इतने ही ऐसे भू–स्वामी कर्जदार हैं जो स्वयं इस स्थिति से नहीं उभर सकते थे। ग्रामीण ऋणग्रस्तता का सबसे महत्वपूर्ण कारण यह था कि 75% से अधिक किसान खेती से अपनी जीविका भी नहीं चला सकते थे।" लगान की अदायगी करने में काश्तकारों के पूर्णतः असमर्थ रहने के कारण उन पर लगान की काफी बड़ी रकम बकाया हो गयी, जिससे जमींदारों ने उन पर मुकदमे दायर कर दिए और इसके लिए किसानों को पूरी तरह से महाजनों पर ही निर्भर रहना पड़ता था। किसानों के ऋणी होने के कारण किसानों के हाथों से जमीन बड़े पैमाने पर साहूकारों के हाथों में चली गई और जमींदारी क्षेत्रों में बड़ी संख्या में आसामी काश्तकार अपनी जमीनों से बेदखल कर दिए गए।

(v) नवीन जमींदारी व्यवस्था का उदय– 1815 तक बंगाल की कुल भूमि का लगभग 50% दूसरे हाथों में स्थानांतरित किया जा चुका था। इन नए हाथों ने भूमि के जाने से जमींदारों के एक नये वर्ग का उदय हुआ तथा नए भू–संबंधों का विकास हुआ। इस नए वर्ग के पास सीमित शक्तियां एवं अत्यअल्प संसाधन थे तथा भूमि पर कब्जे के कारण यह वर्ग अस्तित्व में आया था। लगान व्यवस्था में बिचौलियों के बढ़ने से जमीन की कीमतों में वृद्धि हुई तथा किसानों की क्रय–शक्ति से यह और दूर होने लगी। जमींदारों एवं किसानों के मध्य कोई

टिप्पणी

परंपरागत समझौता न होने से इन जमींदारों ने कृषि के विकास के लिए न किसी प्रकार का निवेश किया न ही इस कार्य में कोई रुचि ली। इन जमींदारों का हित ब्रिटिश शासन के चलते रहने में ही था और इसलिए इन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन में अंग्रेजों का साथ दिया।

(vi) कृषि में स्थिरता– कृषकों के पास न ही कृषि के साधन थे और न ही कृषि में निवेश के लिए धन। जमींदारों का गांव से कोई संबंध नहीं था तथा सरकार द्वारा कृषि तकनीकी एवं कृषि से सम्बन्धित शिक्षा पर व्यय किया जाने वाला धन अत्यल्प था। इस सभी कारणों से भारतीय कृषि का धीरे–धीरे पतन होने लगा तथा उसकी उत्पादकता बहुत कम हो गई।

अतः सरकार द्वारा लागू की गई नवीन भू–राजस्व नीतियां किसी भी स्थिति में किसानों के लिए हितकर साबित नहीं हुई। तत्कालीन परिस्थितियों ने कृषकों की हालत तो दयनीय कर दी थी, फिर उसी दौरान पड़े अकाल ने भी कसर पूरी कर दी। अभी किसान इन्हीं परिस्थितियों से जूझ रहे थे कि तभी ब्रिटिश नीति में इजाफा हुआ और कृषि का वाणिज्यीकरण का रूप सामने आया।

अपनी प्रगति जांचिए

7. "संपत्ति संबंधों में परिवर्तन आने से सामाजिक क्रांति आई।" उपरोक्त कथन किस विद्वान का है?

   (क) फिच (ख) होल्ट मैकंजी

   (ग) कार्ल मार्क्स (घ) थॉमस मुनरो

8. किस सन् में ग्रामीण ऋणग्रस्तता में सबसे अधिक वृद्धि हुई?

   (क) सन् 1870 (ख) सन् 1880

   (ग) सन् 1890 (घ) सन् 1900

2.6 निर्यात फसलों की खेती में वृद्धि एवं निर्यात वस्तुओं के उत्पादन के व्यवस्थापन में नए तत्व

लगान की अधिकता तथा कृषि उत्पादन के महंगेपन ने किसानों को ऋण के भारी बोझ तले दबा दिया जिससे वह कभी नहीं उबर सका। किसानों की सामाजिक आवश्यकताओं के कारण किसानों की ऋणग्रस्तता बढ़ती ही गई। किसानों की भूमि भी इसी कारण किसानों के हाथ से चली गई। सरकार की ओर से इस प्रकार के हस्तांतरण को रोकने के लिए कुछ कानून बनाए गए। जैसे–बंगाल काश्तकारी अधिनियम, 1859, मद्रास काश्तकारी अधिनियम 1889 दक्कन कृषि सहायता अधिनियम, जो आगे चलकर बम्बई प्रेसीडेन्सी पर भी लागू किया गया, मध्य प्रदेश काश्तकारी अधिनियम–1898 आदि। ये कानून अधिक प्रभावी नहीं हुए और किसानों की स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ।

कृषकों की दशा को और खराब करने की दिशा में एक और कदम उठाया गया। जिसमें 1813 ई. के चार्टर एक्ट द्वारा कंपनी का व्यापारिक एकाधिकार समाप्त करके

टिप्पणी

मुक्त व्यापार की नीति अपनाई गई। अब भारत केवल एक पूंजीवादी व्यवस्था को सुदृढ़ करने वाला देश ही नहीं था अपितु ब्रिटिश पूंजीपतियों के लिए एक मण्डी भी था। इसके ही कारण भारतीय उद्योग नष्ट हो गए। भारत को अब उन्हीं फसलों का उत्पादन करना था जिनकी आवश्यकता इंग्लैण्ड व इंग्लैण्डवासियों को थी। पूंजीवादी व्यवस्था के बढ़ने के साथ–साथ नई लगान नीति के कारण किसान को अब नकद राशि की आवश्यकता थी अतः किसान अब उन फसलों की खेती के लिए विवश हो गया, जिनका बाजार में क्रय–विक्रय होना था। इस प्रकार निर्यातक फसलों के कारण किसानों को विवश किया गया, उत्पाद के स्वरूप और प्रकृति में मूलभूत परिवर्तन हुआ, इस प्रकार कृषि का वाणिज्यीकरण हो गया।

2.6.1 निर्यात फसलों की खेती में वृद्धि

भारत में ब्रिटिश सत्ता स्थापित होने के पूर्व उन फसलों का उत्पादन होता था, जो कृषक परिवारों के दैनिक उपयोग के लिए आवश्यक थी तथा जिनका प्रयोग विनिमय के लिए हो सकता था। ब्रिटिश पूंजीवादी व्यवस्था के हस्तक्षेप से भारत का किसान केवल वे फसलें पैदा करने लगे। जिनका देशी और विदेशी बाजार में अधिक मूल्य मिल सके। इस प्रकार कृषि के मूल स्वरूप में परिवर्तन आया तथा अनेक स्थानों पर कुछ निश्चित फसलें उगाई जाने लगीं, जैसे– बंगाल में केवल जूट की खेती, पंजाब में केवल गेहूं और कपास की खेती पर अधिक बल दिया गया। बनारस, बिहार, बंगाल, मध्य भारत तथा मालवा में अफीम के व्यापार के लिए पोस्त की खेती को बढ़ावा मिला, इसी प्रकार बर्मा में चावल की खेती बढ़ी। सरकार द्वारा इन कृषि उत्पादों को बढ़ाने के लिए किसानों को अग्रिम राशि भी दी जाती थी। 1853 के बाद भारत में ब्रिटिश पूंजीपतियों द्वारा किए गए पूंजी निवेश के कारण नील, चाय, कॉफी, रबर आदि की खेती पर अधिक जोर दिया जाने लगा। भारत में यूरोपीय और ब्रिटिश पूंजीवाद की पहली पसन्द चाय, काफी, रबड़ और नील की खेती थी। इन फसलों के लिए उन्हें यूरोपीय बाजारों में अत्यधिक कीमत प्राप्त होती थी। लाभ की दृष्टि से अब निम्नलिखित फसलों की खेती की जाने लगी–

(i) चाय कॉफी के बागान– चाय और कॉफी के बागानों ने भी भारत में ब्रिटिश पूंजी, निवेश को आकर्षित किया। इन बागानों में किसी भी प्रकार के श्रमिक कानून लागू नहीं थे। बागान मालिक, बागान में काम करने वाले श्रमिकों का बहुत शोषण करता था। 1887 ई. में बागान में काम करने वाले श्रमिकों की संख्या लगभग 5 लाख थी। चाय बागानों में काम करने हेतु श्रमिकों को लाने के लिए अत्यधिक छल–कपट किया जाता था तथा उनसे लुभावने वादे किए जाते थे, किन्तु जब वे एक बार बागान पहुंच जाते थे तब उन्हें बंदियों की तरह रखा जाता था, रॉयल कमीशन ऑन लेबर ने अपनी रिपोर्ट में इस तथ्य की पुष्टि की है। इन श्रमिकों को निर्जन जंगलों में रखा जाता था जहां खाद्य पदार्थ नहीं मिलते थे, जो मिलते भी थे वे अत्यधिक महंगे होते थे, पर्याप्त पोषण नहीं मिलने से कुपोषण के शिकार हो जाते थे परंतु चाय बागानों के मालिकों को सिर्फ अपना लाभ ही पता था।

(ii) जूट की खेती– यूरोप के कारखानों को जूट की बहुत मात्रा में आवश्यकता थी, इसलिये यूरोपीय और ब्रिटिश व्यापारियों ने जूट उद्योग में काफी पूंजी का

टिप्पणी

निवेश किया। अतः यूरोपियनों की व्यापारिक एवं औद्योगिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए पटसन की खेती पर विशेष ध्यान दिया गया ताकि यूरोपीय मिलों को सस्ता रेशा मिल सके और यूरोपीय व्यापारियों व उद्योगपतियों को भारी लाभ हो सके। यूरोपीय अधिकारी व उद्योगपति पटसन और जूट से भारी लाभ अर्जित करते थे किन्तु कच्चा माल देने वाले किसानों को उनके उत्पादन की बहुत ही कम कीमत देते थे।

(iii) नील की खेती– नील बागानों का काम निर्धन श्रमिकों से कराया जाता था, उन्हें नील के बागानों में काम करने के लिए अग्रिम राशि दी जाती थी और फिर उनसे बंधुआ मजदूरों की भांति काम करवाया जाता था। 1860 ई. में नील आयोग की रिपोर्ट आई जिसमें कहा गया– 'रैयत ने पेशगी राशि चाहे अपनी इच्छा के विरुद्ध ली या खुशी से, वह कभी भी स्वतंत्र व्यक्ति नहीं रहा। आयोग ने उन दिनों भारतीय गांव में प्रचलित इस कहावत का भी उल्लेख किया– 'अगर कोई नील के समझौते पर हस्ताक्षर कर देता है, तो वह सात पीढ़ियों तक स्वतंत्र नहीं हो सकता।' बिहार, असम और उत्तर प्रदेश के नील बागानों में श्रमिकों की स्थिति गुलामों जैसी थी। प्रथम विश्वयुद्ध के परिणामस्वरूप और बढ़ते हुए राष्ट्रवाद के कारण नील के बागानों में काम करने वाले श्रमिकों को मुक्ति प्राप्त हुई।

हमारा विदेशी व्यापार समुद्री मार्ग से होता था। सरकारी माल के अतिरिक्त प्रतिवर्ष लगभग 324 करोड़ का व्यापार निजी तौर पर होता था। आयात की अपेक्षा निर्यात ही अधिक होता था। निर्यात में कच्चे माल का बाहुल्य था। प्रमुख 4 देशों से भारत का व्यापार होता था– ब्रिटेन, जापान, जर्मनी और अमेरिका। साधारण वर्षों में आयात–निर्यात % इस प्रकार है–

देश	आयात	निर्यात
ब्रिटेन	38.7	32.2
जापान	17.0	15.0
अमेरिका	6.5	9.5
जर्मनी	9.7	4.7

निर्यात सामानों में लगभग 25% जूट, 22% रूई व सूती माल, 15% चाय, 9% तिलहन और खली, 5% कच्चा चमड़ा और खाल रहती थी, गन्ना, ऊन धातुएं, तम्बाकू आदि वस्तुएं भी पर्याप्त मात्रा में रहती थी। ब्रिटिश भारत का निर्यात – लाख रुपये में

वस्तु	1938–39	1939–40	1940–41
कच्चा जूट	1340	1983	785
जूट का बना माल	2626	4872	4538
रूई	2467	3104	1649
सूती वस्त्र	712	587	2774
चाय	2629	2631	1005
तिलहन	1509	1189	568
चमड़ा	527	769	591

टिप्पणी

गल्ला, दाल, आटा	754	509	314
कच्ची खाल	384	511	289
तम्बाकू	275	253	244
कच्ची रबड़	71	94	237
रबड़ की वस्तुएं	4	9	225
फल–साग	227	237	92
कच्चा तैयार ऊन	385	403	41
खली	301	203	84
अन्य	2241	2677	2773
	16279	20392	18686

भारत के विदेशी व्यापार के दस वर्ष का औसत लगाने पर देखा गया है कि प्रति वर्ष उसका आयात लगभग 171 करोड़ होता है और निर्यात 216 करोड़। व्यापार में कितना लाभ या हानि हो, किसानों की प्रत्येक तरफ से हार ही थी। हम देखते हैं कि ब्रिटेन ने ही अपने हितों की हर तरह से रक्षा की और भारतीय व्यापार की हर तरह से उपेक्षा। देशी और विदेशी, तटीय और सीमावर्ती, सब प्रकार के व्यापार इसी नीति के अनुसार होता था। तभी तो व्यापारिक क्षेत्र में भारत प्रगति नहीं कर सका।

2.6.2 निर्यात वस्तुओं के उत्पादन के व्यवस्थापन में नए तत्व

वास्तविक रूप से यदि देखा जाए तो भारत में 1850 के पश्चात् ही व्यापारिक क्रांति की शुरुआत हुई। इस दौरान आयात व निर्यात के मूल्य निरंतर ही बढ़ रहे थे जिससे उनके क्षेत्र व प्रकृति में कुछ परिवर्तन देखने को मिलता है। यदि 1814 के पूर्व का इतिहास देखा जाए तो भारत में आयात होने वाली वस्तुओं में मूल्यवान धातुएं और कुछ विलासी उत्पादों की मांग ही विशेष थी तथा भारत निर्मित वस्तुओं का निर्यातक रहा। विशेषतः 1858 के पश्चात् प्रमुख रूप से कृषि संबंधी कच्चे सामान तथा खाद्य पदार्थों का निर्यातक तथा निर्मित सामान का आयातक बन गया। परंपरागत निर्यात की वस्तुओं सूती रेशमी वस्त्र तथा धागे का स्थान धीरे–धीरे कृषि के विविध उत्पादनों प्रमुख रूप से कच्ची कपास और पटसन, चाय और काफी अफीम, तिलहन तथा गेहूं और चावल ने ले लिया।

भारत के विदेश व्यापार के विकास की विवरण तालिका

वार्षिक औसत		आयात	निर्यात
"	1834–35 से 1838–39	7,32	11,32
"	1849–50 से 1853–54	15,85	20,02
"	1859–60 से 1863–64	41,06	43,17
"	1869–70 से 1873–74	41,30	57,84
"	1879–80 से 1883–84	61,81	80,41
"	1889–90 से 1893–94	88,70	108,67
"	1899–1900 से 1903–04	110,69	136,59
"	1904–05 से 1907–08	143,92	174,14

टिप्पणी

1856 के बाद सात वर्षों की संक्षिप्त अवधि को छोड़कर 19वीं शताब्दी में भारतीय विदेश व्यापार का एक उल्लेखनीय परन्तु सामान्य तत्व था, आयात के मुकाबले निर्यात का निरन्तर बढ़ता हुआ आधिक्य। इस तत्व ने भारतीय आर्थिक चिन्तन को बढ़ा दिया। भारतीय नेताओं ने अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य में कोरी वृद्धि को अपने आप में एक लाभ तथा विचारणीय विषय नहीं माना। उनके अनुसार विदेशी व्यापार के इस रूप में महत्वपूर्ण तथ्य यह था कि यह भारत की अधोलिखित केन्द्रीय आर्थिक समस्याओं को प्रभावित करता था जैसे– दरिद्रता, औद्योगिकरण, विदेशी आर्थिक शोषण। किन्तु ब्रिटिश अधिकारियों के अनुसार विदेश व्यापार का तेजी से विकास देशहित में था और इस व्यापार पर जनता की सम्पन्नता निर्भर है। भारतीय नेताओं ने इस मत को अस्वीकार करते हुए शंकाएं व्यक्त की। 1887 में ही दादा भाई नौरोजी ने अपने विचार व्यक्त करते हुए बताया कि यूरोप के देशों के व्यापार के साथ और यहां तक कि ब्रिटिश राज्य के अन्य भागों के व्यापार के साथ भारत के निवेश व्यापार की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रिटिश भारतीय व्यापार कितना निकृष्ट है। आर.सी. दत्त, डी.ई. वाचा, जी.एस. अय्यर ने इस विचार पर सहमति प्रकट की। किसी भी रूप में उन्होंने विदेशी व्यापार के विस्तार को अपने आप में समृद्धि का लक्षण अथवा हर्षोल्लास का कारण नहीं माना। सामग्री के अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय के सामान्य लाभों को न नकारते हुए भी उन्होंने व्यापार की कुल मात्रा तक मूल्य वृद्धि को वास्तविक आर्थिक प्रगति के विश्वस्त संकेतक अथवा विशुद्ध हित मानना स्वीकार नहीं किया।

जहां ब्रिटिश अधिकारियों के अनुसार बढ़ते आयात देश की बढ़ती क्रयशक्ति के सूचक थे, वहां भारतीय नेताओं की दृष्टि में ये भारत के उत्पादनों को क्षतिग्रस्त करने के सबसे बड़े कारण थे, राष्ट्रीय हानि के स्रोत थे तथा राष्ट्र की आर्थिक और औद्योगिक मृत्यु के प्रबल सूचक थे तथा यह आयातित सामग्री न तो देशी उत्पादनों को बढ़ाती है और न ही उनकी शेष पूर्ति करती है, न ही आवश्यकताओं तथा नये उद्योगों को जन्म देती है अथवा तकनीकी ढंग से कहना चाहें तो यह किसी नई या प्रभावी मांग को पूरा नहीं करती है। जे.सी. अय्यर के विश्लेषणानुसार भारत में अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय शेष पूर्ति तथा गृह विनिमय को सुदृढ़ नहीं करता। यह गृह विनिमय करता का स्थान लेता है अतः इस प्रकार यह उसका सर्वनाश करता है।

राष्ट्रवादी अर्थशास्त्रियों के अनुसार विदेश व्यापार के बहुत से पदार्थ जैसे– चाय, नील, काफी तथा पटसन सौदे विदेशी पूंजी और प्रयत्न के विनियोजन के ही परिणाम थे। अतः विदेशी पूंजीपति ही इनसे लाभ उठाते थे तथा वे लोग इनके आयातों तथा उत्पादनों से होने वाले सभी लाभों में से भारतीयों की श्रमवृत्ति के रूप में उनका भाग छोड़कर, बाकी सारे लाभ इस देश से अपने देश को ले जाते थे।

अपनी प्रगति जांचिए

9. भारत में यूरोपीय और ब्रिटिश पूंजीवाद की पहली पसंद कौन सी खेती थी?

(क) चाय–कॉफी (ख) रबड़

(ग) नील (घ) उपर्युक्त सभी

10. भारत का व्यापार किस देश से नहीं होता था?

(क) ब्रिटेन (ख) जापान

(ग) इटली (घ) अमेरिका

टिप्पणी

2.7 पारिस्थितिक परिवर्तन और ग्रामीण समाज

औपनिवेशिक काल से पूर्व भारतीय अर्थव्यवस्था कृषि–जन्य अर्थव्यवस्था थी, परंतु ब्रिटिश शासन ने यहां की परंपरागत कृषि व्यवस्था को नष्ट कर दिया और अपने लाभ के लिए भू–राजस्व निर्धारण के बाद बंगाल–बिहार–उड़ीसा की दीवानी प्राप्त करने के बाद कंपनी के गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स ने 1772 ई. में बंगाल में द्वैध शासन व्यवस्था को समाप्त कर फार्मिंग सिस्टम (इजारेदारी प्रथा) भू–राजस्व की वसूली के लिए प्रारंभ की। संग्रहण के अधिकार ऊंची बोली लगाने वाले को 5 वर्ष के लिए नीलाम कर दिए जाते थे। इससे किसानों का शोषण बढ़ा। 1793 ई. में कार्नवालिस ने स्थायी बंदोबस्त प्रारंभ किया। इसके अंतर्गत (बंगाल, बिहार, उड़ीसा में) जमींदारों को भूमि का पूरा स्वामी मान लिया गया।

धीरे–धीरे इस व्यवस्था के अंतर्गत ब्रिटिश सरकार ने भारत का लगभग 19 प्रतिशत भाग सम्मिलित कर लिया। जमींदार भू–राजस्व जिसकी वसूली करता था 1/10 अथवा 1/11 भाग अपने पास रखकर शेष कंपनी के पास जमा करता था, जमींदार मनचाहा लगान वसूल करता था, किसान जमींदार का गुलाम बन गया था। अंग्रेजों द्वारा भारत में भू–राजस्व वसूली की दूसरी पद्धति 'रौयती पद्धति' (Ryotwari System) थी। इस पद्धति के अनुसार प्रत्येक पंजीकृत भूमिदार को भूमि का स्वामी स्वीकार कर लिया जाता था। वह ही सरकार को कर देने के लिए उत्तरदायी होता था। इस व्यवस्था के अंतर्गत उन्हें भूमि की कुल उपज का 55 प्रतिशत से 33 प्रतिशत के बीच लगान कंपनी को देना पड़ता था। रैयतवाड़ी व्यवस्था में लगान की दर ऊंची थी अतः कृषक महाजन के चंगुल में फंसता चला गया। ब्रिटिश भारत के तीस प्रतिशत भाग जिसमें उत्तर–पश्चिमी प्रांत अवध जिसे आजकल उत्तर प्रदेश कहते हैं, पंजाब आदि में महालवाड़ी पद्धति (Mahalwari System) की व्यवस्था की गई थी। इस पद्धति के अनुसार भूमि कर की इकाई किसान का खेत नहीं बल्कि ग्राम एवं महल (जागीर का एक भाग) होता था। भूमि समस्त ग्राम सभा में सम्मिलित रूप से होती थी, जिसको भागीदारों के समूह (body of co-sharers) कहते थे। ये सब सामूहिक रूप से भूमि कर देने के लिए उत्तरदायी होते थे। यद्यपि व्यक्तिगत उत्तरदायित्व भी होता था। यदि कोई व्यक्ति अपनी भूमि छोड़ देता था तो ग्राम–समाज को इस भूमि को संभालना पड़ता था। यह ग्राम, समाज ही सम्मिलित भूमि (शामलात) तथा अन्य भूमि का स्वामी होता था। इस व्यवस्था में लगान का निर्धारण अनुमान पर आधारित था और इसकी विसंगतियों का लाभ उठाकर कंपनी के कर्मचारी अपने हित संवर्धन में लगे रहते थे। इस व्यवस्था का परिणाम ग्रामीण समुदाय के विखंडन के रूप में होना प्रारंभ हो गया।

सामाजिक दृष्टि से यह व्यवस्था विनाशकारी और आर्थिक दृष्टि से असफल सिद्ध हुई। इस महालवाड़ी पद्धति व्यवस्था में ग्राम स्तर पर सामूहिक रूप से जागीर स्तर पर निश्चित मालगुजारी देने का प्रावधान था। 'महल' पद उस ग्रामीण इकाई के लिए व्यवहार में लाया गया जिसे प्रणाली में एक वित्तीय इकाई के रूप में जाना जाता था। कंपनी के शासनकाल में भारतीय कृषि में वाणिज्यिक तत्व प्रबल हुआ। वाणिज्यिक फसलों से जहां व्यापारी वर्ग तथा सरकारी कंपनी को अनेक प्रकार के लाभ हुए वहीं किसानों की गरीबी बढ़ती चली गई।

टिप्पणी

ईस्ट इंडिया कंपनी की भूमि कर पद्धति का, विशेषकर अत्यधिक कर का परिणाम यह हुआ कि भारतीय अर्थव्यवस्था अस्त–व्यस्त हो गई। ग्राम पंचायतों के प्रमुख कार्य जैसे भूमि व्यवस्था तथा न्यायिक कार्य समाप्त हो चुके थे। पाटिल अब केवल सरकार की ओर से भूमि कर संग्रहकर्ता ही रह गया था। इस प्रकार ग्रामों की प्राचीन सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक व्यवस्था छिन्न–भिन्न हो गई थी। भारतीय कुटीर उद्योग लगभग समाप्त हो चुके थे तथा ग्रामों में भूमि का महत्व बढ़ गया। इस नई भू–व्यवस्था से भूमि तथा कृषक दोनों ही चलनशील (Mobile) हो गए, जिसके फलस्वरूप ग्रामों में साहूकार तथा अनुपस्थित जमींदार (Absentee landlords) उत्पन्न हो गए।

उन्नीसवीं शताब्दी के राष्ट्रवादी विचारकों का बार–बार यही कहना था कि सरकार की भू–राजस्व की मांग रैयतवाड़ी तथा जमींदारी व्यवस्था, दोनों में अत्यधिक है। भू–राजस्व समय पर न देने की अवस्था में सरकार जमींदारों और रैयवाड़ी की भूमि जब्त कर लेती थी। फिर उन्हें पुनः नगरवासियों तथा सट्टेबाजों को बेच देती थी। ये नए लोग किसान नहीं होते थे। वे अधिक से अधिक उस भूमि को किराये पर देकर अधिक किराये की चिंता में लगे रहते थे। ये लोग स्वयं भी अपनी भूमि को आगे दूसरे सट्टेबाजों को किराये पर दे देते थे।

समाज में जमींदार तथा साहूकार जिनकी ग्राम निवासियों को अब अधिक आवश्यकता महसूस होने लगी थी, ये व्यक्ति बहुत ही महत्वपूर्ण बन गए। अब ग्रामीण श्रमिक वर्ग जिसमें छोटे–छोटे किसान, मुंजारे तथा भूमिहीन कृषक सम्मिलित थे, उनकी संख्या बढ़ गई। सहकारिता के स्थान पर आपसी प्रतिद्वंद्विता तथा व्यक्तिवाद को बढ़ावा मिला तथा पूंजीवाद के पूर्वाकांक्षित तत्व उत्पन्न हो गए।

यह स्वीकार किया जा सकता है कि कृषि के वाणिज्यीकरण से भारत में गरीबी बढ़ी, अकाल पड़े और कुछ सीमा तक अर्थव्यवस्था का मौद्रीकरण हुआ। गांवों का शहरों से संपर्क बढ़ा, नये शोषणपूर्ण श्रम–संबंधों का सूत्रपात हुआ।

2.7.1 वनों पर औपनिवेशिक शासन का नियंत्रण

औपनिवेशिक राज्य ने खासतौर पर 1860 के बाद भू–राजस्व की अपनी मांग को समायोजित करके इसे संतुलित स्तर पर ला दिया। इसने किसानों को बाजार के लिए उत्पादन करने को प्रेरित किया क्योंकि कृषि उपज के मूल्य में लगातार बढ़ोत्तरी हो रही थी किन्तु इसका लाभ किसानों तक नहीं पहुंच रहा था। 19वीं शताब्दी में औपनिवेशिक राज्य के राजस्व का सबसे महत्वपूर्ण स्रोत भू–राजस्व था। सरकार की कुल आय का 50% भाग राजस्व से ही प्राप्त होता था। इसके अतिरिक्त दो अन्य कर ऐसे थे जिन पर राज्य का एकाधिकार था ये थे नमक व अफीम बिक्री कर। 1858–59 में इन दोनों से 24% राजस्व प्राप्त होता था। नमक कर का बोझ अमीर व गरीब दोनों पर सामान्य रूप से पड़ता था। जमीन पर कर या लगान का महत्व लगातार घटता गया और 20वीं शताब्दी के तीसरे दशक में कम होकर लगभग 20% रह गया। इस प्रकार औपनिवेशिक काल में राजस्व प्राप्त किया जाता था। इसने तरह–तरह के भू–बंदोबस्त और भू निर्धारण प्रारम्भ किया, परन्तु औपनिवेशिक राज्य का हस्तक्षेप भू–राजस्व के स्रोतों पर नियन्त्रण तक सीमित नहीं था। इसका जबरदस्त और अपरिहार्य नियंत्रण भारत के प्राकृतिक एवं मानव संसाधनों पर भी था।

टिप्पणी

2.7.2 औपनिवेशिक काल में वनों का प्रयोग

1600 ई. में हिन्दुस्तान के कुल भू–भाग के लगभग छठे हिस्से पर खेती होती थी। जैसे–जैसे आबादी बढ़ती गयी और खाद्य पदार्थों की मांग वृद्धि हुई वैसे–वैसे किसान भी जंगलों को साफ करके खेती की सीमाओं को विस्तार देते गए। औपनिवेशिक काल में खेती में द्रुत गति से फैलाव हुआ, क्योंकि 19वीं सदी के यूरोप में बढ़ती शहरी आबादी का पेट भरने के लिए खाद्यान्न और औद्योगिक उत्पादन के लिए कच्चे माल की जरूरत थी। इसलिए गेहूं, गन्ना, कपास जैसी फसलों की आवश्यकता थी। 19वीं सदी की शुरुआत में औपनिवेशिक सरकार ने जंगलों को अनुत्पादक समझा। उनके अनुसार यहां खेती करके राज्य के लगान में बढ़ोत्तरी की जा सकती है।

इसी कारण 1880 से 1920 के बीच में खेती वाली भूमि का क्षेत्रफल बहुत बढ़ गया। भारत में जंगलों की अधिकता थी, जहां आदिवासियों का वास था। ईस्ट इंडिया कंपनी की शक्तिशाली भाड़े की फौज को पालने और इसके व्यावसायिक उद्यमों को संगठित करने में भू–राजस्व ने एक सुरक्षित वित्तीय संसाधन का स्रोत प्रदान किया था। कंपनी ने देसी शासकों को अपने अधीन करके भारत के भीतर अपनी क्षेत्रीय सीमाओं को हासिल किया था। वनों और बंजर जमीनों पर कब्जा करके स्थिर खेती को बढ़ावा दिया। अंग्रेजों ने सामाजिक क्षेत्र में हस्तक्षेप करके विशाल उत्पादक क्षेत्रों को व्यवस्थित किया। वनों की लकड़ियों का प्रयोग निम्न क्षेत्रों में किया गया–

(i) 18वीं शताब्दी के 7वें दशक तक जहाज निर्माण, लोहा गलाने और खेती योग्य जमीन का विस्तार होने से बड़ी भारी मात्रा में लकड़ी की जरूरत पैदा हो गई थी, इनके चलते इमारती लकड़ी की वाणिज्यिक मांग बढ़ गई। इमारती लकड़ी की जरूरत रॉयल नेवी को भी थी।

(ii) 19वीं शताब्दी के छठे दशक के बाद रेलवे स्लीपरों की मांग और जहां कोयला उपलब्ध नहीं था उन क्षेत्रों में ईंधन के तौर पर लकड़ी की जरूरत से बड़े स्तर पर व्यावसायिक तौर पर वन कटने लगे। इस व्यावसायिक उपक्रम में यूरोपीय और भारतीय दोनों ठेकेदारों ने भाग लिया। दोआब और कुमायूं तथा गढ़वाल के हिमालय के नीचे के वनों के बहुत से क्षेत्रों को खाली कर दिया गया था। स्लीपरों के लिये सागौन, साल व देवदार उपयुक्त लकड़ियां थी। रेलवे के विस्तार के लिए उत्तर–पश्चिम हिमालय के देवदार वनों से लकड़ियां प्रयोग की गई। एच. क्लीघने की पुस्तक 'दि फोरेस्ट्स एंड नार्डेन्स ऑफ साउथ इंडिया में पारिस्थितिकी पर, मालघाट और नॉर्थ अरकोट पहाड़ों में रेलवे निर्माण के प्रभाव का वर्णन किया गया है। प्रारम्भ में तो पहाड़ी शासकों से वन उत्पादन पर कर लगाने और एकाधिकार की कोशिश की किंतु कंपनी के शासन के सम्मुख यह सम्भव नहीं था।

भारत में रेल लाइनों का जाल 1860 के दशक से तेजी से फैला। 1890 तक लगभग 25000 कि.मी. लम्बी लाइन बिछाई जा चुकी थी। 1946 में इन लाइनों की लंबाई 7,65000 कि.मी. तक बढ़ चुकी थी। अकेले मद्रास प्रेसीडेन्सी में 1850 के दशक में प्रतिवर्ष 35,000 पेड़ स्लीपरों के लिए काटे गए। सरकार ने आवश्यक मात्रा की आपूर्ति के लिए निजी ठेके दिए।

टिप्पणी

(iii) यूरोप में चाय, कॉफी और रबड़ की बढ़ती मांग को पूरा करने के लिए इन फसलों के बागान बने और इसके लिए भी प्राकृतिक वनों का एक भारी हिस्सा साफ किया गया। कालांतर में सरकार ने इन जंगलों को पहले अपने अधिकार में ले लिया, फिर सस्ती दरों पर यूरोपीय बागान मालिकों को सौंप दिया। इस प्रकार इन जंगलों को साफ करके यहां चाय–कॉफी की खेती की गई।

2.7.3 इम्पीरियल फॉरेस्ट रिसर्च इंस्टीट्यूट की स्थापना की पृष्ठभूमि

भारतीय शासकों के अंतर्गत वनों पर नियंत्रण कुछ बहुमूल्य पेड़–पौधों और जानवरों की प्रजातियों के प्रयोग के अधिकारों तक सीमित था। किसानों और जनजातीय समूहों के लिए वनों में कोई रोक टोक नहीं थी, ये लोग जानवरों को चराने व ईंधन के लिए लकड़ी का प्रयोग इन्हीं जंगलों से करते थे। औपनिवेशिक शासकों ने वनों को सुरक्षित और संरक्षित करने तथा वनवासियों को वश में करने के भी प्रयास किए थे, किंतु भारत में यह विवाद का विषय है कि क्या सब कुछ इतना व्यवस्थित रूप से किया गया था।

स्कॉटलैण्ड के सर्जन अलेक्जेण्डर गिबसन और हयूग क्लेघम ने वनों की कटाई द्वारा सूखे पर प्रभाव के विषय में चिंता व्यक्त की थी। उनके अनुसार वनों की इस प्रकार कटाई से पानी की कमी हो सकती है और साथ ही खेती को भी नुकसान हो सकता है। उन्होंने वनों के कटाव और वन आवरण की विलुप्ति को व्यापारियों द्वारा वाणिज्यिक उद्देश्यों के लिए पेड़ों की कटाई को खासतौर पर पश्चिमी घाटों में झूम की खेती के साथ जोड़ा था। वन उपभोक्ताओं के हाशिये पर आने और औपनिवेशिक शासकों द्वारा उनको स्थिर खेती में बांधने या वेतनभोगी मजदूर बनाने के प्रयासों का अर्थ था खेती करने वालों के परम्परागत अधिकारों का अतिक्रमण। इन सब कारणों से एक इंस्टीट्यूट की स्थापना पर विचार किया गया।

इम्पीरियल फॉरेस्ट रिसर्च इन्स्टीट्यूट की स्थापना– रेल पटरी के निर्माण इत्यादि के लिए वनों का सफाया देख अंग्रेजों को यह चिंता हो गई कि जंगल नष्ट हो रहे हैं। इसलिए उन्होंने डायट्रिच ब्रैंडिस नामक जर्मन विशेषज्ञ को इस विषय पर मशविरे के लिए बुलाया और उसे देश का पहला वन निदेशक नियुक्त किया गया। ब्रैंडिस के अनुसार लोगों में वन प्रबंधन और वन संरक्षण विज्ञान के ज्ञान का अभाव है। इसके लिए लोगों को संरक्षण विज्ञान में प्रशिक्षित करना और जंगलों के प्रबंधन के लिए एक व्यवस्थित तंत्र विकसित करना होगा। इसके लिए वन संबंधी नियम तय करने होंगे। अंग्रेजों ने अपने व्यापार के लिए लकड़ी उत्पादन को आरक्षित करने हेतु पेड़ों की कटाई और पशुओं की चराई के लिए वनों को काटने पर पाबंदी लगा दी। साथ ही इस नियम की अवमानना करने पर सजा का प्रावधान भी लागू कर दिया गया। इस तरह ब्रैंडिस ने 1864 में भारतीय वन सेवा की स्थापना की। साथ ही 1906 में देहरादून में 'इम्पीरियल फॉरेस्ट रिसर्च इन्स्टीट्यूट' की स्थापना हुई। यहां वैज्ञानिकी वानिकी की शिक्षा दी जाती थी। किन्तु पारिस्थितिकी विशेषज्ञों की मानें तो यह विधि बिल्कुल भी वैज्ञानिक नहीं थी। इसी के अंतर्गत विभिन्न प्रजाति वाले प्राकृतिक वनों को काट डाला गया, इसके स्थान पर बागान की भांति एक ही पंक्ति में पेड़ों को लगाया गया और यह

टिप्पणी

भी निश्चित किया गया कि बागान का कितना प्रतिशत हिस्सा काटा जाएगा और पेड़ काटने के साथ ही दूसरे पेड़ लगाए जाएंगे।

1865 में वन अधिनियम के लागू होने के बाद इसमें दो बार संशोधन किए गए पहले 1878 में और फिर 1927 में। 1878 में पारित अधिनियम में जंगलों को तीन श्रेणियों में बांटा गया– आरक्षित, सुरक्षित, ग्रामीण।

2.7.4 वन विभाग का कार्य

विभाग की स्थापना के बाद विभाग में कुछ कानून बनाने के प्रयास किए गए ताकि वनों तक लोगों को आने से रोका जाए। पहले जिसका उपभोग ग्रामीण और आदिवासी समुदाय करते थे, ऐसे वनों तथा अन्य सामूहिक संपत्तियों के उपयोग संबंधी परंपरागत अधिकारों को पहले से चले आ रहे उपभोक्ता अधिकारों के रूप में मान्यता देने की प्रक्रिया को कम कर दिया गया क्योंकि तब तक औपनिवेशिक राज्य ने अपनी राजनीतिक पकड़ मजबूत कर ली थी। 1865 में वन अधिनियम को वनों पर नियंत्रण का रास्ता खोलने के लिए पारित किया गया था ताकि वनों को रेलवे की आपूर्ति के लिए सुरक्षित रखा जाए। किंतु इस अधिनियम में ग्रामीणों हेतु उनके अधिकारों को सुरक्षित नहीं रखा गया। अब कंपनी को वनों पर नियंत्रण के दावे को मजबूत करने के लिए एक अन्य अधिक व्यापक कानून की जरूरत थी और 1865 के अधिनियम के 'दोषों' की जांच–पड़ताल करने और एक नये कानून का सुझाव देने के लिए 1874 में वन अधिकारियों का एक सम्मेलन आयोजित किया गया। औपनिवेशिक नौकरशाही एक मत न होने कारण अधिनियम को पारित होने में 13 साल लग गए। इसमें तीन गुटों (दलों) के विचार इस प्रकार थे–

पहला गुट– वाडेन पावेल के नेतृत्व में एक प्रभावशाली गुट सभी वन क्षेत्रों पर पूर्ण नियंत्रण का हिमायती था और केवल उन अधिकारों को मान्यता देता था जो स्पष्ट तौर पर ब्रिटिश शासन द्वारा स्वीकार किए गए हों।

दूसरा, मद्रास के वन अधिकारियों का गुट– इस गुट ने ब्रिटिश शासन के हस्तक्षेप को अस्वीकार कर दिया और उनका मानना था कि किसानों और आदिवासियों को प्रवेश का अधिकार दिया जाए जो सामुदायिक स्वीकृति के अधीन और नियमों के अनुसार हो।

ब्रांडिस, वनों के महानिरीक्षक के नेतृत्व में तीसरा गुट ने बीच का रास्ता निकालता हुआ इस पक्ष में था कि राज्य केवल उन वनों का प्रबंधन करे जो पारिस्थितिकी और सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हो और दूसरे वनों का प्रबंधन स्थानीय समुदायों को करने दिया जाए। किन्तु 1878 में जो वन अधिनियम पारित हुआ वो मोटे तौर पर राज्य के कड़े नियंत्रण के पक्ष में था और वन के उपयोग के मामले में ग्रामीण समुदायों के परंपरागत अधिकारों को अस्वीकार करता था। वन अधिनियम द्वारा वनों को तीन श्रेणियों में बांट दिया गया था।

'आरक्षित वन'– ये सघन और बहुमूल्य वन थे, जो व्यवसायी इमारती लकड़ी के उत्पादन के लिए वन विभाग के कड़े नियंत्रण के अधीन रखे गए। इनमें वन उत्पादों के उपयोग के मामले में ग्रामीण समुदायों के परंपरागत अधिकारों को पूरी तरह समाप्त कर दिया गया था।

टिप्पणी

संरक्षित वन– ये राज्य नियंत्रण के अधीन थे, जिनमें अधिकारों को तो लिखा गया था पर वे तय नहीं किए गए थे। वृक्ष विशेष की प्रजातियों और व्यापार की दृष्टि से मूल्यवान समझे जाने वाले पेड़ों के संरक्षण के लिए विस्तृत प्रावधानों की रूपरेखा निर्धारित करके और पशु चराने के समय वनों को बंद करके, वनों पर मजबूती से नियंत्रण स्थापित कर लिया था।

ग्रामीण वन– पूरे देश के ग्रामीण वनों के तीसरे वर्ग को न कभी विकसित किया गया और न ही परिभाषित किया गया। वनवासियों के साथ भी वही हुआ जो अब तक किसानों के साथ होता आ रहा था।

2.7.5 वन अधिनियम का प्रभाव

इस 1878 के अधिनियम ने कंपनी शासन में महत्वपूर्ण सहायता प्रदान की। वन उत्पादों पर बहुत थोड़े और मामूली अधिकार के अलावा ग्रामीण और आदिवासियों को पूरी तरह से हाशिये पर ला दिया गया। वन उत्पादों की बिक्री या उनके वस्तुविनिमय पर रोक लगा दी गई जिससे अनेक आदिवासी समुदायों की जीविका चलती थी। 1878 से 1900 तक आरक्षित वनों का क्षेत्र क्रमशः 14000 वर्ग मील हो जाने से वन विभाग का नियंत्रण मजबूत हो गया। इससे भारत में निम्नलिखित प्रभाव पड़ा–

(i) आम जनता पर प्रभाव– ग्रामीणों की जरूरत वनों पर निर्भर थी, जैसे– ईंधन, चारे व पत्तों की पूर्ति के लिए वन में विभिन्न प्रजातियां। वहीं वन विभागों को जहाजों और रेलवे के लिए ऐसी लकड़ियों की आवश्यकता थी जो लंबी, सीधी हो। इसलिए सागौन और साल के पेड़ों को प्रोत्साहित किया गया और शेष को हटा दिया गया।

वन्य इलाकों में लोग कन्दमूल फूल, पत्ते आदि वन उत्पादनों का विभिन्न जरूरतों के लिए उपयोग करते थे। फल और कंद अत्यंत पोषक खाद है विशेषकर मानसून के दौरान जब तक फसल कट कर घर न आई हो। दवाओं के लिए जड़ी–बूटी का उपयोग होता है, लकड़ी का प्रयोग हल जैसे खेती के औजार बनाने में किया जाता है, बॉस से बेहतरीन बाड़ें बनाई जा सकती हैं और इसका उपयोग छतरी तथा टोकरी बनाने के लिए भी किया जा सकता है। सूखे हुए कुम्हड़े के खोल का प्रयोग पानी की बोतल के रूप में किया जाता था। जंगल में लगभग सब कुछ उपलब्ध है– 'पत्तों को जोड़–जोड़ कर खाओ फेको' किस्म के पत्तल और दोने बनाये जा सकते थे, सियादी की लताओं से रस्सी बनाई जा सकती है, सेमूर (सूती रेशम) की कांटेदार छाल पर सब्जियां छीली जा सकती हैं, महुए के पेड़ से खाना पकाने और रोशनी के लिए तेल निकाला जा सकता था। अब इस अधिनियम के चलते गांव वालों की मुश्किलें बढ़ गईं। इसके बाद घर के लिए लकड़ी काटना, पशुओं को चराना, कंदमूल फल इकट्ठा करना आदि रोजमर्रा की गतिविधियां गैर–कानूनी बन गई।

(ii) पुनः खेती पर संकट– एक प्रकार की स्थानीय परम्परागत खेती जिसे दक्षिण–पूर्वी एशिया में लादिंग, मध्य अमेरिका में मिलपा, अफ्रीका में चित्तमेव, श्रीलंका में चेना के नाम से जाना जाता है, भारत में इसे झूम या घुमंतु खेती कहा जाता है। इसके लिए, धया, पेंदा, बेवर, नेवड़, झूम, पोडू, खंदाद और कुमरी स्थानीय नाम हैं।

टिप्पणी

इस खेती के अंतर्गत जंगल के कुछ भागों को बारी–बारी काटा जाता है और जलाया जाता है। मानसून की पहली बारिश के बाद इस राख में बीज बो दिए जाते हैं, अक्टूबर–नवम्बर में फसल काटी जाती है। इन पर एक–दो साल खेती करके 12–18 साल तक के लिए परती छोड़ दिया जाता है। फिर इसमें मिश्रित फसलें उगाई जाती हैं। कंपनी शासकों के अनुसार ऐसी परती भूमि पर इमारती लकड़ियों वाले पेड़ नहीं उगाये जा सकते और वनों को जलाने से इन इमारती लकड़ी वाले पेड़ों को भी नुकसान होगा। घुमन्तु खेती के कारण सरकार वहां लगान का हिसाब नहीं रख पा रही थी। इसलिए सरकार ने घुमन्तु खेती पर रोक लगा दी।

(iii) नए रोजगार– जहां इस अधिनियम से लोगों को भारी क्षति हुई वहीं कुछ रोजगार के अवसर भी सामने आए। कई समुदाय अपने परंपरागत पेशों को छोड़ कर वन उत्पादों का व्यापार करने लगे, महज हिंदुस्तान ही नहीं बल्कि दुनिया भर में ऐसा ही देखने को मिला। हिंदुस्तान में वन उत्पादों का व्यापार कोई अनोखी बात नहीं थी।

रोजगार का अर्थ यह नहीं था कि उनकी जीवन स्थिति में हमेशा के लिए सुधार आ गया हो। असम के चाय बागानों में काम करने के लिए झारखंड के संथाल और उरांव व छत्तीसगढ़ के गोंड जैसे आदिवासी पुरुष और महिलाओं की भर्ती की गई, मजदूरी जितनी कम थी, कार्य परिस्थितियां उतनी ही खराब थी।

औपनिवेशिक वन नीति के अनेक गंभीर निहितार्थ थे। इनसे कृषि योग्य भूमि और वन भूमि को कृत्रिम रूप से अलग कर दिया गया, जिससे लाखों खेतिहर प्रभावित हुए। वनों के संरक्षण और प्रबंधन के परंपरागत ज्ञान के महत्व को कम कर दिया गया।

अपनी प्रगति जांचिए

11. 1600 ई. में हिंदुस्तान के कुल भाग के कितने हिस्से पर खेती होती थी?

    (क) पांचवें हिस्से पर (ख) छठे हिस्से पर

    (ग) सातवें हिस्से पर (घ) आठवें हिस्से पर

12. किस दशक में भारत में रेल लाइनों का जाल तेजी से फैला?

    (क) सन् 1860 (ख) सन् 1865

    (ग) सन् 1870 (घ) सन् 1890

2.8 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (क)
3. (क)
4. (घ)
5. (ख)
6. (ग)

टिप्पणी

7. (ग)
8. (ख)
9. (ग)
10. (ग)
11. (ख)
12. (क)

2.9 सारांश

भारत में प्रारंभ में कृषकों की हालत अच्छी थी वे अपने जीवन में खुशहाल थे। किंतु ब्रिटिश शासन ने भारत में किसानों या यहां की जलवायु परिस्थितियों के हिसाब से कोई नीति लागू नहीं की बल्कि वे अपने विचार से अपनी नीतियां लागू करते थे। उनकी इन नीतियों से सदैव ही किसानों को हानि हुई। इन नीतियों में जमींदार जो बिचौलिया होता था वह भू–राजस्व का बड़ा हिस्सा अपने पास रख लेता था जिससे किसानों पर भार पड़ता था। देश के भू–स्वामी अभिजात वर्गों की भारतीय अर्थव्यवस्था में कोई उत्पादक भूमिका नहीं थी, वे जमींदारी प्रथा को युक्तिसंगत बनाना चाहते थे। इन नीतियों से किसानों को कोई लाभ न होकर, ये लाभ या तो सरकार को होता था या भूस्वामियों को मिलता था। भू–राजस्व की ऊंची दरें किसानों के लिए असहनीय थी। खेती की पूर्ण व्यवस्था की जिम्मेदारी भी किसानों की थी, वह कहां से सारे साधन जुटाता है यह उसी की जिम्मेदारी थी। ब्रिटिश शासन द्वारा स्थापित की गई भू–राजस्व प्रणाली ने प्राचीन सामाजिक ढांचे को ध्वस्त कर दिया, जिसमें किसान सदियों से रहते आए थे। गांव के सामूहिक जीवन का स्थान व्यक्तिवाद ने ले लिया था। भारी करारोपण से किसान काफी उत्पीड़ित हो चुके थे। 1880 के बाद ग्रामीण ऋणग्रस्तता में इतनी अधिक वृद्धि हुई कि यह कहना पड़ा "खेतीहर जमीनों को रखने वाले वर्गों का एक तिहाई हिस्सा इतने भयंकर और न उबरने वाले कर्जे में डूब गया।"

मुक्त व्यापार की नीति के पश्चात् अब भारत ब्रिटिश पूंजीपतियों के लिये एक मण्डी बन चुका था। इसका भारत पर विपरीत प्रभाव पड़ा। भारत के उद्योग नष्ट हो गये। कृषि के वाणिज्यिकरण से किसानों को निर्यातक फसलों के लिए विवश किया गया, उत्पाद के स्वरूप और प्रकृति में मूलभूत परिवर्तन हुआ।

1856 के बाद सात वर्षों की संक्षिप्त अवधि को छोड़कर 19वीं शताब्दी में भारतीय विदेशी व्यापार का एक उल्लेखनीय परन्तु सामान्य तत्व था– आयात के मुकाबले निर्यात का निरन्तर बढ़ता हुआ आधिक्य। ब्रिटिश अधिकारियों के लिये बढ़ते आयात देश की बढ़ती क्रय शक्ति के सूचक थे जबकि भारत के नेता इसे भारत के उत्पादों को क्षतिग्रस्त करने का सबसे बड़ा कारण मान रहे थे। राष्ट्रवादियों का मानना था कि विदेशी व्यापार के बहुत से पदार्थ जैसे चाय, नील, काफी तथा पटसन आदि विदेशी पूंजी और प्रयत्नों के विनियोजन के ही परिणाम थे, जिसका लाभ विदेशी पूंजीपति उठाते थे।

कंपनी के शासन से पूर्व तक भू–भाग के छठे हिस्से पर ही खेती होती थी, आबादी बढ़ने के साथ तथा बढ़ती मांगों से जंगलों को साफ करके खेती योग्य बनाया गया। सन् 1900 में आबादी बढ़ी, मांग बढ़ी और उत्पादन हेतु जमीन की आवश्यकता

टिप्पणी

ने जंगलों की ओर रुख किया और खेती वाली भूमि का क्षेत्रफल बढ़ गया। अब यहां रहने वाले आदिवासियों को जंगलों से भगाया गया, उनके आवास के लिए कोई भी व्यवस्था नहीं की गयी। अब जंगलों से प्राप्त लकड़ी का प्रयोग भी भिन्न–भिन्न रूपों में किया जाने लगा। जिसका लाभ मात्र ब्रिटिशर्स को था, भारतीयों को नहीं। इस समय रेल निर्माण के लिए लकड़ी अधिक उपयोगी साबित हुई। वनों की कटाई से सूखे की चिंता एक बड़ा विषय था। बहुमूल्य पेड़ों व जानवरों की प्रजातियों की सुरक्षा भी एक गंभीर विषय था और इस प्रकार कितनी गंभीरता से काम किया गया होगा, यह जगजाहिर है। इसी बीच जर्मनी के विशेषज्ञ ब्रैडिंग को भारत का पहला वन निदेशक नियुक्त किया गया और 1909 में देहरादून में इम्पीरियल फॉरेस्ट रिसर्च इन्स्टीट्यूट की स्थापना की गई। अब वन अधिनियमों की बाढ़ सी आ गई थी, ग्रामीण और आदिवासियों को पूरी तरह से हाशिये पर ला दिया गया था। ग्रामीण पूरी तरह वनों पर निर्भर थे किन्तु वनों पर अब कम्पनी का पूर्ण अधिकार था। लकड़ी की जरूरतें, पशुओं का चारा, कन्दमूल फल इकट्ठा करना इत्यादि अवैध घोषित किया गया। अब कृषि योग्य भूमि और वन योग्य भूमि को अलग कर दिया गया था।

2.10 मुख्य शब्दावली

- **स्थायी बंदोबस्त** : यह ईस्ट इंडिया कंपनी और बंगाल के जमींदारों के बीच कर वसूलने से संबंधित एक स्थायी व्यवस्था हेतु सहमति समझौता था जिसे बंगाल में लॉर्ड कार्नवालिस द्वारा 22 मार्च, 1793 को लागू किया गया।
- **रैयतवाड़ी व्यवस्था** : इस व्यवस्था में प्रत्येक पंजीकृत भूमिदार भूमि का स्वामी होता था, जो सरकार को लगान देने के लिए उत्तरदायी होता था। भूमिदार के पास भूमि को रखने व बेचने का अधिकर होता था। भूमि कर न देने की स्थिति में भूमिदार को भूस्वामित्व के अधिकर से वंचित होना पड़ता था।
- **महालवाड़ी व्यवस्था** : इस व्यवस्था के अंतर्गत भू–राजस्व प्रति खेत के स्थान पर प्रतिग्राम या जागीर के आधार पर निर्धारित किया गया। इसमें गांव का मुख्या भू–पति, गांव के सभी कृषकों से भू–राजस्व की रकम वसूल कर कोष में जमा कराता था। समस्त महाल या ग्राम सम्मिलित रूप से राजस्व जमा कराने हेतु उत्तरदायी था।
- **कृषि प्रणाली** : कृषि प्रणाली एक निर्णय करने वाली इकाई है जिसके अंतर्गत खेत, खलिहान, फसलों एवं पशुधन की ऐसी उप प्रणालियां सम्मिलित हैं जो भूमि, पूंजी एवं श्रम के रूपांतरण से ऐसे लाभदायक उत्पाद उत्पन्न करते हैं, जिन्हें उपयोग में लाया जा सके अथवा बेचा जा सके।

2.11 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. स्थायी बंदोबस्त से आप क्या समझते हैं? इसको लागू करने के क्या उद्देश्य थे?
2. रैयतवाड़ी व्यवस्था किसे कहते हैं? इसके मुख्य उद्देश्य बताइए।
3. नील की खेती पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

टिप्पणी

4. वन अधिनियम द्वारा वनों की श्रेणियों को समझाइए।
5. इंपीरियल फॉरेस्ट रिसर्च इंस्टीट्यूट की स्थापना क्यों की गई?
6. वन विभाग के कार्यों को स्पष्ट कीजिए।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. पूर्व औपनिवेशिक काल में भू–राजस्व व कृषि व्यवस्था की व्याख्या कीजिए।
2. स्थायी बंदोबस्त को समझाते हुए इसकी विशेषताओं और प्रभावों का उल्लेख कीजिए।
3. रैयतवाड़ी व्यवस्था के प्रभावों को स्पष्ट कीजिए।
4. महालवाड़ी व्यवस्था को समझाते हुए इसके परिणामों की विवेचना कीजिए।
5. ब्रिटिश कृषि व्यवस्था के परिणामों का विश्लेषण कीजिए।
6. निर्यात फसलों की खेती में वृद्धि के कारणों का विवेचन कीजिए।
7. औपनिवेशिक काल में वनों के प्रयोग का वर्णन कीजिए।

2.12 सहायक पाठ्य सामग्री

1. शर्मा, हरिश्चन्द्र; भारतीय अर्थशास्त्र, साहित्य भवन, आगरा
2. मित्तल, एल.पी.; भारत का इतिहास (1757–1947) साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा
3. मिश्रा; जे.पी.; भारतीय आर्थिक समस्यायें, साहित्य भवन पब्लिकेशन
4. अग्रवाल, ए.एन.; भारतीय अर्थव्यवस्था, विश्वा प्रकाशन, नई दिल्ली
5. मिश्र, गंगाधर; भारत में ब्रिटिश साम्राज्य, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
6. भट्ट, कृष्ण दत्त; आधुनिक भारतवर्ष, सरला प्रेस, काशी
7. डयूवेट, केवल कृष्ण; भारतीय अर्थशास्त्र, डायरेक्टरेट ऑफ स्कूल डिवीज़न, जालंधर
8. Dutt, Romesh; The Economic History of India, Vol II.
9. Dutt, Romesh; History of India under of British rule.
10. Sinha, N.C.; Studies in Ind-British Economic Hundred years ago.

इकाई 3 पारंपरिक हस्तकला उद्योग : वि–औद्योगीकरण, रेलवे और भारतीय अर्थव्यवस्था

संरचना

3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य
3.2 पारंपरिक हस्तकला उद्योग और वि–औद्योगीकरण की स्थिति
  3.2.1 कारीगर और हस्तशिल्प उत्पादों की पृष्ठभूमि
  3.2.2 औद्योगिक पूंजीवाद और ब्रिटिश वस्त्र एवं सूत का आयात
  3.2.3 वि–औद्योगीकरण विमर्श और क्षेत्रीय भिन्नताएं
  3.2.4 उपनिवेशकाल के दौरान हस्तशिल्प उद्योग
  3.2.5 हस्तशिल्प उद्योग में पूंजी और श्रम
3.3 रेलवे और भारतीय अर्थव्यवस्था
  3.3.1 आर्थिक और राजनैतिक बाध्यता
  3.3.2 भारतीय बाजारों का एकीकरण एवं पराभव
  3.3.3 कृषि उत्पादन और कच्चे माल के निर्यात पर व्यवसायीकरण का प्रभाव
  3.3.4 अकाल और ब्रिटिश नीतियां : राष्ट्रवादी समीक्षा
3.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
3.5 सारांश
3.6 मुख्य शब्दावली
3.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.8 सहायक पाठ्य सामग्री

3.0 परिचय

ब्रिटिश काल में भू–राजवस्व प्रणाली से भारतीय किसानों की स्थिति बिगड़ती जा रही थी। नवीन भू–राजस्व प्रणाली के कारण जमींदारों का वर्चस्व कायम होने तथा बेचारे किसानों की स्थिति बदतर होने लगी थी। इसक कारण कई किसानों को अपनी जमीन गिरवी रखनी पड़ी या फिर बेचनी पड़ी। ऐसी स्थिति में अब किसान खेती छोड़ और दूसरे कामों की तलाश में लग गये थे। इस प्रकार, औद्योगीकरण से भी आम कारीगरों पर असर पड़ा। 1818 के चार्टर एक्ट द्वारा ब्रिटिश नागरिकों को व्यापार करने की छूट मिलने के फलस्वरूप, भारतीय बाजार सस्ते एवं मशीन निर्मित आयात से भर गया। दूसरी ओर भारतीय उत्पादों के लिए यूरोपीय बाजारों में प्रवेश करना अत्यंत कठिन हो गया। 1820 के पश्चात तो यूरोपीयन बाजार भारतीय उत्पादों के लिए लगभग बंद ही हो गए। भारत में रेलवे के विकास ने यूरोपीय उत्पादों को भारत के दूर–दराज के क्षेत्रों तक पहुंचने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

राष्ट्रवादी विचारकों का मानना है कि भारतीय उद्योग के विनाश में ब्रिटिश सरकार की प्रत्यक्ष भूमिका थी, उसकी औद्योगिक नीति, भारतीय अर्थव्यवस्था में हस्तक्षेप की नीति, इस तथ्य को रेखांकित करती है कि औपनिवेशिक सरकार का मुख्य उद्देश्य था

टिप्पणी

भारतीय अर्थव्यवस्था को ब्रिटिश उद्योग के लिए कच्चे माल का उत्पादक एवं उनके द्वारा उत्पादित ब्रिटिश वस्तुओं के लिए बाजार के रूप में तब्दील करना।

ईस्ट इंडिया कंपनी की दमनकारी नीति के अंतर्गत अंग्रेजों ने भारत से आयात–निर्यात के व्यापार में अपना पक्ष मजबूत रखने के लिए न्यूनतम मूल्य पर अधिक से अधिक माल खरीदने और इस कार्य में सैनिक बल का प्रयोग करने की नीति बनाई। कंपनी के अधिकारी तथा उनके प्रतिनिधि भारतीय जुलाहों को एक निश्चित समय में निश्चित प्रकार का कपड़ा तैयार करने के लिए विवश करते थे और आदेश न मानने वाले जुलाहों के अंगूठे काट दिये जाते थे। इस कारण वस्त्र उद्योग में लगे हजारों परिवार बंगाल छोड़कर भाग गये थे।

1762 ई. में बंगाल के नवाब ने कंपनी के अधिकारियों से कंपनी के एजेंटों की शिकायत की– "कंपनी के एजेंट रैयतों, किसानों, व्यापारियों आदि से जबरदस्ती एक चौथाई कीमत देकर उनके माल और उत्पादन हड़प रहे हैं और किसानों आदि को मार–पीटकर तथा उनका दमन करके अपनी एक रुपये की चीज पांच रुपये में बेच रहे हैं।"

ऐसी परिस्थिति में भारतीय कारीगरों के लिए काम करना असंभव हो गया। भारतीय माल खरीदने और भारत में कंपनी की पूंजी लगाने का तरीका ऐसा रखा गया कि हर बार गरीब बुनकर या कारीगर के साथ धोखा होता था। इसलिए शीघ्र ही भारत में हस्तशिल्प, कुटीर उद्योगों का पतन हो गया।

दूसरी ओर ब्रिटिश सरकार ने भारत में रेलों का निर्माण इस उद्देश्य से किया कि भारत ब्रिटेन के उद्योगों को कच्चे माल और बाजार संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। 19वीं सदी में भारत में रेलों का जाल बिछ गया। इससे ग्रामीण हस्तशिल्पियों के पारंपरिक ग्रामीण समुदाय के साथ संबंध शिथिल हो गये। सस्ते यूरोपीय सूती कपड़े और बर्तनों के अत्यधिक आयात से ग्रामीण हस्तकला उद्योग नष्ट हो गये।

इस इकाई में पारंपरिक हस्तकला और वि–औद्योगीकरण की स्थिति, भारतीय बाजार का एकीकरण, कृषि व्यवसायीकरण, किसान और ब्रिटिश नीतियों से प्रभावित अर्थव्यवस्था को विस्तार से समझाया गया है।

3.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- पारंपरिक हस्तकला उद्योग और वि–औद्योगीकरण की स्थिति को जान पाएंगे;
- कारीगर और हस्तशिल्प उत्पादों की पृष्ठभूमि को समझ पाएंगे;
- औद्योगिक पूंजीवाद और ब्रिटिश वस्त्र और सूत के आयात का विवेचन कर पाएंगे;
- रेलवे और भारतीय अर्थव्यवस्था का विश्लेषण कर पाएंगे;
- भारतीय बाजारों का एकीकरण एवं पराभव का वर्णन कर पाएंगे;
- कृषि उत्पादन और कच्चे माल के निर्यात पर व्यवसायीकरण के प्रभाव की समीक्षा कर पाएंगे;
- किसान और ब्रिटिश नीतियों की राष्ट्रवादी समीक्षा कर पाएंगे।

टिप्पणी

3.2 पारंपरिक हस्तकला उद्योग और वि–औद्योगीकरण की स्थिति

17वीं व 18वीं शताब्दी के मानकों के अनुसार, "भारत में यूरोपीय लोगों के आगमन से पहले, भारत दुनिया की औद्योगिकशाला" था। इसके अलावा, भारत की पारंपरिक ग्राम अर्थव्यवस्था की विशेषता थी– "कृषि और हस्तशिल्प का सम्मिश्रण" लेकिन गांव की अर्थव्यवस्था के इस आंतरिक संतुलन को ब्रिटिश सरकार ने व्यवस्थित रूप से मार डाला था। इस प्रक्रिया में, पारंपरिक हस्तकला उद्योग अपने पूर्व–अस्तित्व से दूर हो गये थे और इसकी गिरावट 18वीं सदी के मोड़ पर शुरू हुई और 19वीं शताब्दी की शुरूआत में लगभग तेजी से आगे बढ़ी। इस प्रक्रिया को 'डि–इंडस्ट्रियलाइजेशन' के रूप में जाना जाता है– यह औद्योगीकरण के विपरीत शब्द है। 'डि–इंडस्ट्रियलाइजेशन' शब्द का उपयोग 1940 से आरंभ हुआ। इस शब्द का अर्थ है, "किसी देश की औद्योगिक क्षमता में कमी या विनाश"। यह शब्द भारत में 19वीं शताब्दी के दौरान ब्रिटिश निर्मित उत्पादों से प्रतिस्पर्धा द्वारा भारतीय हस्तशिल्प उद्योगों के विनाश की प्रक्रिया का वर्णन करने के लिए प्रमुखता से प्रयुक्त हुआ था।

भारत में परंपरागत हस्तशिल्प उद्योग का ह्रास इसलिए नहीं हुआ कि यहां औद्योगीकरण या औद्योगिक क्रांति हुई, बल्कि यह ह्रास अंग्रेजी माल के भारतीय बाजारों में भर जाने से हुआ क्योंकि भारतीय हस्तशिल्प, अंग्रेजों के सस्ते माल का मुकाबला नहीं कर सका। हालांकि इस अवधि में यूरोप के अन्य देशों के परंपरागत हस्तशिल्प उद्योग में भी गिरावट आयी पर इसका कारण वहां कारखानों का विकसित होना था। यह वह समय था जब एक ओर भारतीय हस्तशिल्प उद्योग तेजी से पतन की ओर अग्रसर था वहीं दूसरी ओर इस काल में इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति तेजी से अपने पैर जमा रही थी। इस समय भारतीय शिल्पकार एवं दस्तकार पर्याप्त संरक्षण के अभाव में विषम परिस्थितियों के दौर से गुजर रहे थे, वहीं नये पाश्चात्य अनुप्रयोगों तथा तकनीकी ने उनके संकट को और गंभीर बना दिया।

हस्तशिल्प उद्योग का आशय ऐसे शिल्प से है जो कारीगरों के हाथ के हुनर पर आधारित होता है। यह एक व्यक्ति की कलात्मक प्रतिभा का परिचायक होता है। भारत में अंग्रेजों के आने के पहले नगर तथा ग्रामीण स्तर पर हस्तशिल्प उद्योग की एक समृद्ध परंपरा विद्यमान थी, जिसकी मांग यूरोपीय देशों में भी अधिक थी, लेकिन यह परंपरा ब्रिटिश सरकार की स्थापना की प्रक्रिया में धीरे–धीरे लुप्त हो गई। ब्रिटेन में होने वाली औद्योगिक क्रांति ने भारतीय परंपरागत हस्तशिल्प उद्योग को गहरी चोट पहुंचायी, क्योंकि इस क्रांति के बाद ब्रिटिश उद्योगों के लिए भारत से कच्चे माल का निर्यात होने लगा और ब्रिटेन में निर्मित वस्तुओं के लिए भारत को एक बाजार के रूप में प्रयोग किया जाने लगा। जो कि भारतीय हस्तशिल्प उद्योगों के विकास के लिए सकारात्मक नहीं था। ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति के क्रम में एक सशक्त मध्यम वर्ग उभरकर आया और इसी मध्यम वर्ग के दबाव में भारत में 1813 के अधिनियम के माध्यम से मुक्त बाजार भी लागू किया गया, जब भारतीय परंपरागत हस्तशिल्प उद्योग अपना दम तोड़ रहा था।

औद्योगीकरण राष्ट्रीय आय के अनुपात में एक सापेक्ष बदलाव के साथ–साथ कृषि से दूर कार्यबल से जुड़ा हुआ है। दूसरे शब्दों में, औद्योगीकरण की प्रगति के साथ,

टिप्पणी

आय के अनुपात और कृषि पर निर्भर जनसंख्या के प्रतिशत में गिरावट होनी चाहिए। निर्मित वस्तुओं के वैश्विक उत्पादन के वितरण का अनुमान लगाते हुए पी. बैरोक ने निष्कर्ष निकाला कि दुनिया में विनिर्माण उत्पादन में भारत का हिस्सा 1800 में 9.7 प्रति व्यक्ति आय, 60 वर्षों बाद प्रतिव्यक्ति आय 0.6 और 1913 में 1.4 प्रतिव्यक्ति आय थी। विश्व उत्पादन में औद्योगिक उत्पादन की घटती हिस्सेदारी को प्रति व्यक्ति विनिर्माण उत्पादन में निरपेक्ष गिरावट के लिए जिम्मेदार ठहराया जा सकता है।

डैनियल थार्न ने वि–औद्योगीकरण को द्वितीय उद्योग में काम करने वाली आबादी के अनुपात में गिरावट के रूप में परिभाषित किया है, जो कुल आबादी का काम कर रही थी, लेकिन भारत में काफी विपरीत नियम काम करते थे और आर.सी. दत्त और एम.जी. रानाडे जैसे राष्ट्रवादी अर्थशास्त्रियों ने इसे डी–औद्योगीकरण की प्रक्रिया के रूप में चिन्हित किया क्योंकि आबादी का बड़ा हिस्सा उद्योग के बजाय कृषि को अजीविका के साधन के रूप में अपनाने लगे।

3.2.1 कारीगर और हस्तशिल्प उत्पादों की पृष्ठभूमि

हम इस बात से तो परिचित थे कि विदेशी शासकों की कोई भी नीति भारतीयों के उद्धार के लिए बिल्कुल भी नहीं थी। इसी प्रकार भारत के वि–औद्योगीकरण के पीछे विदेशी शासकों का दोहरा उद्देश्य था। वे चाहते थे कि जो कच्चा माल इंग्लैंड में तैयार हो रहा है, भारत उसका निर्यातक बने, और वे उन उद्योगों के उत्पादन के लिए भारत को ही एक विशाल बाजार भी बनाना चाहते थे। इस प्रकार उन उद्योगों के प्रसार के सहारे वे अपने देश के लिए अधिकतम लाभ चाहते थे। इसी कारण से भारत के हस्तशिल्प उद्योग का पतन होने लगा और परिणामस्वरूप चारों ओर बेरोजगारी फैल रही थी। ब्रिटिश शासकों ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया कि भारत के लोगों पर बेरोजगार के रूप में, मानवीय कष्टों या कृषि क्षेत्र पर क्या प्रभाव पड़ेगा। उन्होंने हस्तकला उद्योगों पर भारी दर से कर लगाये ताकि भारतीय वस्त्र ब्रिटेन में बने ऊनी या रेशमी वस्त्रों से अधिक महंगे हो जायें, उन्होंने कच्चे माल के निर्यात को तथा ब्रिटेन से उत्पादित माल के आयात को मुक्त रखा, परंतु भारतीय हस्तकला उद्योगों के माल के निर्यात पर भारी कर लगाया। इसके अतिरिक्त भारतीय हस्तशिल्प उद्योग को मशीनों से बने सामान से भी प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ा। इसने भारतीय हस्तशिल्प उद्योगों की बर्बादी में मुख्य भूमिका निभाई।

उद्योग, जिसने वि–औद्योगीकरण को सबसे अधिक अनुभव किया, वह सूती कपड़ा उद्योग था। यह कृषि के बाद सबसे बड़ा रोजगार प्रदाता था। 1800 से पहले भारत का कपास का माल दुनिया में सबसे अच्छा था। 1750 के बाद भारतीय उद्योगों को बहुत नुकसान हुआ। कपड़ा उद्योग में औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप भारत में ब्रिटिश आयातित कपास का व्यापक विकास हुआ और भारतीय बाजार में ब्रिटिश कपड़ों का वर्चस्व हुआ। अन्य प्रभावित उद्योग भी थे, जैसे– बंगाल के जूट हैंडलूम बुनाई, कश्मीर के गरम कपड़े, बंगाल का रेशम निर्माण, हाथ से बना कागज उद्योग, कांच उद्योग, लाख, चूड़ियां आदि। 18वीं शताब्दी के मध्य में ब्रिटेन ने 'औद्योगीकरण' का अनुभव किया और भारत ने 'वि–औद्योगीकरण' का अनुभव किया। भारत के वि–औद्योगीकरण की प्रक्रिया भारत के निर्यात की सूची से कपास के क्रमिक रूप से गायब होने के साथ शुरू हुई और कपास की उल्लेखनीय वृद्धि मुख्य रूप से ब्रिटेन से

आयात की सूची में हुई। इसलिए कहा जाता है कि 'कॉटन के साथ कपास की भी देश (ब्रिटेन में) में बाढ़ आ गयी', जिससे भारत के पारंपरिक हस्तशिल्प उद्योगों पर ग्रहण लग गया।

टिप्पणी

वि–औद्योगीकरण के कारण निम्नलिखित है–

1. इन हस्तशिल्पों के उत्पादनों की मांग का पूरा स्रोत शाही अदालतों और शहरी अभिजात वर्ग से आता था। शाही अदालतों के उन्मूलन के साथ, इन शिल्पों के उत्पादों की मांग का मुख्य स्रोत सूख गया। ब्रिटिश शासन ने क्रमिक विस्तार और पूरे भारत में शाही शक्ति में गिरावट के काथ, कारीगरों ने धीरे–धीरे अपने काम बंद कर दिए।
2. ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन कई कारणों से भारत में दस्तकारी उद्योग के लिए घातक सिद्ध हुआ।
3. देशी राज्यों के उत्तराधिकारी इन उद्योगों को प्रोत्साहन दे सकते थे, किंतु विदेशी शक्ति के नियंत्रण और निर्देशन के अधीन होने के कारण उन्होंने ब्रिटिश शासन के दबाव में आकर ऐसे कार्य किए जो भारत के उत्पादन हितों के लिए घातक सिद्ध हुए।
4. एक व्यापारिक कंपनी होने के नाते ईस्ट इंडिया कंपनी सस्ते मूल्यों पर माल का उत्पादन कर दूसरे बाजारों में इन्हें लाभकारी मूल्यों पर बेचना चाहती थी। इंग्लैंड ने अपने उत्पादों को सस्ता रखने के लिए भारतीय माल पर भारी कर लगाये।
5. कंपनी ने दस्तकारों को अपने द्वारा उत्पादित माल को भारतीय या विदेशी व्यापारियों को ऊंची वाजिब कीमतों पर बेचने से रोका। इस प्रकार भारतीय दस्तकारों की स्थिति कंपनी के गुलामों की भांति हो गई।
6. कंपनी ने भारत में सीमाशुल्क और पारगमन चुंगियों की ऐसी व्यवस्था लागू की, जिसने भारतीय व्यापारियों के लिए प्रतिकूल परिस्थितियां उत्पन्न कीं, जिसके कारण भारतीय व्यापारी स्वतंत्रतापूर्वक और प्रभावशाली ढंग से आंतरिक व्यापार नहीं कर सके। आंतरिक व्यापार में रुकावटों से भारतीय दस्तकारी बाजार पंगु हो गया।
7. चार्टर 1813 के द्वारा इंग्लैंड के लिए भारत में मुक्त व्यापार के द्वार खोल दिए गए, ब्रिटिश व्यापारी वर्ग भारत में निर्मित माल खरीदने के लिए नहीं बल्कि इंग्लैंड की मिलों में उत्पादित माल के लिए भारत में बाजार खोलने आये थे तथा उन मिलों के लिए कच्चा माल प्राप्त करने के लिए आये थे।
8. 1814 ई. से ईस्ट इंडिया कंपनी जो अब तक इंग्लैंड के औद्योगिक वर्ग की राजनीतिक तंत्र बन गई थी, की नीति ऐसे उपाय करना था, जिनसे ब्रिटेन में उत्पादित माल का भारत में आयात करना और ब्रिटिश उद्योगों द्वारा खरीदे गये भारत के कच्चे माल का ब्रिटेन को निर्यात करना आसान हो सके।
9. अन्य मुख्य कारण था भारत में शासन की स्थापना के फलस्वरूप उदित हुए नव–धनाड्य भारतीय वर्ग का दृष्टिकोण एवं जीवन शैली थी। नगरों में बसे हुए इन 'नवीन धनाड्य वर्ग' का 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उदय हुआ जो यूरोपीय फैशन का अनुकरण करते थे, इस दृष्टिकोण का भारतीय हस्तकला उद्योग पर दुष्प्रभाव पड़ा।

टिप्पणी

इस प्रकार 19वीं शताब्दी के मध्य तक भारतीय दस्तकारी उद्योग पूर्णतः नष्ट हो गये। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रेलवे व्यवस्था के विकास के परिणामस्वरूप ब्रिटिश उत्पादित माल देश के कोने–कोने में पहुंचने लगा और भारतीय बाजारों में ब्रिटिश माल का स्थायी अधिपत्य स्थापित हो गया था।

हस्तशिल्प उत्पाद

प्रमुख हस्तशिल्प उत्पादों एवं उनकी व्यापारिक अवस्थिति को इस प्रकार समझा जा सकता है–

1. सूती वस्त्र उद्योग – सूती वस्त्र उत्पाद के लिए कहा जाता है कि 1846 ई. में डॉ. टेलर ने एक नमूने का परीक्षण किया, जिसके एक पौंड धागे की लंबाई 250 मील तक की थी। यह तार वर्तमान स्तर पर 5245 काउंट का होता है। यह एक कारीगरी थी, जिसे नवीन युग की मशीनें कर दिखाने में अभी तक असफल रही हैं, हालांकि विशेषज्ञता की यह स्थिति तो पूर्णतया नष्ट हो चुकी है। व्यापार के पुराने केंद्रों जैसे–सूरत, हुगली का पतन हो चुका था और व्यापार के नये केंद्र (कलकत्ता और मद्रास) का उदय हुआ।

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत से कपड़ों के निर्यात में कमी आने लगी। 1811–12 में भारत से होने वाले निर्यात में सूती कपड़े की हिस्सेदारी 33 प्रतिशत थी जो 1850–51 में आते–आते मात्र 3 प्रतिशत रह गई। ब्रिटेन के निर्माताओं के दबाव के कारण सरकार ने ब्रिटेन में भारतीय कपड़े के आयात पर इम्पोर्ट ड्यूटी लगा दी ताकि इंग्लैंड में सिर्फ वहां बनने वाली वस्तुएं ही बिकें।

ईस्ट इंडिया कंपनी पर इस बात के लिए भी दबाव डाला गया कि वह ब्रिटेन में बनी चीजों को भारत के बाजारों में बेचे। 18वीं सदी के अंत तक भारत में सूती कपड़ों का आयात न के बराबर था, लेकिन 1850 के आते–आते कुल आयात में 31 प्रतिशत हिस्सा सूती कपड़ों का था। कालांतर में हिस्सेदारी बढ़कर 70 प्रतिशत हो गयी थी।

भारत में हाथ से बने सूती कपड़े की तुलना में मैनचेस्टर की मशीन से बुने हुए कपड़े अधिक सस्ते थे। इसलिए बुनकरों का मार्केट शेयर गिर गया। 1850 में सूती कपड़ों के अधिकांश केंद्रों में भारी गिरावट आयी। 1860 के दशक में संयुक्त राज्य अमेरिका में गृहयुद्ध शुरू हो चुका था, इसलिए वहां से ब्रिटेन को मिलने वाले कपास की सप्लाई बंद हो गयी थी, परिणामस्वरूप ब्रिटेन को भारत की ओर मुंह करना पड़ा। अब भारत से कपास ब्रिटेन को निर्यात होने लगा। इससे भारत के बुनकरों के लिए कच्चे कपास की भारी कमी हो गयी।

19वीं सदी के अंत तक भारत में सूती कपड़ों के कारखाने खुलने लगे। भारत के पारंपरिक सूती कपड़ा उद्योग के लिए यह किसी आखिरी आघात से कम नहीं था।

2. रेशम उद्योग – भारत निर्मित रेशमी वस्त्र की विदेशी बाजारों में बहुत मांग थी, किंतु जिन कारणों ने हैंडलूम के सूती उद्योग को प्रभावित किया था, उन्होंने भारतीय रेशम उद्योग को भी क्षति पहुंचाई। बनावटी रेशम का आविर्भाव उसके कफन में एक और कील साबित हुआ। फलतः भारतीय रेशम उद्योग की स्थिति ईर्ष्या रहित हो गई। भारतीय रेशम घरेलू बाजार तक में हीन दृष्टि से देखा जाता था। इसके निर्माण की रीति इतनी खराब थी कि घरेलू जुलाहा भी चीन और जापान की रीति को उपयोग में लाना बेहतर समझता था। भारतीय रेशम भद्दे रूप में निर्यात किया जाता था, ताकि

टिप्पणी

रीलिंग (तह करना और पॉलिश करना) विदेश में किया जा सके। इस उद्योग के महत्वपूर्ण केंद्र कश्मीर, मैसूर और बंगाल थे। रेशम बुनने के लिए निम्न नगरों के नाम उल्लेखनीय थे–मुर्शिदाबाद, तंजोर, बनारस, सूरत, अमृतसर और मदुरा।

3. ऊनी उद्योग – ऊन की बनी हुई वस्तुएं, शाल, कालीन, कम्बल, पट्टू और पश्मीने है, एक समय था जबकि ऊन उद्योग की ये सब शाखायें बहुत उन्नत थी, किंतु नवीन समय के वातावरणों के कारण यह उद्योग निरंतर फलता–फूलता न रह सका।

कोई समय था जब कश्मीर के शॉल बहुत मशहूर थे और उनसे भारी भरकम कीमत वसूल होती थी। भारतीय नवाबों एवं राजाओं की ब्रिटिश सेना के हाथों हुई हार से भयंकर संकुचन हुआ, घरेलू मांग का तो लगभग सफाया ही हो गया। 1871 में फ्रांस और प्रशिया के युद्ध ने यूरोपीय मांगों को कम कर दिया और अब इंग्लैंड में शॉलों के निर्माण ने भारतीय रेशम उद्योग की स्थिति को और भी क्षीण कर दिया।

4. कालीन उद्योग – कालीन उद्योग ने मुगल बादशाहों के संरक्षण में उन्नति की, किंतु इसकी भी मुगल राज्य जैसी ही दशा हुई। औद्योगीकरण के साथ विदेशी बाजारों में रासायनिक रंगों और भड़कीले डिजाइनों के कारण भारतीय कालीन उद्योगों में से कला और सजीवता का लोप हो गया। फलस्वरूप घरेलू दस्तकारी के रूप में कालीन उद्योग क्रियात्मक रूप से मर चुका था।

5. हाथ से बने कागज का उद्योग – भारतीयों में हाथ के बने कागज की कला का सदियों से चलन है। भारत में प्राचीनतम कागज पर जो पांडुलिपि मिली है, वह 13वीं सदी के प्रथम चतुर्थांश की है। कश्मीर, कोशूर कागज के लिए विख्यात है। अहमदाबाद में भी कागज बनाने का व्यापार फलता–फूलता था और 1848 में 800 श्रमिक नित्य कागज बनाने में नियोजित किये जाते थे।

वि–औद्योगीकरण में कारीगरों का पतन

भारत में ब्रिटिश शासन से पूर्व ग्रामीण उद्योग, संतुलित और आत्मनिर्भर ग्रामीण अर्थव्यवस्था के अभिन्न अंग थे। भारतीय ग्राम अपनी औद्योगिक आवश्यकताओं को स्थानीय रूप से पूरा करने में सक्षम थे।

ग्रामीण आर्थिक संबंधों की सबसे विचित्र विशेषता यह थी कि ग्रामीण कारीगरों की स्थिति ग्रामीण समुदाय के नौकरों की भांति थी। ग्रामीण समुदाय उन्हें गांव की जमीन का एक हिस्सा तथा वार्षिक कृषि उत्पादन का एक भाग देता था। इस प्रकार ग्रामीण समुदाय एवं ग्रामीण कारीगरों तथा दस्तकारों के मध्य मुक्त उत्पादकों जैसे संबंध थे, जो अपने उत्पादों एवं सेवाओं का आपस में विनिमय या आदान–प्रदान करते रहते थे। ग्राम लगभग आत्मनिर्भर इकाई थे इसलिए किसी भी प्रकार की बाहरी प्रतिद्वंद्विता नहीं थी। चूंकि खेती अलाभकारी हो गयी थी और कृषि अधिशेष बहुत कम अथवा बिल्कुल ही नहीं होता था अतः कृषक वर्ग ग्रामीण कारीगरों की कोई सहायता नहीं कर सकता था। गरीबी और बाजारों में उद्योग उत्पादित आयातित माल की बाढ़ आ जाने के कारण ग्रामीण दस्तकारों एवं कारीगरों द्वारा उत्पादित माल की मांग में गिरावट आई। अकाल से भी ग्रामीण दस्तकारी उद्योग का पतन हुआ। अकाल के दौरान गरीब कारीगर, विशेषकर बुनकर, दूसरे कार्य करके जीविकोपार्जन करने के लिए बाध्य हो जाते थे।

टिप्पणी

कारीगरों की स्थिति में परिवर्तन आने का दूसरा कारण यह था कि अब उनकी स्थिति कामगारों जैसी हो गयी थी। उदाहरण के तौर पर पहले ग्रामीण बुनकर ग्रामीण लोगों की आवश्यकताएं पूरी करते थे। नई परिस्थितियों में बुनकर को स्थानीय अथवा सुदूर बाजारों में प्रतिस्पर्द्धा के लिए अपने पास उपलब्ध धन की अपेक्षा अधिक पूंजी की जरूरत होती थी। इसके फलस्वरूप बुनकर तेजी से व्यापारियों के चंगुल में फंस गये। अनेक ग्रामीण कारीगरों ने अपने परंपरागत व्यवसाय छोड़ दिये और वे शहरों की ओर चले गये। ये कारीगर नगरों या कस्बों में या तो मजदूर बन गये अथवा मामूली मजदूरी पर भूमिहीन मजदूर बन गये।

19वीं शताब्दी के मध्य तक भारतीय दस्तकारी उद्योग लगभग पूर्णतः विनष्ट हो गये। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत में रेलवे व्यवस्था के विकास के परिणामस्वरूप ब्रिटिश उत्पादित माल देश के कोने–कोने में पहुंचने लगा जिसके द्वारा भारतीय बाजारों में ब्रिटिश माल का स्थायी अधिपत्य स्थापित हो गया। सदियों से विद्यमान तथा समृद्ध सुसंगठित दस्तकारी उद्योगों, जिन्होंने संपूर्ण विश्व में भारत की ख्याति फैलाई और अन्य देशों में प्रशंसा और ईर्ष्या का पात्र रहे, का करुण अंत हो गया।

वृद्ध दस्तकारों की संतानें रोजगार का और कोई साधन न मिलने के कारण अपने पुराने व्यवसायों में लग गये और छोटे पूंजीपतियों के कारखानों में सामान्यतः भयंकर स्थिति में कार्य करते हुए अपना जीवनयापन करने लगे। 1880 तक हस्तकला उद्योग लगभग पूरी तरह समाप्त हो गया।

डी.आर. गाडगिल– "80 के दशक में भारत जैसे विशाल देश की यह दयनीय स्थिति थी कि हस्तकला उद्योग का पतन हो रहा था तथा दूसरे अन्य कोई संगठित उद्योग अस्तित्व में नहीं थे, अतः जनसंख्या को कृषि पर अधिकाधिक आश्रित रहना पड़ा।"

ब्रिटेन की सामान्य आर्थिक नीतियों ने भारत की प्राचीन हस्तकला उद्योग का विनाश करते समय भारत में आधुनिक उद्योगों के मुक्त विकास में इस आशंका से कोई मदद नहीं की, कि कहीं ये उद्योग ब्रिटिश उद्योगों के लिए खतरा न बन जायें।

कार्ल मार्क्स ने ठीक ही कहा है कि "ब्रिटिश घुसपैठियों ने भारतीय हथकरघा उद्योग को नष्ट कर दिया तथा हथकरघों का विनाश कर दिया और सूती वस्त्रों के जन्मदाता देश में ही सूती वस्त्रों की भरमार भर दी।"

हस्तकला उद्योग के नष्ट हो जाने से बड़े पैमाने पर बेरोजगारी फैल गयी। उद्योग और कृषि के बीच संतुलन समाप्त हो गया और भारत की आर्थिक स्थिति बहुत खराब हो गयी।

3.2.2 औद्योगिक पूंजीवाद और ब्रिटिश वस्त्र एवं सूत का आयात

उपनिवेशवाद एक विस्तारवादी अवधारणा है, जिसके तहत किसी देश का आर्थिक शोषण एवं उत्पीड़न होता है। इसके तहत एक राष्ट्र द्वारा किसी अन्य राष्ट्र की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक संरचना पर नियंत्रण किया जाता है। नियंत्रण करने वाला देश मातृ देश कहलाता है। इस तरह उपनिवेश के अंदर बनाई गयी नीतियों का मुख्य लक्ष्य मातृ देश को लाभ पहुंचाना होता है, इस दृष्टि से ब्रिटेन ने अपने भारतीय उपनिवेश से आर्थिक लाभ प्राप्त करने के लिए समय–समय पर विभिन्न नीतियां अपनाईं।

18वीं और 19वीं शताब्दी में यूरोप में आधुनिक राजनीति के कई पक्ष आर्थिक जीवन के रूपांतरण से जुड़े हैं। औद्योगिक पूंजीवाद का विकास इस युग की महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। इसका सीधा संबंध यूरोप में हुई औद्योगिक क्रांति से था। औद्योगिक क्रांति की अवधारणा का तात्पर्य मूलतः खास प्रौद्योगिकी और आर्थिक परिवर्तन के साथ–साथ सामाजिक क्षेत्र में आने वाले बदलाव से है। इसकी मुख्य विशेषता इस प्रकार से है– (i) कारखानों में उत्पादन का संकेंद्रण और मशीनीकरण (ii) घरेलू और विदेशी बाजारों की प्रकृति और दोहन में महत्वपूर्ण परिवर्तन (iii) जीवनयापन के लिए कृषि पर निर्भरता की समाप्ति।

यह औद्योगिक क्रांति का पहला चरण था जिसमें आर्थिक और सामाजिक जीवन पर औद्योगिक पूंजीवाद का वर्चस्व था। औद्योगिक पूंजीवाद में, उत्पादन के उद्योगों में पूंजी निवेशित की जाती है, श्रम की अपेक्षा निवेश का महत्व ज्यादा होता है और निवेश के बदले में मुनाफे के रूप में ज्यादा से ज्यादा धन कमाने का प्रयत्न किया जाता है। यह पूंजीवाद की उस प्रक्रिया और आर्थिक गतिविधियों से जुड़ा हुआ था, जिसमें आर्थिक गतिविधि मुनाफे का पर्याय बन गयी थी। इसमें बड़ी मात्रा में भाड़े के मजदूरों को रखा जाना था।

भारत में औद्योगिक पूंजीवाद

उपनिवेशवाद का मूल सिद्धांत आर्थिक शोषण करना है। इसका तात्पर्य यह है कि उपनिवेशवाद के लिए राजनीतिक नियंत्रण रखना आवश्यक नहीं है, अपितु उपनिवेशवाद मूलरूप में ही आर्थिक शोषण के विभिन्न तरीकों में लक्षित होता है। आर.पी. दत्त ने अपनी ऐतिहासिक कृति 'इंडिया टुडे' में भारतीय उपनिवेश अर्थव्यवस्था का बेहतरीन विश्लेषण किया। उन्होंने भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद और आर्थिक शोषण संबंधी कार्ल मार्क्स के तीन चरण वाले सिद्धांत की विस्तार से व्याख्या की है। इंग्लैंड में औद्योगिक उन्नति से भारत ने अभिजात ब्रिटिश उपनिवेशवाद के दूसरे चरण में प्रवेश किया अर्थात औद्योगिक पूंजीवाद। भारत में औद्योगिक पूंजीवाद के इस चरण को 1813 से 1858 तक में रखा गया है।

इस काल में भारत को ब्रिटिश माल के आयात का मुक्त बाजार और भारत से इंग्लैंड को कच्चे माल के निर्यात का साधन बना दिया गया। इस शोषण की सीमा को इस बात से आंका जा सकता है कि भारत जो शताब्दियों तक विश्व को सूती कपड़ों का निर्यात करता रहा, वहीं 1850 तक ब्रिटिश सूती वस्त्रों का एक–चौथाई भाग आयात करने लगा।

1813 से कंपनी को भारत से व्यापार करने पर मनाही कर दी गयी और सन् 1833 में कंपनी की समस्त वाणिज्यिक गतिविधियों पर रोक लगा दी। इसके पश्चात् ब्रिटिश वाणिज्यिक औद्योगिक पूंजीवाद वर्ग द्वारा भारत का खुल्लमखुल्ला शोषण किया जाने लगा। वे भारत से कच्चा माल ले जाते और तैयार माल भारत में बेचने के लिए लाते थे। वे यहां से ब्रिटिश औद्योगिक श्रमिकों के लिए खाद्यान्न भी ले गये।

दूसरे अर्थों में यह भी कहा जा सकता है कि जो चार्टर 1813 में पास किया गया, उसके अनुसार भारत के व्यापार से कंपनी का एकाधिकार समाप्त हो गया तथा 1765 से 1785 के मध्य अनेक वैज्ञानिक आविष्कार हुए जैसे– कटाई की मशीन, स्टीम इंजन, पावर लूम, वाटर फ्रेम आदि। उद्योगों की स्थापना होने से जहां एक तरफ कच्चे माल

टिप्पणी

एवं खाद्यान्न की आवश्यकता महसूस हुई वहीं दूसरी ओर कारखाना निर्मित उत्पादों की बिक्री के लिए बड़े बाजार की आवश्यकता भी पड़ी, परिणामस्वरूप इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ब्रिटेन ने नई नीति लागू की। 1813 में मुक्त व्यापार की नीति लागू कर दी गयी। अब भारत कच्चे माल का निर्यातक और तैयार माल का आयातक बनकर रह गया। अब ब्रिटेन के कपड़ों को भारतीय बाजारों में बेचा जाने लगा। यह कपड़े मिलों में तैयार होते थे इसलिए हाथ से बने भारतीय कपड़ों से सस्ते होते थे, परिणामस्वरूप अंग्रेजी कपड़ों की सस्ती कीमतों के आगे भारतीय महंगे कपड़े टिक नहीं सके, इसलिए भारतीय कपड़ा उद्योग का पतन हो गया।

औद्योगिक पूंजीवाद से आधुनिकता की ओर

औद्योगिक क्रांति और औद्योगिक पूंजीवाद ने एक ऐसा माहौल बनाया जो उद्योगों के लिए सुसंगत था। सुसंगत का मतलब उत्पादन पर पूरी तरह से नियंत्रण स्थापित करना है। पहले यह ज्यादा महत्वपर्ण नहीं था। इससे पहले भाड़े के मजदूर रखने की प्रथा नहीं थी और एक जगह इकट्ठा होकर काम नहीं करते थे। इसलिए उस समय पूंजीपतियों के लिए कहीं एक स्थान पर अपने प्रभाव का इस्तेमाल करने का अवसर नहीं था।

इस प्रकार के परिवर्तन से उत्पादन लागत में कमी आयी और जैसे–जैसे उत्पादन बढ़ता गया उत्पादन की प्रत्येक इकाई का खर्च कम होता गया। अब प्राकृतिक शक्तियों पर निर्भरता कम हुई और पूरी उत्पाद प्रक्रिया के बाजार से जुड़ जाने के कारण लोगों पर सूखे या महामारी का प्रभाव कम हो गया। मांग और उत्पादन में हुए परिवर्तन के कारण पारिस्थितिकी संतुलन में भी मुख्य परिवर्तन हुए। संयुक्त राज्य अमेरिका और रूस में बड़े पैमाने पर जंगलों में कटाई की गई और जानवरों को मारा गया। आर्थिक गतिविधि व्यापारिक उतार–चढ़ाव से जुड़ गयी जिसकी प्रकृति निवेश और उपभोग के अनुसार बदलती रहती थी। औद्योगिक पूंजीवाद की विशेषताओं के साथ–साथ आधुनिकता का भी आगमन हुआ जो परंपरागत जीवन और आर्थिक जीवन से बिल्कुल अलग था।

यूरोपीय औद्योगिक पूंजीवाद : विकास से जुड़े मुद्दे

यूरोप में औद्योगिक पूंजीवाद के बढ़ते प्रभाव निम्नलिखित विकास से जुड़े हुए थे–

(i) 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इंग्लैंड में हुई औद्योगिक क्रांति के प्रभाव–

- जनसंख्या में तीव्र वृद्धि
- कृषि क्रांति
- नयी प्रौद्योगिकी का प्रयोग
- कुटीर उद्योगों का खात्मा, कारखानों में उत्पादन पर बल।

(ii) इंग्लैंड से 'सीख लेकर' 19वीं शताब्दी के दौरान फ्रांस और जर्मनी में उपर्युक्त वर्णित तरीकों से ही देशों में औद्योगिक परिवर्तन हुए। 19वीं शताब्दी के मध्य ही दोनों देशों में रेलवे का निर्माण, औद्योगिक पूंजी के विकास में निर्णायक सिद्ध हुआ।

टिप्पणी

(iii) 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्थापित औद्योगिक राष्ट्रों द्वारा रूस और हंगरी जैसे देशों में पूंजी निवेश के कारण औद्योगिक पूंजी का विकास हुआ।

(iv) 19वीं शताब्दी के अंत में इन सभी देशों के लिए उपनिवेशों और अल्प विकसित क्षेत्रों का बाजारों के रूप में महत्व बढ़ता गया।

भारत में कपड़ों का युग

मशीनी उद्योगों के युग से पहले अंतर्राष्ट्रीय कपड़ा बाजार में भारत में रेशमी और सूती उत्पादों का ही दबदबा था। बहुत सारे देशों में मोटा कपास पैदा होता था, लेकिन केवल भारत में पैदा होने वाला कपास महीन किस्म का था, फारसी और आर्मीनियन सौदागर पंजाब से अफगानिस्तान, पूर्वी फारस और मध्य एशिया के रास्ते यहां की चीजें लेकर जाते थे। यहां के बने महीन कपड़ों के थान ऊंटों की पीठ पर लादकर पश्चिमोत्तर सीमा से पहाड़ी दर्रों और रेगिस्तानों के पार ले जाये जाते थे। मुख्य और पूर्व औपनिवेशिक बंदरगाहों से फलता–फूलता समुद्री व्यापार चलता था।

गुजरात के तट पर स्थित सूरत बंदरगाह के जरिए खाड़ी और लाल सागर के बंदरगाहों से जुड़ा हुआ था। कोरोमंडल तट पर मछलीपट्टनम और बंगाल में हुगली के माध्यम से भी दक्षिण–पूर्वी एशियाई बंदरगाहों के साथ खूब व्यापार चलता था।

1750 के दशक तक भारतीय सौदागरों के नियंत्रण वाला यह नेटवर्क टूटने लगा। इसी समय यूरोपीय कंपनियों के बीच भारत में व्यापार पर एकाधिकार प्राप्त करने की होड़ लगी थी। उन्होंने स्थानीय दरबारों से कई तरह की रियायतें हासिल कीं और उसके बाद उन्होंने व्यापार पर इजारेदारी अधिकार प्राप्त कर लिया। इससे सूरत व हुगली दोनों पुराने बंदरगाह कमजोर पड़ गये। इन बंदरगाहों से होने वाले निर्यात में नाटकीय कमी आई। पहले जिस कर्जे से व्यापार चलता था वह खत्म होने लगा। धीरे–धीरे स्थानीय बैंकर दिवालिया हो गये। 17वीं सदी के आखिरी सालों में सूरत बंदरगाह से होने वाले व्यापार का कुल मूल्य 1.6 करोड़ रुपये था। 1740 के दशक तक यह गिरकर केवल 30 लाख रुपए रह गया था।

ब्रिटिश वस्त्र और सूत का आयात

1772 में ईस्ट इंडिया कंपनी के अफसर हेनरी पुतूलो ने कहा था कि "भारतीय कपड़े की मांग कभी कम नहीं हो सकती क्योंकि दुनिया के किसी और देश में इतना अच्छा माल नहीं बनता।" लेकिन भारत के कपड़ा निर्यात में गिरावट आने लगी जो लम्बे समय तक जारी रही। 1811 से 1812 तक कुल निर्यात में सूती माल का प्रतिशत 33 था। 1850–51 में यह मात्र 3 प्रतिशत रह गया था। इसका कारण था इंग्लैंड में कपास उद्योग का विकसित होना। जब इंग्लैंड में कपास उद्योग विकसित हुआ तो वहां के उद्योगपति दूसरे देशों से आने वाले आयात को लेकर परेशान दिखाई दिए, उन्होंने सरकार पर दबाव डाला कि वह आयतित कपड़े पर आयात शुल्क वसूल करे जिससे मैनचेस्टर के बने कपड़े बाहरी प्रतिस्पर्द्धा के बिना इंग्लैंड में आराम से बिक सके। उन्होंने ईस्ट इंडिया कंपनी पर भी दबाव डाला कि वह ब्रिटिश कपड़ों को भारतीय बाजारों में भी बेचे।

19वीं सदी की शुरुआत में ब्रिटेन के वस्त्र उत्पादकों के निर्यात में नाटकीय वृद्धि हुई। 18वीं सदी के आखिर में भारत के उत्पादकों का न के बराबर निर्यात होता था।

टिप्पणी

1850 तक आते–आते सूती वस्त्र का आयात भारतीय आयात में 31 प्रतिशत हो चुका था। 1870 तक यह आंकड़ा 50 प्रतिशत से ऊपर चला गया।

सेन्सर रिपोर्ट ऑफ सेंट्रल प्रोविंसेज में बुनकरों के कोष्टि के बारे में कहा गया था–

""भारत के अन्य भागों में महीन कपड़ा बनाने वाले बुनकरों की तरह कोष्टियों का भी बुरा समय चल रहा है। वे मैनचेस्टर से इतने भारी तादाद में आने वाली आकर्षक चीजों का मुकाबला नहीं कर पा रहे हैं। हाल के वर्षों में वे बड़ी संख्या में यहां से जाने लगे हैं।

3.2.3 वि–औद्योगीकरण विमर्श और क्षेत्रीय भिन्नताएं

वि–औद्योगीकरण से तात्पर्य किसी भी राष्ट्र की औद्योगिक क्षमता में गिरावट से है। किसी भी अर्थव्यवस्था में यह स्थिति तब आती है जब उद्योगों का अंशदान कम हो जाता है और गैर–औद्योगिक क्षेत्र का अंशदान बढ़ जाता है। दूसरे शब्दों में जब अर्थव्यवस्था में द्वितीयक क्षेत्र की भागीदारी कम हो जाती है और प्राथमिक क्षेत्र की भागीदारी बढ़ जाती है तो स्थिति वि–औद्योगीकरण की होती है। ब्रिटिश भारत काल में भारतीय अर्थव्यवस्था को भी एक ऐसी ही स्थिति से गुजरना पड़ा, जिसके लिए वि–औद्योगिक शब्द का प्रयोग किया गया।

औद्योगीकरण के लाभदायक परिणाम

यह सत्य है कि ब्रिटिश शासन ने भारत को एक कोने से दूसरे कोने तक अस्त–व्यस्त कर दिया। गरीब भूखों मर गए, अमीर और अमीर हो गए, नये उद्योग खोले गए। इसे दुनिया का आश्चर्य ही कहा जायेगा कि व्यापार करने के लिए आई एक व्यापारिक कंपनी भारत जैसे विशाल देश की शासक बन बैठी। शासक बन जाने के बाद भी कंपनी मुख्य रूप से व्यापारिक लाभ के दृष्टिकोण से ही काम करती रही। बाद में जब शासन कंपनी के हाथ से निकलकर ब्रिटिश सरकार के हाथों में आ गया तब भी यह व्यापारिक प्रवृत्ति बराबर बनी रही। इस प्रकार अंग्रेजी शासकों ने अपने आपको राजनीतिक शासन तक ही सीमित नहीं रखा बल्कि इस देश के सामाजिक सांस्कृतिक और अर्थव्यवस्था पर गहरे और गंभीर प्रभाव हुए। इनमें से कुछ प्रभाव हानिकारक हैं, जिनका उल्लेख हम आगे करेंगे, और कुछ परिणाम लाभदायक भी रहे जो निम्नलिखित हैं–

(i) अंग्रेजों के आगमन से पूर्व देश अनेक राजनीतिक इकाइयों में बंटा था और ब्रिटिश शासन के दौरान ही समूचा भारत एक राजनीतिक इकाई के रूप में उभरकर सामने आया।

(ii) एकीकृत सिविल कानून की स्थापना हुई। संपूर्ण देश में एक जैसी मुद्रा प्रणाली लागू की गयी और भारत आर्थिक एकीकरण की दिशा में आगे बढ़ा।

(iii) रेलों का निर्माण भले ही अंग्रेजों ने अपनी सुविधा के लिए किया था, किंतु इससे रोजगार की संभावना बढ़ी, साथ ही संचार सरल हो गया।

(iv) कारखाना प्रणाली के कारण उत्पादन और प्रबंधन की भी नई तकनीकी का विकास हो रहा था।

(v) जाति–प्रथा, छुआछूत, अंधविश्वास, दहेज प्रथा जैसी कुरीतियों का दमन भी इसी युग में हुआ।

टिप्पणी

औद्योगीकरण के हानिकारक परिणाम

(i) 1757 से 1766 तक आठ वर्षों की छोटी सी अवधि में ही अंग्रेजों ने 60 लाख पौंड की रकम वसूल कर ली थी। यह बंगाल के उस समय की सालाना लगान की राशि का चार गुणा थी।

(ii) 1717 में अंग्रेजों ने एक शाही फरमान प्राप्त करके बिना कर दिये भारत में एक स्थान से दूसरे स्थान पर व्यापार की आज्ञा प्राप्त की और इसी की आड़ लेकर अंग्रेज अफसर व्यक्तिगत व्यापार करते थे, और कर से छूट जाते थे, इसके विपरीत भारतीय व्यापारियों को कर देना होता था और वे व्यापार में पिछड़ जाते थे।

(iii) एक सामान्य भारतीय की आय इतनी भी नहीं थी कि वह अपने जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा कर सके।

(iv) ब्रिटिश शासन के दौरान भारत की जन्म दर और मृत्यु दर दोनों ही काफी ऊंची रही जो किसी भी अर्थव्यवस्था के पिछड़ेपन को दर्शाती है।

वि–औद्योगीकरण पर विभिन्न मत

राष्ट्रीय अर्थशास्त्रियों ने अंग्रेज अधिकारियों की रिपोर्ट, यात्रियों के वृत्तांत और सरकारी कमेटियों की जांच रिपोर्ट का आधार पर यह दिखाया कि 19वीं सदी तेजी से उद्योगों की अवनति हुई। चूंकि इस विश्लेषण में आंकड़ों का सहारा नहीं लिया जाता इसलिए यह कहना मुश्किल है कि भारत भर में देशी उद्योगों की कितनी अवनति हुई।

वि–औद्योगिकरण का विचार प्रथमतः दादा भाई नौरोजी ने 19वीं सदी के अंत में दिया था, जिसका समर्थन बाद में रमेशचंद्र दत्त जैसे विद्वानों ने किया। दत्त ने हालांकि देशी हस्तशिल्प उद्योगों के पतन के लिए इंग्लैंड के औद्योगिक उत्पादों के बढ़ते आयात को जिम्मेदार ठहराया। खासकर सूती कपड़े के आयात में तेजी से बढ़ोत्तरी हुई और इसके विपरीत भारतीय सूती कपड़े के निर्यात में तेजी से गिरावट आई।

वहीं साम्राज्यवादी इतिहासकारों जिनमें डी. थार्वट और माटिश डी–मार्टिन प्रमुख हैं, ने कहा है– भारत में उद्योगों का पतन अपरिहार्य था क्योंकि भारतीय उद्योग आधुनिकीकरण की कीमत चुका रहे थे। इस प्रकार ब्रिटिश शासन के अधीन भारत की अर्थव्यवस्था के रूपांतरण को लेकर ब्रिटिश राज आलोचकों और उसके प्रवक्ताओं के बीच बहस होती रही है।

भारतीय हस्तशिल्प उद्योग का विनाश ब्रिटिश आर्थिक नीतियों का स्वाभाविक परिणाम थी क्योंकि जब प्राक् प्रणाली पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली से जुड़ती है तो इस परिवर्तन के क्रम में उसका टूटना अनिवार्य है। उदाहरण के लिए इंग्लैंड व अन्य यूरोपीय देशों को भी इस प्रक्रिया से गुजरना पड़ा, लेकिन उन देशों की स्थिति भारत से भिन्न थी, वहां हस्तशिल्प के विनाश के साथ फैक्ट्री प्रणाली विकसित हुई। इस फैक्ट्री प्रणाली से उत्पादन हुए और लोगों को रोजगार मिला। रोजगार से आय व बचत दोनों लाभ हुए। इस प्रकार यूरोपीय देशों में हस्तशित्प के विनाश के साथ ही आधुनिक उद्योगों की स्थापना हुई जिससे इन देशों में समृद्धि आई।

टिप्पणी

लेकिन भारत की स्थिति इससे विपरीत थी। इसका वर्णन पहले अध्याय में किया जा चुका है। कार्ल मार्क्स से लेकर रमेशचंद्र दत्त तक सभी विद्वानों ने 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध और पूरी 19वीं शताब्दी के दौरान भारत में हुए वि–औद्योगीकरण और उसके फलस्वरूप हुए विनगरीकरण के पक्ष में काफी प्रमाण एकत्रित हैं। मार्क्स ने टिप्पणी की सूती वस्त्र के निर्यातक देश को सूती वस्त्र के आयातक देश में तब्दील कर दिया गया। वहीं दूसरी ओर ब्रिटिश पक्षधर इतिहासकार उसका खंडन करते हैं और कहते हैं कि यदि भारतीय लोगों को सस्ता ब्रिटिश वस्त्र उपलब्ध होगा तो वे इसे और अधिक उपयोग में ला सकेंगे। यदि दस्तकारों और शिल्पकारों को रोजगार नहीं मिलता है तो वे कृषि अर्थव्यवस्था से जुड़ सकते हैं, और वैश्विक अर्थव्यवस्था में अपनी भागीदारी निभा सकते हैं।

साम्राज्यवादी इतिहासकार मॉरीस यह नहीं मानते हैं कि भारतीय कुटीर उद्योग की गिरावट ब्रिटिश अर्थव्यवस्था की देन है, इसके कारण में वे कहते हैं कि भारत में राजनीतिक एकता व स्थिरता का अभाव था। भारतीय कृषि का ज्ञान निम्न स्तर का था, सिंचाई व संचार साधन विकसित नहीं थे। साथ ही मॉरीस का मानना है कि जनसंख्या में वृद्धि और खपत की आदतों में परिवर्तन के कारण मांग में काफी वृद्धि हो रही थी और भारत का बाजार इतना बड़ा था कि वह एक ही साथ भारतीय हस्तशिल्प उत्पादन एवं मैनचेस्टर व लंकाशायर के उत्पादन की खपत कर सकता था। अतः भारतीय बुनकरों को मैनचेस्टर या लंकाशायर के आयतित वस्त्रों ने बाजार से नहीं हटाया बल्कि वह अपनी अंतर्निहित कमजोरियों के कारण स्वयं बाजार से बाहर हो गये। प्रसिद्ध इतिहासकार सुमित सरकार ने मॉरीस सहित सभी साम्राज्यवादी इतिहासकारों के विचारों को अस्वीकार करते हुए कहा है कि उनका दिया गया तर्क संदिग्ध है क्योंकि उन्होंने अपने तर्कों के लिए कोई सांख्यिकीय आंकड़े नहीं दिये हैं। सुमित सरकार कहते हैं कि बुने हुए वस्त्रों की कीमत में गिरावट के कारण बुनकरों को कोई लाभ नहीं हुआ क्योंकि प्रौद्योगिकी के विकास में कमी के कारण भारतीय उत्पादन की लागत में कमी इंग्लैंड की तुलना में अपेक्षाकृत कम हुई। सूत की तुलना में ब्रिटिश कपड़ों की कीमतें भी ज्यादा कम हो गयी थीं। इस आधार पर लंकाशायर और मैनचेस्टर के उत्पादकों को कताई और बुनाई दोनों की लागत कम होने का लाभ प्राप्त हुआ और भारतीय बुनकरों को उन्नत प्रौद्योगिकी का लाभ नहीं मिला जिससे भारतीय वस्त्रों की उत्पादन लागत ब्रिटिश वस्त्रों की उत्पादन लागत से अपेक्षाकृत अधिक थी। यही कारण है कि वे आयातित वस्त्रों का मुकाबला नहीं कर सके।

प्रसिद्ध विद्वान विपिन चंद्र का मानना है कि मॉरीस का यह तर्क गलत है कि भारत में औद्योगीकरण की परिस्थितियां अस्तित्व में थी। औद्योगीकरण का ब्रिटिश मॉडल ब्रिटेन के लिए उपयुक्त था न कि भारत के लिए। वे कहते हैं कि रेलवे में जो भारी पूंजी निवेश किया गया और इस पूंजी निवेश द्वारा जिस रेलवे का विकास किया गया वह भारतीय जरूरतों के बजाय ब्रिटिश औपनिवेशिक हितों की जरूरतों के अनुरूप था। यद्यपि इस समय ब्रिटेन के पास विश्व की सबसे आधुनिक तकनीक थी लेकिन इन तकनीक का भारतीय उत्पादन प्रणाली में कोई योगदान नहीं था। कृषि वाणिज्यिकरण से जो लाभ मिला भी वह विदेश भेज दिया गया। भारत की बेहतर प्रशासनिक व्यवस्था भी ब्रिटिश औपनिवेशिक हितों के अनुरूप थी, न कि भारतीय हितों के।

डेनियल थार्नर का मत है कि 1881 से 1931 के बीच कृषि व्यवसाय में रोजगार पा रहे लोगों की संख्या और अनुपात में बढ़ोतरी हो रही थी, औद्योगिक क्षेत्र में रोजगार

का अनुपात सिकुड़ रहा था। लेकिन थार्नर इसे वि–औद्योगीकरण का सबूत नहीं मानते क्योंकि उनके अनुसार जनसंख्या के आंकड़ों में कमियां थी। डेनियर वि–औद्योगीकरण दर्शाने के बजाय एक जड़ व्यावसायिक ढांचे की तरफ संकेत करते हैं। नीचे दिए गए आंकड़े इस विश्लेषण को स्पष्ट करते हैं–

व्यावसायिक ढांचा (% में) जनगणना के आंकड़ों के आधार पर

	1881	1901	1931
	स्त्री / पुरुष	स्त्री / पुरुष	स्त्री / पुरुष
साधारण मजदूरी	9/15	6/9	4/8
उद्योग	16/24	11/12	9/9
व्यापार	2/1	5/5	6/5
परिवहन	8/3	10/6	9/8
कृषि	65/57	68/68	72/70

व्यावसायिक ढांचा (% में) थार्नर के हिसाब से

	1881	1901	1931
	स्त्री / पुरुष	स्त्री / पुरुष	स्त्री / पुरुष
कृषि + साधारण मजदूरी	9 + 65 = 74	68 + 6 = 74	72 + 4 = 76
उद्योग + व्यापार परिवहन	16 + 2 = 18	11 + 15 = 26	9 + 6 = 15

भारत में औद्योगीकरण के पक्ष में तर्क देते हुए राष्ट्रवादी इतिहासकारों विशेषकर दादाभाई नौरोजी एवं रमेशचंद्र दत्त ने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि ब्रिटिश काल में भारत में काफी तेजी से वि–औद्योगीकरण हो रहा था। उनके अनुसार 1881 से 1931 तक की जनगणना पर आधारित, जिसके अनुसार पुरुष कार्य शक्ति 65 प्रतिशत से बढ़कर 72 प्रतिशत हो गई जबकि औद्योगिक क्षेत्र में 16 प्रतिशत से घटकर 9 प्रतिशत हो गयी।

डेनियल थार्नर के अनुसार समस्त आंकड़े भ्रांतिपूर्ण है, जनगणना अधिकारियों ने सही आंकड़े एकत्र नहीं किए हैं।

अतः इस विषय पर प्राप्त प्रमाण कमजोर है कि 19वीं सदी में राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय बढ़ने से सूती कपड़ा के बाजार का आयतन बढ़ गया और देशी उद्योगों को कोई भी नुकसान नहीं हुआ। अगर कुछ शिल्पी, बुनकर अपने व्यवसाय कर रहे थे तो वह सिर्फ इसलिए क्योंकि जातिगत व्यवस्था के कारण या फिर उन्हें आजीविका और रोजगार को अन्य रास्ते प्राप्त नहीं थे।

3.2.4 उपनिवेशकाल के दौरान हस्तशिल्प उद्योग

अंग्रेज प्रारंभ में व्यापार के उद्देश्य से ही भारत आये थे। अपने व्यापारिक उद्देश्यों की पूर्ति करते–करते वे भारत की राजनीति में अपने हितों के लिए शामिल हुए और भारतीय नरेशों से व्यापार की अनुमति प्राप्त करना और अन्य यूरोपीय शक्तियों से प्रतिस्पर्द्धा

टिप्पणी

करना तथा कर मुक्त व्यापार करना इत्यादि में वे सफल भी रहे। भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना से पूर्व भी भारत का विदेशों के साथ व्यापारिक व वाणिज्यिक संबंध स्थापित था किंतु इससे भारत की आर्थिक स्थिति पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा था। 1757 ई. की प्लासी की लड़ाई के बाद और बंगाल पर अंग्रेजों की विजय के परिणामस्वरूप व्यावसायिक संबंध ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी की राजनीतिक शक्ति के अधीनस्थ अनुसेवी बन गये, जिसका परिणाम भारत के लिए बड़ा विनाशकारी था। 1707 ई. में औरंगजेब की मृत्यु से पहले ही यूरोपीय लोग अपने व्यापार के लिए विख्यात हो चुके थे। उसके बाद भी 1757 ई. से पूर्व भारत के आर्थिक संतुलन के लिए विदेशी व्यापारियों से कोई खतरा उपस्थित नहीं हुआ था, किंतु 1757 ई. में क्लाइव द्वारा प्लासी के युद्ध में विजय प्राप्त करने के परिणामस्वरूप न केवल भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव पड़ी बल्कि ईस्ट इंडिया कंपनी एक समृद्ध एवं उपजाऊ क्षेत्र की सर्वोच्च स्वामी बन गई जिसका शोषण करने में कंपनी ने कोई कसर नहीं छोड़ी। अतः ईस्ट इंडिया द्वारा भारत में किए गए इस आर्थिक शोषण से भारत के हस्तशिल्प का विनाश हुआ। कृषि और हस्तशिल्प भारत की बुनियाद व अर्थव्यवस्था की मजबूत कड़ी था जिसे अंग्रेजों ने अपने व्यापारिक व राजनीतिक हितों की पूर्ति हेतु समाप्त कर दिया।

ब्रिटिश अर्थव्यवस्था से पूर्व

भारत वर्ष अनादिकाल से अपनी सम्पन्नता के लिए संसार के प्रमुख देशों में से एक रहा है। यही कारण था कि भारत को अनेकों बार मध्य एशिया के बर्बर लुटेरों का सामना करना पड़ा, लेकिन इसके बाद भी इन आक्रमणों से भारत की आर्थिक स्थिति पर कोई गहरा प्रभाव नहीं पड़ा। 17वीं शताब्दी में भारत आये फ्रांसीसी यात्री बर्नियर ने कहा था, "भारत एक महान गढ़ है जिसमें संसार का अधिकांश सोना, चांदी चारों तरफ से आकर जमा होता है, जिसे बाहर जाने का रास्ता नहीं मिलता।" भारत का केवल कृषि में ही नहीं बल्कि उद्योग–धंधों व हस्तशिल्प की दृष्टि से भी विश्व के महत्वपूर्ण राष्ट्रों में भारत का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान था। यहां के घरेलू उद्योग में बनी वस्तुओं की विशेष कर कपड़े की संसार भर में भारी मांग थी। इतिहासकारों तथा पुरातत्ववेत्ताओं के अनुसार मिस्र में प्राप्त हजारों वर्ष प्राचीन ममियों पर लपेटा गया वस्त्र भारतीय मलमल है। इसी प्रकार महरौली का लौह स्तंभ भी भारतीय इस्पात उद्योग की श्रेष्ठता का ज्वलंत प्रमाण है। भारतीय व्यापारियों का व्यापार संसार के सभी देशों विशेषकर पूर्व एवं पश्चिम एशिया के साथ होता था।

17वीं शताब्दी में भारत विश्व–व्यापार का केंद्र था और विश्व की बहुमूल्य धातुओं का चुम्बक स्थान था। भारत के नगरों में बनी औद्योगिक वस्तुओं का निर्यात मिश्र, अरब, सीरिया, फारस आदि देशों से होते हुए यूनान, रोम, इंग्लैंड आदि यूरोपीय देशों में हुआ करता था। मुगलकाल में भारत आये यात्री टैवर्नियर के वर्णन से मुगलकालीन उद्योगों के विकास का पता चलता है। भारतीय सूती वस्त्रों की प्रशंसा करते हुए उसने लिखा है, "भारत में निर्मित वस्तुएं इतनी सुंदर होती हैं कि वे आपके हाथ में हैं, इसका पता ही नहीं चलता। ये अत्यंत कोमलता से काटे गये तागों से बुनी जाती हैं और एक पौंड रुई में 250 मील लम्बा धागा बुन जाता है।" इसी प्रकार से उस समय के ढाका की मलमल से बराबरी करने में विफल होने पर मैनचेस्टर के एक उद्योगपति ने कहा था कि "ढाका की मलमल वस्तु नहीं है, 'वस्तु की छाया है' (Shadow of Commodity) और वे मनुष्यों के नहीं वरन् परियों और कीड़े–मकौड़े के कार्य हैं।"

मध्यकाल में ढाका, लखनऊ, नागपुर, मथुरा, अहमदाबाद, सूती वस्त्र उद्योग के प्रमुख केंद्र थे। इसी प्रकार पंजाब एवं कश्मीर में ऊनी वस्त्र उद्योग उन्नत अवस्था में थे। भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा अर्थव्यवस्था के प्रति अपनायी गयी नीति का मूल उद्देश्य वही था, जो व्यापारिक पूंजी की इजारेदारी कंपनियों का होता था अर्थात् समुद्र पार किसी देश के माल और उत्पादनों के व्यापार पर एकाधिकार कायम करके मुनाफा कमाया। प्रारंभ में इनका मुख्य लक्ष्य ब्रिटिश माल के लिए बाजार तलाश करना नहीं था बल्कि उनका प्रयत्न भारत और पूर्वी द्वीप समूह 'ईस्ट इंडीज' के समान खासतौर पर मसाले और सूती तथा रेशमी सामानों की सप्लाई पर कब्जा करना था। ऐसा इसलिए था क्योंकि इंग्लैंड और यूरोप में इन चीजों की बड़ी मांग थी और हर बार पूरब के देशों की सफल यात्रा के बाद काफी धन कमाया जा सकता था।

भारतीय शिल्पकला व शिल्पकारों का पतन

1756 से लेकर 1857 ईस्ट इंडिया कंपनी के अंतर्गत उद्योग धंधों एवं कारीगरों के प्रति उनकी नीति को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है–

(i) कंपनी के एकाधिकार का युग (1757–1810)

(ii) वित्तीय साम्राज्यवाद का युग (1810–1860)

कंपनी के एकाधिकार के युग को वाणिक पूंजीवाद का युग भी कहा जाता है। इस अंतराल में कंपनी ने आर्थिक व राजनीतिक हथकंडों द्वारा एक चार्टर पास करके भारत के साथ व्यापार करने का एकाधिकार प्राप्त कर लिया। उस समय अन्य यूरोपीय व्यापारियों को सैनिक युद्धों द्वारा दबा दिया गया।

ईस्ट इंडिया कंपनी की इस नीति पर टिप्पणी करते हुए 'इंडिया एंड इम्पिरियलिज्म' पुस्तक के लेखक ने कहा है, "किसी भी देश के व्यापारियों तथा साहूकारों के समूह द्वारा राष्ट्रीय झंडे के नाम पर हथियार बंद व्यक्तियों तथा समुद्री जहाजों की सहायता से स्वतंत्र राज्यों की स्वतंत्रता पर एकाधिकार करने के प्रयास का यह एक अनूठा उदाहरण था।"

वाणिकवाद पूंजीवाद के इस अंतराल में कंपनी की नीति अत्यंत विनाशकारी सिद्ध हुई। इस नीति द्वारा कंपनी ने भारतीय शिल्प उद्योग को पूरी तरह से नष्ट कर दिया। बंगाल पर अधिकार करने के पश्चात् बंगाल के बुनकरों व शिल्पकारों द्वारा अपनी इच्छानुसार माल बनाना और उसकी वाजिब कीमत के अनुरूप दाम लेना तथा शांतिपूर्वक कार्य करना सब कुछ समाप्त हो गया। कंपनी ने शिल्पकारों को बाध्य किया कि वे केवल कंपनी के लिए ही माल बनाये। कंपनी द्वारा निर्मित माल का उचित मूल्य शिल्पकारों को नहीं दिया जाता था। इस सबके पीछे कंपनी का यह प्रयत्न बराबर जारी था कि देश का सारा व्यापार कंपनी के ही हाथों में आ जाये। एक अंग्रेज बोल्ट्स ने अपनी पुस्तक 'Considerations on Indian Affairs' जो प्लासी के युद्ध के केवल दस साल बाद प्रकाशित हुई थी, में वर्णित किया है, "इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए गरीब कारीगरों और मजदूरों के साथ इस तरह के अत्याचार और अन्याय किए गए हैं, जिनका अनुमान तक नहीं किया जा सकता। वास्तव में इन कारीगरों और मजदूरों के ऊपर कंपनी ने इस तरह अपना अनन्य अधिकार जमा रखा है कि मानो वे सब कंपनी के खरीदे हुए गुलाम हैं। गरीब जुलाहे को सताने के लिए असंख्य तरीके और देश के अंदर कंपनी के एजेंट और गुमाश्ते इन तरीकों का प्रतिदिन उपयोग करते थे। उदाहरण के लिए जुर्माना करना,

टिप्पणी

कैद करना, कोड़े मारना, जबरदस्ती इकरारनामा लिखवा देना इत्यादि। इन सबका परिणाम यह हुआ कि देश के अंदर कपड़ा बनाने वालों की संख्या बेहद कम हो गयी।"

इस प्रकार यातना से बचने के लिए जब ये बुनकर अपना कपड़ा दूसरों को बेचने का प्रयास करते थे तो उस पर अंग्रेज कंपनी का गुमाश्ता जुलाहे पर निगाह रखने के लिए सिपाही नियुक्त कर देता था और ज्यों ही थान (काम) पूरा होने लगता है, सिपाही जबरदस्ती करघे से थान काट कर निकाल लेते थे। गुमाश्तों के द्वारा इस तरह के अत्याचार सिराजुदौला के समय से अंग्रेज कंपनी की सत्ता बढ़ने के साथ–साथ शुरू हुए। कपड़ा बुनने वालों को इन्होंने इतना सताया कि शिल्पियों को मजबूरी में अपना पेशा छोड़ देना पड़ा। सिराजुदौला के समय में जंगलवाड़ी इलाके के आस–पास से कपड़ा बुनने वालों के 700 से ऊपर कुटुम्बों ने इस तरह के अत्याचार के कारण अपना पेशा और देश दोनों को छोड़ दिया। रेशम लपेटने का कार्य बिना अंगूठे के नहीं हो सकता था। यदि भारतीय जुलाहे, कंपनी के जबरदस्ती मढ़े गए कार्य को पूरा नहीं कर पाते थे ये तो कंपनी के अत्याचार से बचने के लिए स्वयं ही अपने अंगूठे काट लेते थे।

वित्तीय साम्राज्यवाद के इस युग में अर्थात 19वीं शताब्दी के आरंभ तक भारत से प्राप्त अपार पूंजी व नयी नवीन मशीनों के आविष्कार ने मिलकर ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति को जन्म दिया। मशीनों द्वारा कारखानों में बड़े पैमाने पर उत्पादन ने इंग्लैंड में पूंजीवाद में परिवर्तन ला दिया। औद्योगिक पूंजीकाल में उपनिवेशों के महत्व उद्योगपतियों के लिए इसलिए था कि वे विशाल कारखानों में माल को उपनिवेशों के बाजारों में बेचकर अधिक से अधिक लाभ कमा सकें तथा उपनिवेशों से अपने विशाल कारखानों के लिए सस्ती दरों पर कच्चा माल प्राप्त कर सकें। 1813 के चार्टर द्वारा भारत में व्यापार करने में कंपनी के एकाधिकार को समाप्त कर दिया गया।

1813 में पहली बार यह तय किया गया कि अब भारत के उद्योग धंधों को समाप्त किया जाये। 1813 का एक्त पास होने से पहले ही ब्रिटिश पार्लियामेंट की दो खास कमेटियां इस बात के लिए नियुक्त की गयी कि वे हिंदुस्तान से गये हुए सब बड़े–बड़े महत्वपूर्ण अंग्रेजों की गवाहियां जमा करके भारतीय उद्योग धंधों को समाप्त करने की नीति को सफल बनाने के लिए उपाय निकालें। ऐसा ही हुआ। कमेटी के सदस्यों ने कहा कि हिंदुस्तानियों को इंग्लैंड के बने हुए किसी भी माल की बिल्कुल आवश्यकता नहीं है और न ब्रिटेन का माल वहां आसानी से खपाया जा सकता है।

अतः अब उद्योग धंधों को समाप्त करने के लिए निम्नलिखित उपाय किए गए–

(i) ब्रिटेन के बने हुए माल को बिना कर के भारत में आने दिया जाये।

(ii) भारत से इंग्लैंड में जाने वाले सामानों पर प्रतीरक्षात्मक कर लगाया जाये। जिसके कारण ब्रिटेन में ब्रिटेन के सामान की अपेक्षा भारतीय कपड़ा सस्ते कीमत पर न बिक सके।

(iii) भारत के अंदर चुंगी के नियमों और चुंगी की दर में इस तरह परिपर्वन किया जाये जिनसे रुई इत्यादि कच्चे माल को ब्रिटेन भेजने में आसानी हो, जिससे भारतीय कारीगरों की लागत और भारतीय व्यापारियों की कठिनाइयां बढ़ जायें।

(iv) भारत का बाजार भारत के माल के लिए ही बंद हो जाए तथा ब्रिटेन में बने माल के लिए खुल जाये।

(v) माल लाने–जाने के लिए रेलों का निर्माण किया जाये।

(vi) भारतीय कारीगरों पर हर तरह का दबाव डालकर उनकी कारीगरी के रहस्यों का पता लगाया जाये, जैसे– थानों को धोना, रंगना इत्यादि।

टिप्पणी

इस प्रकार ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा इन सभी तथ्यों का कठोरता से पालन किया गया और भारतीय शिल्पियों का काम समाप्त होना सुनिश्चित हो गया।

उपरोक्त वर्णित तथ्यों ने भारतीय गृह उद्योगों को पूरी तरह से नष्ट कर दिया। इंग्लैंड में हाथ के करघे से काम करने वाले बुनकरों की तबाही के साथ–साथ नए मशीनी उद्योगों का विकास हुआ, लेकिन भारत में लाखों शिल्पियों, कारीगरी की बर्बादी के साथ विकल्प के रूप में किसी भी उद्योग का विकास नहीं हुआ।

3.2.5 हस्तशिल्प उद्योग में पूंजी और श्रम

कंपनी द्वारा पहले कृषि पर कुठाराघात और उसके पश्चात भारतीय शिल्प की समाप्ति सुनिश्चित की गई। इन सब कारणों से भारतीय बेरोजगार तो हो ही चुके थे; हालांकि औद्योगिक क्रांति के पश्चात भारत में अनेक मिल, कारखाने स्थापित हुए जहां मजदूरों की भर्ती की गयी फिर भी भारतीय जनता का जीवनयापन कष्ट भरा ही था। हस्तशिल्प कार्य तो पूरी तरह से नष्ट हो चुका था, अब कार्यों को मशीनों द्वारा किया जाने लगा। कृषि की प्रभुता और भूमि के प्रति स्नेह संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली की विद्यमानता और सफल औद्योगिक आचरण का अभाव– यह कुछ कारण हैं, जिन्होंने भारत में औद्योगिक श्रम के उत्कर्ष में बाधा उत्पन्न की। उपनिवेशों और खेती के लिए भारतीय श्रम की मांग ने कुछ श्रम समस्याओं को उत्पन्न जरूर किया किंतु यह प्रथम–विश्व युद्ध के बाद की बात है, जब भारतीय श्रम अपनी शक्ति और अपने अधिकारों के लिए सजग हुआ। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के प्रभाव ने भी इसी दिशा में उसे गतिशील किया।

लीग ऑफ नेशन्स भी यह स्वीकार कर चुकी थी कि भारतवर्ष संसार के आठ औद्योगिक राष्ट्रों में से एक है। अब सरकार और जनता दोनों ही राष्ट्रहित में, कुशल और संतुष्ट श्रम के महत्व को अनुभव करने लगे थे। अब हम उन कारणों पर प्रकाश डालेंगे जिससे यह पता चले कि भारतीय श्रमिकों को श्रम कम क्यों मिलता था। उससे पहले हम पूंजी के विषय में जानेंगे।

हस्तशिल्प की पूंजी

19वीं शताब्दी में भारत के शोषण के नये पैटर्न के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था की प्रकृति में बदलाव आया। गांव समुदाय की आत्मनिर्भरता को इसका घातक झटका मिला। कृषि और उद्योग का संघ विघटित हो गया। विश्व में औद्योगीकरण के चलन में नये उपनिवेशों की खोज हुई ताकि साम्राज्यवादी देश द्वारा कमजोर देश पर विशेष नियंत्रण किया जा सके। ब्रिटेन ने भारत को अपने सबसे महत्वपूर्ण उपनिवेश के रूप में रखा था। अपने अस्तित्व के लिए ब्रिटेन द्वारा भारत को लूटने और भारत से संबंधित विभिन्न विषयों जैसे– रेल, सड़क, डाक–प्रणाली, सिंचाई, यूरोपीय कारणों आदि पर संक्षिप्त चर्चा करेंगे।

अल्पयोग्यता के कारण

भारतीय कारीगरों की अयोग्यता के बहुत से कारणों को देखा जा सकता है, जो निम्नलिखित हैं–

टिप्पणी

1. कारीगर शहरों की ओर पलायन कर गये, वहां कारखानों की संख्या स्थायी थी, और भारतीय मजदूर अधिकांशतः ग्रामीण प्रवासी थे। भूमि पर अधिक दबाव, ग्रामीण हस्तकला उद्योगों का पतन और नगरों में अच्छे अवसरों के कारण लोग ग्रामों को छोड़ कारखानों में जाते थे। किंतु गांव से स्थायी रूप से संबंध विच्छेद नहीं करते थे, क्योंकि नगर का अजीब सा वातावरण, सफाई की अव्यवस्था, जीवन पर उच्च व्यय और रोजगार के अभाव का, यह प्रवासी रूप उनकी कार्यक्षमता को प्रभावित करता था।
2. स्वास्थ्य के संदर्भ में देखा जाये तो कारखानों में काम का बोझ अधिक होता था। अवकाश नहीं मिल पाता था, जो उनके स्वास्थ्य को प्रभावित करता था।
3. आवासीय प्रबंध, स्वास्थ्य इत्यादि आवश्यकताएं कम वेतन में पूरी नहीं हो पाती थीं। तुच्छ सी मिलने वाली रकम के बदले वह अपनी संपूर्ण शक्ति श्रम में नहीं लगाते थे।
4. गांव के खुले पर्यावरण में रहने से स्वास्थ्य अच्छा रहता है किंतु शहरों के छोटे तंग आवास, गंदगी, असंतुलित खुराक इत्यादि की समस्या उनको शहरों में टिकने नहीं देती थी।
5. भारतीय कारखानों में श्रमिकों द्वारा लिए जाने वाले अवकाश दिवसों की संख्या अधिक होती थी, यह देखा गया कि एक मजदूर एक महीने में औसतन 2.3 दिन का और वर्ष भर में 3.7 सप्ताहों का अवकाश ले लेता था। इसलिए वह ऋणी हो जाता था।

योग्यता को उन्नत करने के लिए आवश्यक था कि मजदूर सुधार के ठोस कार्यक्रम को अपनाया जाये। साधारण शिक्षा और टैक्सटाइल शिक्षा प्रदान करने से, उचित स्तरों पर बैंक प्रणाली और शिक्षा के एक सीमित क्षेत्र आदि में बड़े पैमाने पर निवेश करने का फैसला किया गया। ऐसा माना जाता है कि 'रेलवे निर्माण' ने भारत में ब्रिटिश पूंजी निवेश द्वारा नये औद्योगिक शोषण या अन्य शब्दों में कहें तो शोषण की नींव रखी।

हस्तशिल्प में पूंजी लगाना तो संभव था ही नहीं क्योंकि हस्तशिल्प का स्थान अब कारखानों ने ले लिया था। भारत में पूंजी के निर्यात की राशि नगण्य थी, बल्कि यह दुर्भाग्यपूर्ण था कि शुरू में, भारतीय लोगों से लूटी गयी पूंजी इस देश में निवेश की गयी थी क्योंकि ब्रिटिश पूंजी भारत में जुटाई गयी थी और आखिरकार सार्वजनिक ऋण जो वास्तव में धन जुटाने के लिए बड़ा धोखा था।

भारत कभी भी एक औद्योगिक देश नहीं था, भारत में अत्यधिक परिष्कृत हस्तशिल्प उद्योग थे। ब्रिटिश सरकार की नीति के कारण भारत में कुछ आधुनिक पूंजीवादी उद्योगों का विकास हुआ। ब्रिटिश सरकार ने स्वदेशी उद्योगों को नष्ट करके आधुनिक उद्योगों को प्रारंभ किया। औद्योगीकरण के फलस्वरूप दो महत्वपूर्ण सूचकांक सामने आए, जो थे– राष्ट्रीय आय में उद्योग की हिस्सेदारी और विनिर्माण में लगे कार्यबल का अनुपात। 1913 में उद्योगों ने राष्ट्रीय आय में 3.8 प्रतिशत का योगदान दिया।

भारतीय कारीगरों का श्रम

आधुनिक जीवन के अन्य क्षेत्रों की भांति उद्योगों में भी मानव अंश बहुत महत्वपूर्ण है। अत्यधिक सीमा तक औद्योगिक उन्नति औद्योगिक श्रम की योग्यता पर निर्भर करती

है। मशीन की प्रति इकाई में नियोजित संख्या को दृष्टि में रखकर भारतीय श्रम की सापेक्ष अयोग्यता को प्रकट करने के लिए कुछ लोगों ने प्रयत्न किए हैं। यह उल्लेख मिलता है कि जापान में एक कारीगर 240 तकुओं के काम–काज की देख–रेख कर सकता है और, इंग्लैंड में 540 से 600 तक अमेरिका में 1120 किंतु भारत में केवल 180। सर क्लीमैंट सिंपसन की परिगणना के अनुसार भारत में सूत की कताई और बुनाई की मिल के 2.66 मजदूर लंकाशायर के एक कारीगर के बराबर हैं। यह वास्तविकता थी कि भारतीय मजदूर जापानी या अंग्रेज मजदूरों की तुलना में कम योग्य थे। फलतः भारत में वेतन कम और श्रम महंगा है। कारीगरों की अल्पयोग्यता में सुधार हेतु उचित प्रशिक्षण कार्य के घंटों को कम करने से, रहने के बेहतर मकान देने और कार्य की अवस्थाओं को अधिक उन्नत करने एवं वेतन वृद्धि से श्रमिकों की कार्यक्षमता पर निश्चित रूप से अनुकूल प्रभाव पड़ता।

अपनी प्रगति जांचिए

1. चार्टर द्वारा इंग्लैंड के लिए भारत में मुक्त व्यापार के द्वार कब खोले गए?

   (क) सन् 1812 (ख) सन् 1813

   (ग) सन् 1814 (घ) सन् 1815

2. वि–औद्योगीकरण का विचार 18वीं सदी के अंत में किसने दिया?

   (क) दादा भाई नौरोजी (ख) डी.आर. गाडगिल

   (ग) कार्ल मार्क्स (घ) एम.जी. रानाडे

3. भारत किस शताब्दी में विश्व–व्यापार का केंद्र और विश्व की बहुमूल्य धातुओं का चुंबक स्थान था?

   (क) 15वीं शताब्दी (ख) 16वीं शताब्दी

   (ग) 17वीं शताब्दी (घ) 18वीं शताब्दी

3.3 रेलवे और भारतीय अर्थव्यवस्था

रेलवे का प्रभाव भारतीय अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों में महसूस किया गया। यात्रियों और माल ढुलाई दोनों ने रेलवे का व्यापक उपयोग किया। भारत के आर्थिक विकास पर प्रतिष्ठित ब्रिटिश अधिकारी वेरा अन्स्टी ने तर्क दिया कि भारत में रेलवे के निर्माण ने निस्संदेह रूप से विस्तारित और क्रांतिकारी व्यापार किया।

भारत में रेलवे के आगमन से पहले, कृषि उत्पादन का बहुत कम अनुपात ही निर्यात किया जाता था क्योंकि कृषि को केवल निर्वाह के लिए किया जाता था। लेकिन रेलवे ने इसका व्यवसायीकरण करके इसकी प्रकृति को बदल दिया। रेलवे ने भारत की कृषि को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिस्पर्धी बना दिया और इसके परिणामस्वरूप, गेहूं, चावल, जूट तिलहन और कपास जैसे कृषि उत्पादों के निर्यात की बाढ़ आ गई।

उदाहरण के तौर पर, रेलवे के निर्माण से पहले, भारत ने गेहूं का निर्यात बिल्कुल भी नहीं किया था, लेकिन 1886 तक, वह ब्रिटेन के गेहूं के आयात के 23 प्रतिशत की आपूर्ति कर रहा था। 1862 और 1929 के बीच वास्तविक रूप में, निर्यात के मूल्य में

230 प्रतिशत की अभूतपूर्व वृद्धि हुई। इसी अवधि के दौरान, मुख्य रूप से निर्मित वस्तुओं जैसे सूती वस्त्र, यार्न और पूंजीगत वस्तुओं में 230 प्रतिशत की निर्यात वृद्धि के मुकाबले, आयात के मूल्य में 350 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

टिप्पणी

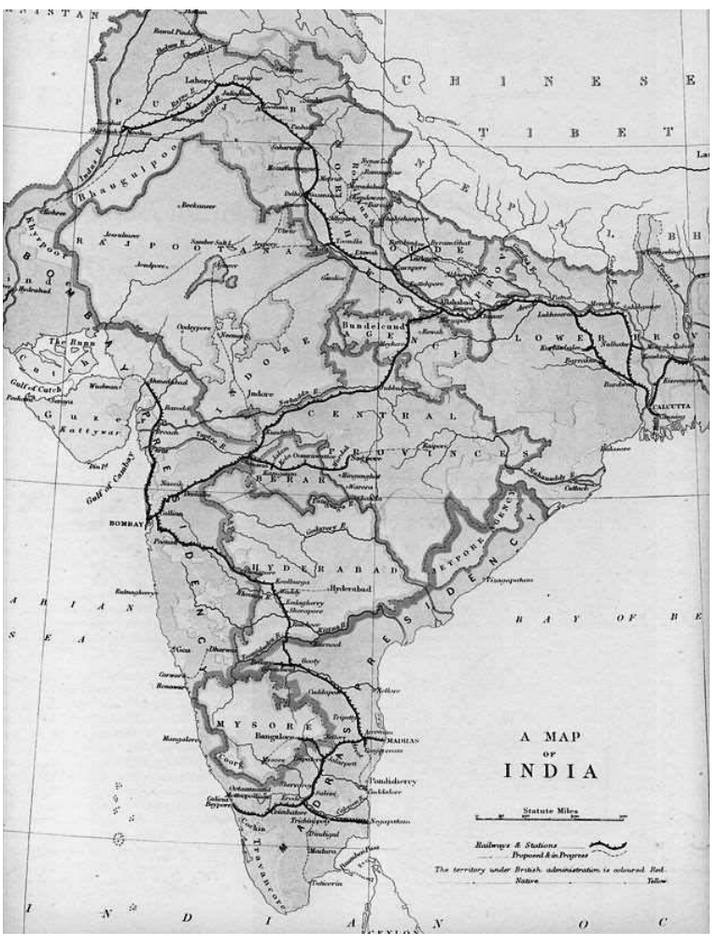

भारत में रेलवे नेटवर्क (1871 में)

"1880 के दशक तक ब्रिटेन भारत का सबसे बड़ा ग्राहक और उपमहाद्वीप के आयात के तीन–चौथाई हिस्से का स्रोत बन गया था। इसलिए, रेलवे ने न केवल भारत के विदेशी व्यापार के पैटर्न को फिर से आकार दिया, बल्कि भारत को ब्रिटिश अर्थव्यवस्था से जोड़ने में मदद की।"

रेलवे ने आंतरिक व्यापार को मजबूत प्रोत्साहन दिया। ऐसा करने के लिए, भारत में कीमतों की संरचना को बदलने में रेलवे ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। रेलवे विस्तार का अधिक प्रत्यक्ष प्रभाव विभिन्न क्षेत्रों के बीच कीमतों का एक समान होना था।

रेलवे के अस्तित्व में आने से पहले, विभिन्न क्षेत्रों के बीच मूल्य अंतर बहुत अधिक थे क्योंकि कृषि उत्पादों की कीमतों में स्थानीय आपूर्ति की स्थिति में बदलाव के साथ अनियमित रूप से उतार–चढ़ाव आता था। रेलवे में हर विस्तार ने नाटकीय रूप से कीमतों में अंतर को कम किया। इस प्रकार, आयात की गिरती लागत के कारण, "बाजार न केवल व्यापक हो रहे थे बल्कि राष्ट्रीय बाजार बन रहे थे।"

रेलवे ने कृषि उत्पादन में वृद्धि, खाद्यान्न का निर्यात, बाज़ारों का विस्तारीकरण, कृषि का व्यवसायीकरण, और अंततः, फसल का पैटर्न बढ़ाया। जैसे–जैसे रेलवे ने कृषि क्षेत्रों के लिए बाजारों का विस्तार किया, भारतीय कृषि विश्व व्यापार चक्रों से जुड़ गई। किसान अब अपने फसल के पैटर्न का निर्धारण करते हुए मूल्य उत्तरदायी बन गए।

"यह माना जाता था कि रेलवे भारत के आर्थिक विकास में सहायता करेगा और विनिर्माण और कच्चे माल तथा कृषि उत्पादों के संग्रह और निर्यात के आयात एवं वितरण में मदद करेगा। आधिकारिक दृष्टिकोण यह था कि "रेलवे द्वारा किए गए लाभ सर्वकालिक श्रेष्ठ थे।" रेलवे ने निश्चित रूप से औद्योगीकरण की प्रक्रिया में मदद की।

3.3.1 आर्थिक और राजनैतिक बाध्यता

रेलों के निर्माण का भारतीय जनता के जीवन, संस्कृति और अर्थव्यवस्था पर एक क्रांतिकारी प्रभाव पड़ा। रेलों की स्थापना से पूर्व अंग्रेज यथार्थ में न भारतीय जीवन में प्रवेश पा सके, न ही भारत को विकासशील विश्वमंडी के साथ जोड़ सके थे और न ही भारत को पूंजीवादी विकास पथ की दिशा पर डाल सके थे। वस्तुतः देश के विदेशी शासकों ने समय बीतते–बीतते रेलों के निर्माण को देश के सभी आर्थिक रोगों की रामबाण औषधि के रूप में लिया और अन्य सभी योजनाओं की अपेक्षा उसे प्राथमिकता देते हुए उसके विकास पर शक्ति और तीव्रता से बल दिया।

जैसे–जैसे यूरोप और अमेरिका में औद्योगीकरण का फैलाव होता गया, वैसे–वैसे इंग्लैंड की पूंजी तथा पूंजीगत वस्तुओं का उपयोग करके रेलवे का विस्तार भी होता गयौ। उपनिवेशों में रेलवे परिवहन का विस्तार भी शुरू हुआ। रॉलैंड मैकडोनाल्ड स्टेफेनसन के विचार रेल निर्माण में काफी भूमिका अदा करते हैं। उन्होंने एक उपनिवेश देश में रेलवे विकास के तमाम संभावित लाभों को गिनाया। स्टेफेनसन ने रेलवे के विकास के लिए इंग्लैंड के उद्यमियों को तैयार करने की कोशिश की। जे. चेपमैन ने भारत में रेल निर्माण कार्य के लक्ष्य की पूर्ति के लिए ग्रेट इंडियन रेलवे कंपनी बनायी। 1845 में ब्रिटिश संसद ने एफ.डब्ल्यू. सिम्स को भारत की ऊष्ण जलवायु तथा भौगोलिक परिस्थितियों में रेलवे निर्माण की समस्याओं के अध्ययन के लिए भेजा। 1 मार्च 1846 को सिम्स ने अपनी रिपोर्ट ब्रिटिश संसद को सौंप दी, जिसमें भारत में रेल निर्माण की सिफारिश करते हुए कई लाभों से अवगत कराया। इस समय गवर्नर जनरल हार्डिंग भी पक्षधर थे। निःसन्देह रेलवे परिवहन के विकास के पीछे औपनिवेशिक स्वार्थ छिपे थे।

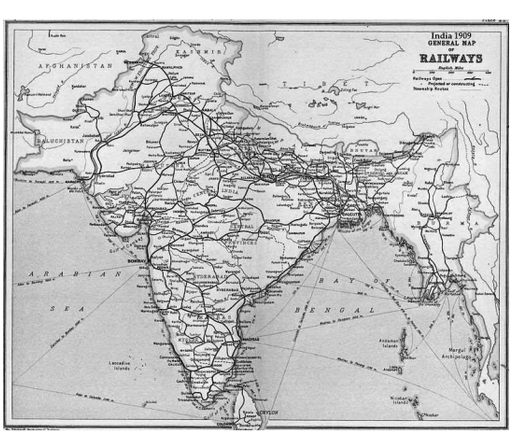

भारत में रेलवे नेटवर्क 1909 में

टिप्पणी

इसी प्रकार लॉर्ड डलहौजी ने अपने रेलवे प्रतिवेदन में भी साफ तौर पर कहा कि रेलवे व्यवस्था को समझदारी से चयनित करके तथा निर्माण करके यह भारत के व्यापार, उद्यम को प्रोत्साहन देने तथा अदृश्य संसाधनों को ढूंढने में, राष्ट्रीय संपदा को बढ़ाने में तथा अन्य सामाजिक सुधार लाने में सहायक होगी जैसे साम्राज्य में दूसरी जगहों पर लाये गये थे। इसी तरह के उद्देश्य और लक्ष्य निर्धारित करके लार्ड डलहौजी ने भारत में रेलवे निर्माण की एक 'सामान्य योजना' प्रस्तुत की जिसके अनुरूप देश के विभिन्न हिस्सों में इस आधुनिक परिवहन–प्रणाली का विकास करने की दिशा तथा नीति का निर्धारण किया गया।

(क) रेल निर्माण का आर्थिक पक्ष

यह तो स्पष्ट है कि भारत में रेलों का आरंभ अंग्रेजों ने ही किया परंतु इस तथ्य के पीछे अंग्रेजों की नीति भारत का विकास नहीं वरन् कुछ और ही नीति कार्य कर रही थी। औद्योगिक क्रांति व अर्थव्यवस्था के नियमों के कारण भारत पहले से ही आर्थिक तंगी से गुजर रहा था। औद्योगिक क्रांति द्वारा भाप इंजन का आविष्कार अब भारतीयों को और अधिक चोट पहुंचाने भारत में आ पहुंचा। रेल निर्माण के पीछे कुछ आर्थिक पक्ष इस प्रकार हैं–

1. **शहरों को बंदरगाहों से जोड़ना** : आधुनिक परिवहन के रूप में रेलवे का पहला व्यावहारिक तथा सफल प्रयोग 1830 का मैनचेस्टर और लिवरपूल नामक औद्योगिक केंद्रों के बीच इंग्लैंड में हुआ था। स्टेफेनसन ने भारत में रेलवे विकास के तमाम संभावित लाभों को गिनाया। जैसे इससे खनिज पदार्थों को खोजने में मदद मिलेगी तथा आर्थिक व्यापारिक प्रगति को बल मिलेगा एवं अप्रत्यक्ष रूप से यह श्रम तथा उत्पादन के अन्य कारकों को गतिशीलता देगा। कलकत्ता और मिर्जापुर के बीच व्यापार काफी बढ़ा था और मार्ग में रानीगंज की कोयले की खानें भी पड़ती थी। इसी प्रकार जे. चेपमैन ने महाद्वीपीय भारत में पश्चिमी घाट से पूर्वी तट को जोड़ने की एक योजना सुझाई। यह एक तीन लाइनों की योजना थी जिसमें दो बीजापुर, सतारा, पूना, अहमदाबाद और औरंगाबाद को जोड़ने वाली थी तथा तीसरी ने हैदराबाद नागपुर तथा अमरावती को जोड़ना था। यह महत्वपूर्ण बात थी कि जे. चेपमैन की योजना के ये सारे शहर कपास की मंडिया थीं।

2. **भारत की जलवायु में आर्थिक लाभ** : अंग्रेजों ने भारत की प्रत्येक चीज का प्रयोग पूर्ण रूप से अपने स्वार्थों के लिए किया। जे. चेपमैन ने व्यापारिक लक्ष्यों की पूर्ति हेतु ग्रेट इंडियन रेलवे कंपनी के नाम से एक कंपनी बनायी। धीरे–धीरे ईस्ट इंडिया कंपनी के डायरेक्टर्स ने रेलवे के विकास में रुचि दिखाना प्रारंभ किया। सिम्स ने भारत में रेलवे निर्माण की सिफारिशें करते हुए अतिरिक्त लाभ बताये। जैसे– भारत में श्रम, भूमि तथा अन्य निर्माण का सामान कम मूल्य पर मिलने के कारण रेलवे निर्माण पर लागत कम आनी थी और परिवहन का अपेक्षाकृत सस्ता और सुगम साधन सिद्ध होना था।

   इस प्रकार अंग्रेज यह भली–भांति जानते थे कि भारत में इस कार्य के लिए श्रम बल प्राप्त करना आसान और साथ ही भूमि भी उपलब्ध है। उनके सामने किसी प्रकार की कोई कठिनाई नहीं थी।

3. **पूंजी की व्यवस्था :** स्टेफेनसन ने भारत में रेलवे के विकास के लिए इंग्लैंड के उद्यमियों को तैयार करने की कोशिश की। ईस्ट इंडिया कंपनी की सरकार ने भारत में रेलों के विस्तार के लिए अंग्रेज पूंजीपतियों से कहा, "इस व्यवसाय में पैसा लगाओ तुम्हें भरपूर लाभ होगा। यदि लाभ न हो तो तुम्हारे घाटे का जिम्मा हमारा, किंतु 5 प्रतिशत से अधिक लाभ होने पर हम तुम आधा–आधा बांट लेंगे। इस पर ब्रिटिश पूंजीपतियों को क्या आपत्ति हो सकती थी। भारत में रेल लाइन बिछने लगी। रेलवे लाइन में लगी राशि को निम्न आंकड़े दर्शाते हैं–

वर्ष	ई.आई.आर	जी.आई.पी	मद्रास रेलवे
1849	5602 पॉण्ड	—	—
1850	17471 पॉण्ड	3062 पॉण्ड	—
1851	37185 पॉण्ड	6312 पॉण्ड	—
1852	42234 पॉण्ड	16310 पॉण्ड	—
1853	52071 पॉण्ड	22825 पॉण्ड	—
1854	88884 पॉण्ड	25003 पॉण्ड	9703 पॉण्ड
1855	195730 पॉण्ड	30259 पॉण्ड	18115 पॉण्ड
1856	297390 पॉण्ड	60370 पॉण्ड	42510 पॉण्ड
1857	354511 पॉण्ड	116612 पॉण्ड	81139 पॉण्ड
1858	433968 पॉण्ड	275289 पॉण्ड	109197 पॉण्ड
	1528046 पॉण्ड	556049 पॉण्ड	260664 पॉण्ड

अनेक अंग्रेजों ने भी इस भारी व्यय की निंदा की है।

(ख) रेल निर्माण का राजनीतिक पक्ष

एक ओर तो ऐसा प्रतीत होता है कि भारत में रेल निर्माण केवल व्यापारिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु था किंतु इसका दूसरा पक्ष और भी ज्यादा रहस्यमयी था। जर्मनी और जापान की तरह भारत में रेलों का विकास देश के औद्योगिक विकास को गति प्रदान करने के लिए नहीं किया गया, बल्कि यह तो साम्राज्यवादी ब्रिटिश सरकार की भारत में प्रशासन पर पकड़ मजबूत करने और अधिकाधिक व्यापारिक लाभ कमाने के उद्देश्य से शुरू की गई थी। भारत में रेलवे के निर्माण का काम प्रारंभ करने के पीछे अंग्रेजों के मुख्यतः तीन राजनीतिक उद्देश्य थे–

1. **सैनिक पकड़ मजबूत करना :** अंग्रेजों को धीरे–धीरे यह अनुभव होने लगा था कि भारतीयों ने अंग्रेजी शासन को मन से स्वीकार नहीं किया है अतः कभी भी और कहीं पर भी अंग्रेजी शासन के खिलाफ विद्रोह खड़ा हो सकता है। भारत जैसे लंबे–चौड़े देश में इस प्रकार के विद्रोह को दबाने के लिए तुरंत सेना व सैन्य सामग्री भेजने की आवश्यकता पड़ सकती है। यह काम परंपरागत एवं पुराने धीमी गति के परिवहन के साधनों के बजाय रेलों के द्वारा अधिक अच्छी तरह किया जा सकता था। देश के विभिन्न भागों के साथ प्रभावी प्रशासनिक

टिप्पणी

संबंध बनाए रखने की दृष्टि से भी रेल महत्वपूर्ण साबित होती। 1848 में तत्कालीन गवर्नर जनरल लॉर्ड हार्डिंग ने भारत में रेलों के विकास का समर्थन इसी तर्क के आधार पर किया था। डलहौजी ने 1853 में कहा था कि इतने बड़े साम्राज्य के विभिन्न वर्गों के हितों को ध्यान में रखते हुए और कई कई अलग–अलग स्थानों पर जहां कहीं भी हमला हो सकता है, उनके बीच की लंबी दूरियों को ध्यान में रखते हुए और तेजी के साथ सैनिकों को इधर–उधर लाने–ले जाने की आवश्यकता और किसी स्थान पर सेना को जमा करने की जरूरत सभी ऐसे सैनिक कारण है, जिनके लिए लंबी चौड़ी रेलवे व्यवस्था आवश्यक है।

इन सब कारणों के अलावा एक कारण यह भी बताया गया है कि अकाल में लोगों की शीघ्र सुविधा उपलब्ध कराने के उद्देश्य से भी रेलों का निर्माण आवश्यक था, किंतु क्या वास्तव में भारतीयों को ये लाभ प्राप्त हो पाएं।

वैसे तो रेलों का प्रभाव भारत में काफी हद तक सकारात्मक देखा जा सकता है जैसे– एक साथ सफर करने पर छुआछूत की दर घटने लगी। आवागमन आसान हो गया। किंतु इसके जो नकारात्मक परिणाम सामने आये हैं, वे बहुत भयानक रहे।

2. **ब्रिटिश पूंजी हेतु महत्वपूर्ण अवसरों की खोज** : ब्रिटिश कंपनी, ब्रिटिश शासन की पूंजी हेतु अवसर की तलाश में रहती थी और यह उनके लिए सुनहरा मौका था। उस समय इंग्लैंड के पूंजीपति अपने आसपास जमा पूंजी को संसार के विभिन्न भागों में निवेश के लिए भेज रहे थे। वे अपनी पूंजी को लाभपूर्ण ढंग से व्यय करने के अवसरों की तलाश में थे। इसलिए उनके पास यह एक महत्वपूर्ण अवसर था। अतः पूंजीपतियों को भारत में रेल निर्माण के कार्य में पूंजी लगाना अधिक सुरक्षित और लाभप्रद प्रतीत हुआ। इसलिए इन सभी पूंजीपतियों ने भी अंग्रेज सरकार पर भारत में जल्दी से जल्दी रेलवे निर्माण का काम प्रारंभ करने की इजाजत देने के लिए दबाव डाला ताकि वे अपनी इस अतिरिक्त पूंजी का निवेश कर सके।

3. **व्यापारिक लाभों में अधिक वृद्धि करना** : भारत में कच्चे माल के निर्यात को बढ़ाने तथा इंग्लैंड से तैयार माल का आयात कर भारत के भिन्न–भिन्न इलाकों में पहुंचाने के काम में रेलवे बड़ी मदद कर सकती थी। डलहौजी ने रेल विस्तार के बारे में अपने वक्तव्य में कहा था कि इंग्लैंड को भारत के कपास की आवश्यकता है। यदि दूर–दूर के मैदानों से लाकर ऐसे स्थानों पर जमा करने के समुचित संचार साधन हों, जहां उसे जहाजों पर लादा जा सके तो आशा की जा सकती है कि भारत और भी अधिक मात्रा में कपास उगायेगा। इसके अतिरिक्त व्यापार के लिए दी गयी अतिरिक्त सुविधा से भारत की दूर–दूर की मंडियों में यूरोपीय माल की मांग बढ़ी और रेलवे ने बहुत हद तक पूरा किया।

अतः यह तो हम सभी जानते हैं कि ब्रिटिश कंपनी द्वारा कोई भी किया गया कार्य भारतीय हित में नहीं बल्कि कंपनी व ब्रिटिश हित में था। उनके कार्य शासन को सुचारू रूप से चलाने तथा होने वाले आर्थिक व राजनीतिक लाभ, केवल अंग्रेजों के लिए थे। हां, यह भी सत्य है कि काफी समय पश्चात् इसका फायदा अनजाने में भारतीयों को भी मिला था।

3.3.2 भारतीय बाजारों का एकीकरण एवं पराभव

उपनिवेशवाद यूरोप में पूंजीवादी सामाजिक आर्थिक ढांचे की उत्पत्ति और उसके विकास तथा परिपक्वता के साथ घनिष्ठता से जुड़ा हुआ है। भारत में आयात की जाने वाली वस्तुओं के बदले में यूरोप अथवा इंग्लैंड के पास कुछ नहीं था। इंग्लैंड के आर्थिक ढांचे के परिणामस्वरूप भारत में ब्रिटिश शासन की नीति शुरू से लेकर अंत तक एक जैसी नहीं रही। भारत के आर्थिक अधिशेष को हड़पने के लिए विभिन्न तरीके अपनाए गए, परिणामस्वरूप भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद विभिन्न चरणों से गुजरा और प्रत्येक चरण गुणात्मक दृष्टि से अन्य चरणों से भिन्न था।

अंग्रेजों के आगमन से पूर्व तक गांवों का अस्तित्व अक्षुण्ण रहा। विदेशी आक्रमण हुए, राजवंश बदले, आपसी लड़ाइयों के बाद राज्यों का बंटवारा हुआ, नये राज्य बने और बिगड़े परंतु आर्थिक इकाई के रूप में गांव की सत्ता ज्यों की त्यों रही। भारतीय गांवों में कृषि उत्पादन की पद्धति में अंतर नहीं आया। गांवों में किसानों के अतिरिक्त बढ़ई, लोहार, कुम्हार, जुलाहा, मोची, धोबी, तेली, हज्जाम आदि व्यवसाय से जुड़े लोग भी रहते थे। ये ग्रामीण अर्थव्यवस्था की मूल इकाई थे। गांव में जिन वस्तुओं का उत्पादन होता था उसका विनिमय गांव की जनता तक ही सीमित था। गांव और बाहर की दुनिया के बीच विनिमय संबंध शून्य थे। अक्सर सप्ताह में किसी एक दिन बड़े गांव के बाजार में हाट लगती थी, जिसमें अन्य स्थानों से आये सामानों की बिक्री होती थी।

आर्थिक और सामाजिक संरचना के पूंजीवादी रूप में परिवर्तन के लिए जरूरी परिस्थितियां ब्रिटिश भारत में थीं। कंपनियों के साथ समझौता कर उन्हें जो न्यूनतम ब्याज की गारंटी दी गई थी उसके परिणामस्वरूप भारत पर काफी मात्रा में वित्तीय बोझ बढ़ा। रेलवे में बहुत बड़ी संख्या में विदेशी कर्मचारियों को लगाया गया था। इस प्रकार ब्याज, लाभांश और कर्मचारियों के वेतन आदि के रूप में काफी बड़ी मात्रा में देश की धन निकासी हुई। भारत में रेलों के निर्माण के लिए लोहे का सामान इंग्लैंड से मंगाया गया। इससे भी देश की पूंजी बाहर गई। इस प्रकार रेलों के माध्यम से भारतीय अर्थव्यवस्था का शोषण किया गया तथा अंग्रेजों ने रेलवे के माल–भाड़े व किराये की दरें काफी ऊंची रखी थी।

लेकिन वह इतनी सशक्त नहीं थी कि परिवर्तन हो सके। भारत में बुर्जुआ वर्ग का विकास नहीं हो सका क्योंकि पूर्व उपनिवेश भारत की अपनी राजनीतिक एवं अर्थतंत्र की विशेषताएं थीं। उदाहरण के लिए गांव की आत्मनिर्भरता जो देश की पूंजीवादी प्रगति की दिशा में सबसे बड़ी बाधा थी। गांव की अर्थव्यवस्था कृषि एवं कुटीर उद्योग–धंधों के संतुलन के कारण विघटन की प्रक्रिया के प्रतिरोध में खड़ी हो सकी।

भारतीय बाजारों के एकीकरण की स्थिति

ब्रिटिश पूर्व भारत में शहरी हस्तशिल्प अत्यंत विकसित था। भारत के सूती एवं रेशमी कपड़ों की मांग सारी दुनिया में थी। धातु, प्रस्तर शिल्प, शक्कर, नील, कागज, चमड़े, बहुमूल्य आभूषण आदि का व्यवसाय चरमोत्कर्ष पर था। इसके अतिरिक्त हाथी दांत से भुजदंड, अंगूठी, पासे, मनका, चीनी मिट्टी के बर्तन आदि चीजें बनती थी जिसकी सारी दुनिया में विशेष मांग थी। वास्तव में औद्योगिक क्रांति के आरंभ तक आकर्षक एवं उद्दीपक वस्तुओं के लिए सारा संसार भारत पर निर्भर था।

टिप्पणी

18वीं शताब्दी के अंत और 19वीं शताब्दी के आरंभ में दूसरी कितनी ही जातियों के लोग, विदेशी कंपनियां या अंग्रेज व्यापारियों के व्यक्तिगत कारोबार में शामिल होकर पुराने व्यापारी वर्ग को पीछे छोड़ गए थे। अंग्रेजी कंपनी ने क्रमशः निर्यात योग्य पदार्थों की खरीद के लिए जो तंत्र तैयार किया, उसमें देसी बनियों के पास केवल दो ही रास्ते रह गए थे– या तो वे अपने को आंतरिक व्यापार तक सीमित रखते या बाहरी व्यापार से जुड़ते। बाह्य व्यापार के कुछ भाग बड़े अंग्रेज व्यापारियों के ही अधीन रहे। उधर आंतरिक व्यापार में परिवहन की उन्नति, विदेशी पूंजी से निर्मित रेलवे ने बाजार के विकास में अहम भूमिका निभाई। कृषि उपज देश के कोने–कोने से मद्रास, कलकत्ता, बंबई, कराची बंदरगाह तक पहुंचने लगी। देश के भीतर एक ओर जहां किसान महाजन उनके दलाल थे तो दूसरी ओर औपनिवेशिक नगर, बंदरगाह, ब्रिटिश फैक्ट्रियां, व्यापारिक दफ्तर और बैंक थे। रेलवे व सड़क ने इन दोनों में सामंजस्य बनाया और इस प्रकार देश के भीतर खरीद–बिक्री के बाजार का रास्ता आसान हो गया। इसी के फलस्वरूप खेती का आंचलिक विशेषीकरण संभव हुआ अर्थात किसान विक्रेता ही नहीं खरीदार भी बना। आधुनिक युग में बाजार की शुरुआत कृषि उत्पादों के साथ हुई।

गांवों में मुद्रा अर्थतंत्र ने भी व्यवसायीकरण की प्रक्रिया को बढ़ावा दिया। इससे भारतीय गांवों की कृषि व उद्योग का प्राचीन संतुलन बिगड़ा। आत्मनिर्भर ग्रामीण अर्थव्यवस्था के दो आधार स्तंभों– कृषि एवं ग्रामोद्योग के संतुलन के नष्ट हो जाने पर आत्मनिर्भर गांवों के अस्तित्व का आर्थिक आधार कमजोर हो गया।

तटीय व्यापार : तटीय व्यापार को देश के आंतरिक व्यापार का अंग मानना चाहिए, यद्यपि इसमें विदेशी व्यापार भी शामिल है। भारत का समुद्र तट लगभग 4000 मील है, परंतु उसका कोयला, चावल, तेल, लकड़ी आदि तटीय व्यापार 70 लाख टन तथा 20 लाख यात्रियों के आवागमन और यातायात तक ही सीमित है। तटवर्ती स्थानों के बीच होने वाला देशी व्यापार तटीय व्यापार के अंतर्गत माना जाता है। तटीय व्यापार में कलकत्ता का स्थान सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। लगभग 90 प्रतिशत व्यापार यहीं से होता था। उसके उपरांत बंबई, मद्रास, चटगांव, कोचीन, तूतीकोरन आदि का स्थान है। 1935–36 में कलकत्ता, बंबई और कराची से 100 करोड़ रुपये का तटीय व्यापार हुआ।

व्यापारी वर्ग : देश के व्यापार का अधिकतर संचालन बड़ी–बड़ी एजेंसियों के हाथों में था, जो प्रायः विदेशी ही होती थी। सभी बंदरगाहों और भारत के विभिन नगरों में इनकी शाखाएं होती थीं। इन एजेंसियों से बचा हुआ व्यापार मारवाड़ियों के हाथों में था। 1946 में 421 सूती मिलों में 86 मिलें और 172 चीनी मिलों में 53 मिलें मारवाड़ियों की थीं। बैंकिंग में 21 प्रतिशत तथा बीमा व्यवसाय में 22 प्रतिशत अधिकार मारवाड़ियों को प्राप्त था। उनके अतिरिक्त बम्बई के पारसी, भाटिया, वोहरा, खोजा, मुसलमान, संयुक्त प्रांत के वैश्य, मद्रास के चेट्टी और कोमटिया व्यापारिक क्षेत्र में अच्छी प्रगति कर रहे थे।

व्यापार मंडल : देश में जो व्यापारिक संगठन थे उनमें सबसे प्रभावशाली और उत्तम संगठन क्षेत्र अंग्रेजों के थे। एसोसिएटेड चैंबर ऑफ कॉमर्स के अंतर्गत भारत में कलकत्ता, बंबई, मद्रास आदि व्यापार मंडल पुराने भी थे और सुरक्षित भी। बंबई के व्यापार मंडल को छोड़ अन्य व्यापार मंडलों में यूरोपीय सदस्यों का बाहुल्य था। 1887 में बंगाल नेशनल चेंबर ऑफ कॉमर्स, 1707 में मारवाड़ी चेंबर ऑफ कॉमर्स और इंडियन

मर्चेंट्स चेंबर एंड ब्यूरो, बम्बई, 1909 में साउथ इंडियन चैंबर ऑफ कॉमर्स, 1925 में इंडियन चेंबर ऑफ कॉमर्स, कलकत्ता स्थापित हो गए थे। इन मंडलों का एक अखिल भारतीय फेडरेशन भी था।

टिप्पणी

व्यापार क्षति : युद्ध काल में रेलों मा मोटरों आदि का प्रयोग रणसामग्री और सेना आदि ढोने के लिए विशेष रूप से होने लगा था। अतः माल इधर–उधर भेजना बड़ा कठिन हो जाता था। इस कारण व्यापार में अत्यधिक बाधा पड़ती थी। इस कारण युद्धकाल में भारतीयों के अपने व्यापार–वाणिज्य को क्षति पहुंचने लगी।

1941 के अंत में भारत पर महायुद्ध की छाया पड़ी, साथ ही व्यापारियों ने जमाखोरी और मुनाफाखोरी आरंभ की। सरकार ने मूल्य नियंत्रण और राशनिंग का सहारा लिया। किसानों पर भी खाद्य संकट आ गया, जिससे खेती प्रभावित होने लगी। 1942 में सरकार ने अधिकांश व्यापार अपने हाथ में ले लिया।

इस प्रकार पुनः भारतीयों को गहरी क्षति व कष्ट का सामना करना पड़ा। ब्रिटिशर्स से पूर्व भारत में अलाउद्दीन खिलजी जैसे विभिन्न शासकों ने बाजार के नियंत्रण का काम किया था। बाजार में व्यापार आंतरिक और बाह्य या साथ ही यह व्यापार तटीय व्यापार में भी विस्तृत था। ब्रिटिशर्स की नीति भिन्न थी। रेल के विकास ने व्यापार को तो बढ़ावा दिया किंतु छोटे व्यापारी या छोटे बाजारों को इससे कोई लाभ नहीं मिला। साथ ही युद्ध की परिस्थितियों में खाद्यान्नों की आवा–जाही पर एक प्रकार की रोक या बाधा उत्पन्न हुई क्योंकि उस समय युद्ध सामग्रियों की अधिक आवश्यकता होने के कारण खाद्यान्नों को द्वितीय दर्जे में डाल दिया जाता था, जिससे बाजार का समीकरण बिगड़ जाता था। भारत के लिए यह पहली बार नहीं था, क्योंकि अंग्रेजों की नित्य नई नीतियों से बाजार, किसान एवं व्यापारियों को हानि ही पहुंचती थी।

3.3.3 कृषि उत्पादन और कच्चे माल के निर्यात पर व्यवसायीकरण का प्रभाव

19वीं सदी में भारतीय कृषि में एक नई प्रवृत्ति उभर कर सामने आई जिसे कृषि व्यवसायीकरण के नाम से जाना गया। 19वीं सदी के आरंभ में तो भारत नील, अफीम, कपास, इत्यादि उत्पादों का निर्यात करता रहा। ये सभी प्रारंभिक नकदी फसलें ऐसी थी जो कम मात्रा में निर्यात करके अधिक मुनाफा अर्जित करने में मददगार साबित हुई। मुख्यतः ये कृषि उत्पाद परंपरागत कृषि उत्पाद थे लेकिन निर्यात की तरफ रुझान रखने वाली इन नकदी फसलों का उत्पादन यूरोपीय उद्यम और राज्य के द्वारा हासिल समर्थन से ही संभव था। इन फसलों द्वारा किसान उत्पादकों को बहुत सीमित मुनाफे ही प्राप्त हुए।

कृषि के व्यवसायीकरण का प्रत्यापन– कृषिकों को खाद्यान्न फसलों को छोड़कर वाणिज्यिक फसलों पर लाने के लिए मजबूर किया गया। उन्हें ब्रिटेन में विकसित हो रहे कपड़ा उद्योग के लिए नील की आवश्यकता थी। कृषि के व्यवसायीकरण ने भारतीय कृषि को बाजार की अनिश्चितताओं से परिचित कराया। अतः उन्हें अपनी आवश्यकता की वस्तुएं खरीदने के लिए नकदी की जरूरत थी। परंतु अपनी ऋणग्रस्तता के कारण उनके पास नकदी का सदा अभाव रहता था। इसने इन्हें कृषि से जुड़े रहने के लिए मजबूर किया गया और साहूकारों तथा जमीदारों की दया पर निर्भर कर दिया गया।

टिप्पणी

कृषि व्यवसायीकरण के चरण

भारत में तीन प्रमुख प्रकार के व्यवसायीकरण हुए। व्यवसायीकरण का पहला रूप 'वृक्षारोपण कृषि', विशेष रूप से बंगाल के उत्तरी जिलों के चाय के बागान से जुड़ा था। दूसरे प्रकार के व्यवसायीकरण को 'निर्वाह व्यवसायीकरण' या 'जूट चरण' के रूप में जाना गया। व्यवसायीकरण के इस जूट संस्करण के तहत, किसानों ने बेहतर जीवन निर्वाह स्तर की तलाश में गहन नकदी फसलों की ओर रुख किया। इस चरण की समीक्षा करते हुए सुगता बोस लिखती हैं– "ऐसी नकदी फसल उगाना जिसने उच्च सकल आय का वादा किया था, छोटे धारकों को बड़े पैमाने पर लग रहा था कि चावल की अपर्याप्त मात्रा बढ़ने की तुलना में 20वीं शताब्दी की शुरुआत में निर्वाह को आश्वस्त करने के लिए बेहतर शर्त थी।" व्यवसायीकरण क तीसरा रूप 'निर्भर व्यवसायीकरण' या 18वीं सदी के अंत में और 19वीं सदी की शुरुआत में 'इंडिगो चरण' के रूप में जाना जाता है। इस चरण की विशेषता विदेशी पूंजी की घुसपैठ थी।

हालांकि व्यवसायीकरण के इन चरणों का कोई स्पष्ट अनुक्रमण नहीं है लेकिन निर्वाह व्यवसायीकरण चरण पूर्वी भारत के कामकाजी किसानों की उत्पादक गतिविधियों को ढालने में सबसे अधिक व्यापक रहे।

व्यवसायीकरण का प्रभाव

भारत की कृषि व्यवस्था पर व्यवसायीकरण के बहुआयामी प्रभाव पड़े। इसने कृषि के क्षेत्र में क्षेत्रीय विशिष्टीकरण को जन्म दिया। इसमें किसान अपने–अपने जीवनयापान के साथ ही दूसरों के लिए भी कृषि उत्पाद पैदा करता था। व्यवसायीकरण का निम्नलिखित प्रभाव पड़ा–

1. **कृषि उत्पादकता में जड़ता**– व्यवसायीकरण के इस दौर में किसान अब उसी फसल का अधिक उत्पादन करने लगा जिसे मंडियों में बेच कर वह नकद रकम हासिल कर सकता था। इस प्रकार से किसान कृषि उत्पादों का खरीददार और विक्रेता दोनों ही बन चुका था। इस प्रक्रिया में किसान को लाभ मिलने की बजाय साहूकार–महाजनों को अधिक लाभ प्राप्त हुआ।

   निर्यात व्यापार में व्यापारियों को ही ज्यादा लाभ मिलता था। किसान से भू–राजस्व की भारी मांग, साहूकार–महाजन की ब्याज की रकम और मंडियों के बिचौलियों को फसल का एक हिस्सा देने के बाद इतने पर्याप्त साधन नहीं बचते थे कि वे कृषि में कोई बड़ा तकनीकी सुधार आदि करके उत्पादकता बढ़ा पाते। अधिकांश किसान छोटे काश्तकार थे और पूरी तरह असुरक्षित थे। अधिकांश छोटे किसानों के पास अपनी जरूरतों को पूरा करने के पश्चात बाजार में बिक्री के लिए कोई अतिरिक्त कृषि उत्पाद नहीं बचता था। इसलिए एक तरफ तेजी से कृषि उत्पादन की मंडियों में मांग बढ़ रही थी तो दूसरी ओर कृषि–उत्पादकता में जड़ता की स्थिति बनी हुई थी।

2. **खाद्यान्नों के उत्पादन में कमी**– कृषि के व्यवसायीकरण में खाद्यान्न की अपेक्षा नकदी फसलों के उत्पादन पर जोर दिया गया था। परिणामस्वरूप देश में खाद्यान्नों की आपूर्ति पर बुरा असर पड़ा। जनसंख्या के अनुपात में खाद्यान्नों में कमी आ रही थी और दूसरी तरफ खाद्यान्नों का निर्यात भी तेजी से किया

जा रहा था। इस सबसे प्रति–व्यक्ति खाद्यान्न की उपलब्धता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। व्यवसायीकरण के बढ़ते रुझान ने खाद्यान्न के संग्रहण की देशी पद्धतियों को भी तहस–नहस कर दिया और इसकी भीषणता का रौद्र रूप देखने को मिला। नकदी फसलों के उत्पादन के द्वारा भारतीय किसान अब सीधे अंतर्राष्ट्रीय मंडियों से जुड़ चुका था। इसका सीधा अर्थ यह था कि अंतर्राष्ट्रीय मंडियों में होने वाली उथल–पुथल का सीधा असर भारतीय किसानों पर पड़ने लगा।

3. **आर्थिक मंदी**– विश्व स्तर की आर्थिक मंदी (1929) ने भारतीय कृषि व्यवस्था को काफी कमजोर कर दिया। 1860 से पनप रहे निर्यात आधारित कृषि उत्पादन ने पूंजी और श्रम के बाजारों को ध्वस्त कर दिया। इस मंदी के दौर में किसानों को गहने व घर बेचकर अपना गुजारा करना पड़ा। समृद्ध किसानों ने नकदी फसलों का उत्पादन पूरी तरह बंद कर दिया और वे कम श्रम वाली फसलों की तरफ रुख कर गए थे। परिणामस्वरूप 1929–31 के बीच खेतीहर मजदूरों की आर्थिक दशा दयनीय हो गई।

4. **मंडियों और बाजारों पर प्रभाव**– बढ़ते हुए व्यवसायीकरण का असर मंडियों व बाजारों की संरचना पर भी पड़ा। अधिकांशतः यह पाया गया कि किसान और मंडी के बीच बिचौलियों की कतार लग गई थी। ज्यादातर लाभ इन बिचौलियों को ही मिल रहा था। किसानों को व्यवसायीकरण से जो संभावित लाभ हासिल हो सकता था उसे या तो सरकार बढ़े हुए भू–राजस्व के रूप में हड़प लेता था या लगान भोगी वर्ग या साहूकार महाजनों का सूद या फिर मंडियों में बिचौलिये हड़प लेते थे।

ब्रिटिश भारत में (बर्मा को छोड़कर) 1901–37 के बीच खाद्यान्नों का उत्पादन (चावल, गेहूं, ज्वार, मक्का, बाजरा) करने वाले खेती के इलाकों का क्षेत्रफल केवल 16 प्रतिशत बढ़ा जबकि इसकी तुलना में नकदी फसलों की खेती के अंतर्गत आने वाले क्षेत्रफल का तेजी से विकास हुआ। ईख 69 प्रतिशत, सरसों 36 प्रतिशत वृद्धि दर्ज करती हैं। जॉर्ज ब्लिन द्वारा दिए गए आंकड़े (नकदी फसलों के कुल उत्पादन वृद्धि और प्रति एकड़ उत्पादन में बढ़ोत्तरी) प्रस्तुत हैं–

ब्रिटिश भारत में औसत वार्षिक वृद्धि दर (% के अनुसार)
1891–1946

- जनसंख्या : 0.67
- कुल फसलों का क्षेत्रफल : 0.40
- कुल फसलों का उत्पादन : 0.37
- खाद्यान्नों का उत्पादन : 0.11
- नकली फसलों का उत्पादन ' 1.31
- खाद्यान्नों का प्रति एकड़ उत्पादन : 0.18
- नकदी फसलों का प्रति एकड़ उत्पादन : 0.86

इस प्रकार व्यवसायीकरण का विस्तार भारतीय किसानों और कृषि उत्पादकों को विश्व की बड़ी–बड़ी मंडियों से जोड़ रहा था और इसमें किसानों के उद्यम और

टिप्पणी

परिस्थितियों के अनुकूल अपने आर्थिक जीवन को ढालने का महत्वपूर्ण हाथ था। 1861–65 के बीच जब अमेरिकी गृह युद्ध की वजह से अमेरिकी कपास जब लंकाशायर की मिलों में आनी बंद हो गई और मंडियों में कपास के दाम तेजी से बढ़े तो दक्कन के किसानों ने बड़े व्यापक पैमाने पर नए संकर बीजों खासकर धारवाड़–अमेरिकन किस्म को अपनाकर बड़े रेशे की रुई का उत्पादन अपनाया।

कृषि उत्पादन में वाणिज्य का विकास किसानों के लिए महत्वपूर्ण था। वेरा ऐसेन्ट और अन्य अर्थशास्त्री मानते थे कि साधारणतया भारतीय किसान अशिक्षित और रूढ़िवादी नजरिये से जकड़ा होने के कारण तर्कसंगत आर्थिक निर्णय नहीं ले सकता था। किंतु भारतीय किसान अशिक्षित होने के बावजूद आर्थिक अवसरों के अनुसार अपने निर्णय ले सकता था।

इस मत को लेकर कोई दो मत नहीं है कि व्यवसायीकरण के कारण भारतीय कृषि में तेजी से महाजनी पूंजी का प्रसार हुआ। मार्क्सवादी लेखकों में विशेषकर रजनीपाम दत्त और जे.एस. पटेल ने, कृषि में ग्रामीण वर्ग संरचना पर इसका एक खास प्रभाव देखने की कोशिश की है। इनका मानना है कि वाणिज्यीकरण के कारण साहूकार–महाजनों ने बड़े पैमाने पर किसानों की जमीनों पर कब्जा जमाना शुरू कर दिया, जिससे वे बड़ी संख्या में भूमिहीन होते चले गए और इस प्रक्रिया ने खेतिहर मजदूरों की श्रेणी का संख्यात्मक विस्तार किया। पूर्व औपनिवेशिक काल में एक तरह से बंधे हुए मजदूर होने के सबूत मिलते हैं, लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि व्यवसायीकरण ने खेतिहर मजदूरों की स्थिति को प्रभावित न किया हो। संभवतः उनकी संख्या में बढोत्तरी हुई, लेकिन इसका सही अनुमान लगाना मुश्किल है।

3.3.4 अकाल और ब्रिटिश नीतियां : राष्ट्रवादी समीक्षा

औपनिवेशिक शासन में कृषि की हालत दयनीय हो गई थी। भारत में व्यापार करने हेतु कंपनी ने शाही फरमान प्राप्त तो किया परंतु उसका सर्वथा उल्लंघन किया जाने लगा। वे जानबूझ कर चुंगी नहीं देते थे। फलतः देशी व्यापारी घाटे में जाने लगे। यहां तक तो केवल बात व्यापार के घाटे की थी। बक्सर के युद्ध में अंग्रेजों ने लज्जाजनक, विश्वासघात, अंग्रेजों की कूटनीति, जालसाजी, छल, प्रपंच आदि के कारण मीरकासिम को पराजित होना पड़ा। अब यहीं से अंग्रेजों ने भारत पर सिक्का जमा लिया। इसी के पश्चात ही क्लाइव ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त कर ली। मालगुजारी वसूल करने का सारा प्रबंध कंपनी के हाथ आ गया।

अंग्रेजों ने व्यापार के साथ–साथ उन चीजों के व्यापार पर भी जोर देना प्रारंभ किया जिसकी मांग ज्यादा थी। राजस्व की नीतियां लागू की गई जो सीधे किसानों के शोषण के लिए तैयार की गई थीं।

किसानों से संबंधित ब्रिटिश नीतियां

यह बात सर्वमान्य है, यहां तक कि अंग्रेज भी इस बात को मानते हैं कि जब "पश्चिम के साहसी व्यापारियों ने पहली बार भारत में प्रवेश किया तो उन्होंने पाया कि इस देश का औद्योगिक विकास यूरोप के अत्यधिक विकसित राष्ट्रों से किसी भी प्रकार कम नहीं है।" भारत प्राकृतिक संसाधनों, खनिज और कृषि दोनों में अत्यंत संपन्न था। इस बात

को भी सभी मानते हैं कि अंग्रेजों ने जानबूझ कर भारतीय माल पर ब्रिटेन ने भारी शुल्क लगाकर और भारत में ब्रिटिश समान के आयात को प्रोत्साहन देकर भारत के व्यापार और उत्पादन को पंगु बना दिया। कंपनी की नीतियों ने भारत को उत्पादक देश के स्थान पर कच्चे माल का उत्पादन करने वाला देश बना दिया। सन् 1769 में कोर्ट ऑफ डायरेक्टर ने यह आदेश जारी किया "बंगाल में कच्चे रेशम के उत्पादन को प्रोत्साहित किया जाये तथा रेशम बुनकरों को कंपनी की फैक्ट्रियों में काम करने के लिए बाध्य किया जाये और शासनतंत्र द्वारा भारी जुर्माना करके उन्हें अपने घरों में काम करने से रोका जाये।"

18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बंगाल से भारी मात्रा में धन बाहर जाने, इसके उद्योगों के नष्ट होने तथा भू–राजस्व में धीरे–धीरे वृद्धि किये जाने से बंगाल पूरी तरह नष्ट हो गया, जनसंख्या घटकर एक–तिहाई रह गई और प्रांत का एक तिहाई भाग 'जंगल बन गया जिसमें केवल जंगली जानवर रहते थे।' व्यापारिक कंपनी के शासन से बंगाल के कृषक और कारीगर ही पीड़ित नहीं थे, अपितु भारत के दूसरे भाग में स्थित व्यापार और उद्योग का भी पतन हुआ और वहां के कृषक भी अत्यधिक त्रस्त और पीड़ित हुए। आरंभिक काल के अंग्रेज शासकों ने राजनीतिक अधिकार पाकर भारतीयों के विनाश की कीमत पर जानबूझ कर ब्रिटिश व्यापार और वाणिज्य के विकास को बढ़ावा दिया। इसके साथ–साथ किसानों की निर्धनता से समस्त विश्व का सबसे धनी देश सबसे गरीब देश बन गया। ब्रिटिश नीतियों में हम ब्रिटिश भू–राजस्व नीतियों और किसान की स्थिति का वर्णन करेंगे।

ब्रिटिश भू–राजस्व नीतियां

ब्रिटिश सरकार ने भारत में राजस्व की एक जैसी नीति लागू नहीं की थी। ये विविध रूपों में थीं ओर राजस्व से संबंधित थी। इनका किसानों पर जो प्रभाव पड़ा वह निम्नांकित हैं–

1. इस व्यवस्था के अंतर्गत जमीदारों को भू–स्वामी घोषित किया और वे राजस्व वसूलेंगे, जिसका 1/11 भाग वे रख सकते थे, शेष कंपनी को जमा करना होता था। इस प्रकार जमीदारों को अपनी स्वेच्छा से शोषण और उत्पीड़न की छूट मिल गई। इससे जमींदारों की स्थिति तो शक्तिशाली हुई किंतु काश्तकार और भी निर्धन हो गए तथा जमींदारों के हाथों उत्पीड़न का शिकार हुए। जमीदारों और काश्तकारों के मध्य बिचौलिये के जन्म से काश्तकारों की स्थिति बदतर हो गई।
2. दूसरी ब्रिटिश नीति (रैयतवाड़ी व्यवस्था) से भी कृषकों को कोई खास फायदा नहीं मिला। इस नीति के अंतर्गत किसानों को भूमि का मालिकाना हक दे दिया गया। अब वे प्रत्यक्ष रूप से सरकार को राजस्व देने के लिए उत्तरदायी थे। रैयतवाड़ी (किसान) व्यवस्था में भूमि की पैमाइश दोषपूर्ण थी। कृषि उत्पादन का आकलन गलत था। भू–राजस्व की दर बहुत अधिक थी। इस नीति ने किसानों को मालिक तो बना दिया किंतु उनकी हालत में कोई सुधार नहीं हुआ। साथ ही राजस्व वसूल करने के नियम अत्यधिक कठोर थे। सरकार द्वारा यह घोषणा की गई कि जब तक लगान देते रहेंगे तब तक उन्हें बेदखल नहीं किया जाएगा

टिप्पणी

किंतु लगान का निर्धारण अत्यधिक था। परिणामस्वरूप कृषि उत्पादन की मात्रा में कमी आई। किसानों की ऋणग्रस्तता में वृद्धि हुई।

3. इस नीति में भू–राजस्व का निर्धारण महाल या संपूर्ण ग्राम के उत्पादन के आधार पर किया जाता था। इसमें वास्तविक स्थिति यह थी कि अधिकार सभी ग्रामवासियों को न देकर ग्राम के केवल बड़े परिवारों के कुछ समूहों को दिए गए थे। इस वर्ग ने संयुक्त स्वामित्व अधिकारों का लाभ उठाया और छोटे किसानों की स्थिति आमतौर पर काश्तकारों, बंटाइदारों और उपमालिकों जैसी थी।
4. इसी क्रम में नए भूमि संबंधों को लागू करने तथा निर्धारित धन की अदायगी की भू–राजस्व व्यवस्था का एक परिणाम यह हुआ कि ग्रामीण कृषि का पुराना उद्देश्य अर्थात गांव के उपभोग के लिए उत्पादन का स्थान अब बाजार के लिए उत्पादन ने लिया।

उत्पादन और उत्पादकों का निर्धारण अब एक नये उद्देश्य अर्थात बिक्री के उद्देश्य से किया जाता था और इस प्रकार इनका स्वरूप ही बदल गया। नई व्यवस्था के अंतर्गत किसान बाजार के लिए उत्पादन करने लगे, जिसके लिए उन्हें विकसित हो रहे परिवहन साधनों तथा व्यावसायिक पूंजी लगाने के लिए अधिक अवसर मिले, ऐसा वे इसलिए करते थे जिससे अधिक नगद धन की प्राप्ति हो और वे राज्य को भू–राजस्व अदा कर सके और महाजनों के चंगुल से खुद को मुक्त कर सके।

इसी व्यवस्था को कृषि के व्यवसायीकरण के नाम से जाना गया है जिसका उल्लेख पिछले पाठ में किया गया है। अब किसान भारतीय व विश्व बाजारों के लिए उत्पादन करने लगे जिससे हमेशा अनिश्चित रहने वाले बाजार के सभी दबावों का प्रभाव पड़ने लगा। गरीब किसानों को अपने उत्पाद फसल कटाई के ठीक बाद ही बिचौलियों को बेचने पड़ते थे क्योंकि उनके पास कोई आर्थिक बचत नहीं थी।

भारतीय किसानों के पास बुरे वक्त में काम आने वाली कोई आर्थिक बचत नहीं होती थी। किसानों को लगान के अतिरिक्त मिट्टी का तेल, खाद्य तेल और नमक जैसी आवश्यक वस्तुओं पर भी भारी करों का भुगतान करना पड़ता था।

ब्रिटिश नीतियों पर कुछ राष्ट्रवादियों की समीक्षाएं

19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में बुद्धिजीवियों ने ब्रिटिश शासकों की आर्थिक नीतियों का समर्थन किया क्योंकि उनका मानना था कि अंग्रेज सरकार अत्याधुनिक तकनीकी एवं पूंजीवादी संगठन द्वारा देश का आधुनिकीकरण कर रही है, लेकिन 1860 के पश्चात भारतीयों में राजनीतिक चेतना का तेजी से प्रसार हुआ। कुछ अन्य राष्ट्रवादी नेताओं ने भी इसी समय साम्राज्यवादी सरकार की आर्थिक शोषण की नीतियों को सार्वजनिक किया तथा लोगों के सामने यह स्पष्ट किया कि अंग्रेज सरकार एक सुविचारित योजना के तहत भारत को लूटने की प्रक्रिया में संलग्न है।

इन राष्ट्रवादी विश्लेषकों में दादा भाई नौरोजी (ग्रांड ओल्ड मैन ऑफ इंडिया) का नाम सबसे प्रमुख है। सर्वप्रथम इन्होंने ब्रिटिश शासन की आर्थिक नीतियों का विश्लेषण किया तथा अपनी पुस्तक 'पावर्टी एंड अनब्रिटिश रूल इन इंडिया' में धन के निकास का सिद्धांत प्रस्तुत किया। दादा भाई नौरोजी के अतिरिक्त जस्टिस महागोविन्द रानाडे,

रोमेश दत्त (इकोनॉमिक, हिस्ट्री ऑफ इंडिया), गोपाल कृष्ण गोखले, जी. सुब्रहमण्यम अय्यर तथा पृथ्वीचंद्र राय भी भारत के प्रमुख आर्थिक विश्लेषकों में एक थे। इन राष्ट्रवादी आर्थिक विश्लेषकों ने अपने अध्ययनों से यह सिद्ध किया कि किस प्रकार अनाज व कच्चे माल के रूप में भारत का धन इंग्लैंड भेजा जा रहा था और फिर किस प्रकार वह निर्मित उत्पादों का रूप लेकर भारतीय बाजार पर कब्जा कर रहा था। इन बुद्धिजीवियों ने यह मांग की कि भारतीय अर्थव्यवस्था का स्वरूप भारतीय हितों के अनुरूप तय किया जाए, जिससे देश का समग्र एवं आधुनिक ढंग से विकास हो सके। इन राष्ट्रवादियों का मत था कि भारतीय अर्थव्यवस्था को स्वतंत्र रूप से विकसित किया जाना चाहिए।

इन राष्ट्रवादी आलोचकों ने ब्रिटिश सरकार के इस वक्तव्य का तर्कपूर्ण खंडन किया कि भारत में विदेशी व्यापार के विकास एवं रेलवे की स्थापना से देश की प्रगति हुई। इन्होंने तर्क दिया कि भारत का विदेशी व्यापार देश के बिलकुल प्रतिकूल है। इस व्यापार ने भारत को कृषिगत वस्तुओं और कच्चे माल का निर्यातक तथा तैयार माल का आयातक बना दिया है। इन आलोचकों ने तर्क दिया है कि अंग्रेजों ने रेलवे का विकास अपने वाणिज्यिक हितों को पूरा करने के उद्देश्य से किया है न कि भारत को प्रगति के पथ पर अग्रसर करने के लिए।

राष्ट्रवादी आलोचकों ने अंग्रेजों पर यह आरोप लगाया कि उनके द्वारा अपनायी गई नीतियां एकमार्गी हैं तथा इससे अपरिपक्व, असमान एवं भेदभावपूर्ण प्रतिस्पर्धा में वृद्धि हो रही थी। वित्तीय क्षेत्र में दृष्टिपात करते ही ज्ञात होता है कि गरीब किसान करों व ऋण के बोझ से दबा हुआ था तथा ब्रिटिश पूंजीपति एवं नौकरशाह मालामाल हो रहे थे। उन्होंने भू–राजस्व में कमी करने, नमक कर का उन्मूलन करने, उच्च मध्यवर्गीय लोगों पर आयकर लगाने तथा इस वर्ग द्वारा उपभोग की जा रही वस्तुओं पर उत्पाद कर आरोपित करने की मांग की। इन आलोचकों ने तर्क दिया कि सरकारी व्यय का उद्देश्य उपनिवेशी हितों की पूर्ति करना होना चाहिए, जबकि विकास व कल्याण जैसे मुद्दे बिल्कुल उपेक्षित कर दिए गए थे।

अपनी प्रगति जांचिए

4. भारत में रेल निर्माण की सिफारिश करते हुए सिम्स ने अपनी रिपोर्ट ब्रिटिश संसद को कब सौंपी?

   (क) 1 जनवरी, 1845 (ख) 1 फरवरी, 1846

   (ग) 1 मार्च, 1846 (घ) 1 अप्रैल, 1847

5. भारत में रेलों के निर्माण के लिए लोहे का सामान कहां से मंगाया गया?

   (क) ब्रिटेन (ख) लंदन

   (ग) इंग्लैंड (घ) जापान

6. 'तटीय व्यापार' में सबसे महत्वपूर्ण स्थान किसका था?

   (क) बंबई (ख) कलकत्ता

   (ग) मद्रास (घ) कोचीन

टिप्पणी

3.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (क)
3. (ग)
4. (ग)
5. (ग)
6. (ख)

3.5 सारांश

प्रस्तुत पाठों में भारतीय कारीगरों की स्थिति से अवगत कराया गया। भारत की कारीगरी पूरे विश्व में प्रसिद्ध थी और भारतीय कारीगरों को अपने व्यवसाय से संतुष्ट थे। उनकी रोजी–रोटी सीमित थी इसलिए उनकी जरूरतें पूरी हो जाती थीं, किंतु ब्रिटिशों द्वारा भारत को उपनिवेश बनाने के बाद उनका एक मात्र उद्देश्य भारत को अपना बाजार बनाना है। अब वे अपना माल भारत लाकर मनमाने दामों में बेचने लगे जिससे भारत में हस्त–शिल्प का पतन होने लगा। कुछ भारतीय उद्योगों पर भारी मात्रा में कर लगाये ताकि भारतीय वस्त्र ब्रिटेन में बने ऊनी या रेशमी वस्त्रों से अधिक महंगे हो जाएं। भारतीय हस्तकला उद्योग पर भारी कर लगाये।

आर्थिक शोषण करना उपनिवेशवाद का मुख्य सिद्धांत था। 1833 में कंपनी की समस्त वाणिज्यिक गतिविधियों पर रोक लगा दी। इसके पश्चात ब्रिटिश वाणिज्यिक औद्योगिक पूंजीवाद वर्ग द्वारा खुलेआम भारत का शोषण किया गया। अब वे भारत से कच्चा माल ले जाते और तैयार माल भारतीय बाजारों में बेचते, जिससे भारतीय कारीगरों को धक्का लगा। मुक्त व्यापार की नीति के तहत ब्रिटेन में तैयार माल भारतीय बाजारों में बेचा जाने लगा। 18वीं सदी के आखिर में भारत में उत्पादकों का न के बराबर निर्यात होता था, 1850 तक आते–आते सूत का आयात भारतीय आयात में 31 प्रतिशत हो चुका था। इसका अर्थ यह नहीं है कि औद्योगीकरण के सिर्फ नुकसान ही हुए हों, इसके कुछ फायदे भी हुए थे– इसी के पश्चात एकीकृत सिविल कानून की स्थापना हुई। इसी चरण में संपूर्ण भारत में एक समान मुद्रा का प्रचलन हुआ। यह सत्य है कि भारत में रेलों का प्रचलन अंग्रेजों ने अपने लिए किया था किंतु इससे संचार में आसानी हुई और रोजगार की संभावना बढ़ी।

वि–औद्योगीकरण का विचार तो सर्वप्रथम दादा भाई नौरोजी ने दिया। जिसका समर्थन बाद के अन्य राष्ट्रवादियों ने भी किया। मॉरीश के अनुसार भारतीय कुटीर उद्योग में गिरावट का कारण वे ब्रिटिश अर्थव्यवस्था को मानते थे। इसके अतिरिक्त वे मानते थे कि भारत में राजनीतिक एकता का अभाव था। किंतु भारतीय इतिहासकार इस तथ्य से सहमत नहीं हैं। उनका मानना था कि भारतीय बुनकरों को उन्नत प्रौद्योगिकी का लाभ नहीं मिला, जिससे भारतीय वस्त्रों की उत्पादन लागत ब्रिटिश वस्त्रों की उत्पादन लागत के अपेक्षाकृत अधिक थी।

इसी क्रम में रेलों का विकास भी हो रहा था। इस प्रकार के विकास से पूर्णतः लाभ तो अंग्रेजों के व्यापार को मिला क्योंकि यह विकास भारतीयों के लिए नहीं था। इससे खनिज पदार्थों को खोजने में मदद मिली तथा आर्थिक प्रगति को बल मिलेगा तथा अप्रत्यक्ष रूप से यह श्रम तथा उत्पादन के अन्य कारकों को गतिशीलता देगी। रेलों के निर्माण के पीछे कुछ राजनीतिक तर्क भी थे। ब्रिटिश शासन यह जानता था कि भारतीय जनता ने ब्रिटिश शासन को स्वीकार नहीं किया है इसलिए भारतीयों द्वारा कभी भी विद्रोह किया जा सकता है इसलिए रेलों के विकास सैनिकों को शीघ्र ही एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचाया जा सकता था।

इसी दौर में कृषि के व्यवसायीकरण में किसान अब उन्हीं फसलों का उत्पादन करने लगा जिन्हें वह मंडियों में बेच कर नकद हासिल कर सकता था। 1929 में आर्थिक मंदी ने कृषि व्यवस्था को काफी कमजोर कर दिया। इस मंदी के दौर में कृषकों को अपना घर–जमीन सब बेच कर अपना गुजारा करना पड़ता था।

व्यवसायीकरण के दौर में कुछ फसलों का उत्पादन कुछ ही बढ़ा था। नकदी फसलों की खेती में उत्पादन बढ़ा। अर्थशास्त्री मानते हैं कि साधारतया भारतीय किसान अशिक्षित और रूढ़िवादी नजरिये से जकड़ा होने के कारण वे तर्कसंगत आर्थिक निर्णय नहीं ले सकते थे। इसी व्यवसायीकरण के कारण भारतीय कृषि में तेजी से महाजनी पूंजी का प्रसार होता था। उन्होंने खेतिहर मजदूरों की श्रेणी का संख्यात्मक विस्तार किया।

19वीं शताब्दी में भारतीय राष्ट्रवादियों ने ब्रिटिश नीतियों की आलोचना की और उनका मानना था कि अंग्रेज सरकार अत्याधुनिक तकनीकी एवं पूंजीवादी संगठन द्वारा देश का आधुनिकीकरण कर रही है। दादा भाई नौरोजी ने सर्वप्रथम इस ओर ध्यान आकर्षित किया कि ब्रिटिशर्स द्वारा अपनी नीतियों द्वारा भारत से धन का निष्कासन किया गया। हालांकि ब्रिटिशर्स इस मत को स्वीकार नहीं करते थे। अन्य भारतीय आलोचकों ने नौरोजी के इस मत को मान्यता प्रदान की। भारतीय राष्ट्रवादियों का यह मानना था कि ब्रिटिशर्स की एकमार्गी नीतियां केवल ब्रिटेन को लाभान्वित करने के लिए थीं।

3.6 मुख्य शब्दावली

- **औद्योगीकरण** : औद्योगीकरण वह प्रक्रिया है जिसमें आधारभूत उत्पादन कार्यों में परिवर्तन हो रहे हैं। परिवर्तन का संबंध किसी औद्योगिक उपक्रम के यंत्रीकरण, नवीन उद्योगों के निर्माण, नए बाजार की स्थापना तथा किसी नवीन क्षेत्र के विदोहन से है।
- **वि–औद्योगीकरण** : किसी देश या क्षेत्र में औद्योगिक क्रियाकलापों का क्रमशः कम होना तथा उससे संबंधित सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन।
- **हस्तशिल्प उद्योग** : हस्तशिल्प उद्योग से तात्पर्य ऐसे शिल्प से है जो कारीगरों के हाथ के हुनर पर आधारित होता है।
- **कृषि का व्यवसायीकरण** : कृषि के व्यवसायीकरण से तात्पर्य परिवार की खपत के बजाय बाजार में बिक्री के लिए कृषि फसलों के उत्पादन से है।

टिप्पणी

3.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. हस्तशिल्प उत्पाद से आप क्या समझते हैं?
2. वि–औद्योगीकरण किसे कहते हैं?
3. आर्थिक मंदी का अर्थव्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ा?
4. भारत के तटीय व्यापार को स्पष्ट कीजिए।
5. कृषि व्यवसायीकरण के चरणों को स्पष्ट कीजिए।
6. ब्रिटिश कालीन भू–राजस्व नीतियां क्या थीं?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. वि–औद्योगीकरण को समझाते हुए इसके कारणों का उल्लेख कीजिए।
2. किन कारणों से वि–औद्योगीकरण में कारीगरों का पतन हुआ?
3. भारतीय कारीगरों की अयोग्यता के कारणों का उल्लेख कीजिए।
4. रेल निर्माण के आर्थिक पक्षों की विवेचना कीजिए।
5. कृषि व्यवसायीकरण से क्या तात्पर्य है? कृषि व्यवसायीकरण के प्रभावों का वर्णन कीजिए।
6. ब्रिटिश भू–राजस्व नीतियों के प्रभावों की विवेचना कीजिए।

3.8 सहायक पाठ्य सामग्री

1. जथार, जी.बी., 'भारतीय अर्थशास्त्र', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
2. ड्यूवेट, केवल कृष्ण, 'भारतीय अर्थशास्त्र', डायरेक्टरेट ऑफ स्कूल डिवीजन, जालंधर।
3. वैश्य, एम.सी., 'आर्थिक विचारों का इतिहास', अर्थशास्त्र एवं लोक प्रशासन विभाग, जयपुर, रतन प्रकाशन मंदिर।
4. चंद्र, बिपिन, 'भारत में आर्थिक राष्ट्रवाद का उद्भव और विकास', अनामिका प्रकाशन।
5. चंद्रा, बिपिन, 'आधुनिक भारत में उपनिवेश्वाद और राष्ट्रवाद', अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली।
6. भारतीय अर्थव्यवस्था का विकास (कक्षा–11), एन.सी.ई.आर.टी., नई दिल्ली।
7. सिंह, वेद प्रकाश, 'भारत के प्रमुख उद्योग', आत्माराम एंड संस, दिल्ली।
8. 'The Economiic History of India 1857-2010', Oxford University Press, New Delhi.

इकाई 4 बड़े पैमाने के उद्योग एवं विदेशी व्यापार और भुगतान संतुलन

टिप्पणी

संरचना

4.0 परिचय

4.1 उद्देश्य

4.2 आधुनिक उद्योगों के उद्‌भव की पूर्व स्थिति

- 4.2.1 भारत में आधुनिक उद्योगों का प्रारंभ एवं स्थिति
- 4.2.2 भारत में पूंजीवादी निवेश – स्वदेशी और ब्रिटिश प्रभाव
- 4.2.3 सन् 1914 से पूर्व आधुनिक उद्योग : प्राकृतिक– सूत, जूट और लौह–इस्पात उद्योग एवं विकास में बाधाएं
- 4.2.4 प्रथम विश्व युद्ध और उद्योग : आर्थिक मंदी के विशेष संदर्भ में राष्ट्रवादी विवेचन
- 4.2.5 औपनिवेशिक राज्य और औद्योगिक विकास
- 4.2.6 औद्योगिक श्रम का प्रारंभ : बड़े पैमाने के उद्योगों में श्रम–शक्ति
- 4.2.7 मजदूर आन्दोलनों के प्रकार
- 4.2.8 औद्योगिक श्रमिकों की बदलती सामाजिक संरचना

4.3 विदेशी व्यापार और भुगतान संतुलन

- 4.3.1 विदेशी व्यापार की संरचना
- 4.3.2 भुगतान संतुलन का अवलोकन
- 4.3.3 विदेशी व्यापार की बदलती प्रकृति
- 4.3.4 वाणिकवाद के चरण
- 4.3.5 औद्योगिक और वित्तीय पूंजी
- 4.3.6 धन बहिर्गमन
- 4.3.7 ब्रिटिश सामुद्रिक व्यापार

4.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

4.5 सारांश

4.6 मुख्य शब्दावली

4.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

4.8 सहायक पाठ्य सामग्री

4.0 परिचय

अंग्रेजों के भारत आने से लेकर व्यापार हो या प्रशासन कोई भी विदेशी किसी भी दूसरे देश में बिना किसी स्थानीय की सहायता के सफल नहीं हो सकता। प्रारम्भ में (1600 ई) व्यापार करना और आगे चल कर अपने फायदे के लिए नियमों को तोड़ना तथा शासक के प्रतिद्वन्द्वियों की सहायता से सफलता प्राप्त की गयी। इससे स्पष्ट है कि अंग्रेजों की नीति प्रारम्भ से ही 'फूट डालो राज करो' की रही है।

प्रारम्भ में व्यापार शहरों में नये उद्योगों के लिये मिले जो कारखानों तक ही सीमित था किन्तु अब वे चीन से ऐसी फसल लाये थे जिसने बागान उद्योगों को बढ़ावा दिया और वह फसल थी चाय की। इसके साथ ही कॉफी के बागों का भी उद्योग प्रारम्भ हुआ। इसके साथ ही कुछ अन्य उद्योग जैसे– रबड़, चीनी, सीमेंट, दियासलाई, रासायनिक पदार्थ इत्यादि की शुरुआत की गई। ऐसा नहीं है कि ये उद्योग सफल नहीं रहे किन्तु उतार चढ़ाव की गति भी कभी तेज कभी धीमी हो जाती थी। जिसका प्रभाव श्रमिकों

टिप्पणी

पर भी पड़ता था। विश्व युद्ध के प्रभाव उद्योगों पर भी पड़े। जिन उद्योगों का सामान युद्ध के लिए आवश्यक था वे कारखाने दिन–रात काम करते थे इसलिए उन कारखानों की मशीनें या तो खराब हो गई या फिर घिस कर खराब होने को थी और युद्ध के पश्चात् तो स्थिति और भी ज्यादा खराब हो गई क्योंकि अर्थव्यवस्था को मंदी का सामना करना पड़ा, फिर भी कुछ उद्योग चमकते रहे। उद्योगों को सुधारने हेतु कुछ आयोगों (कमीशन) की स्थापना की गई। जिन उद्योगों को संरक्षण दिया गया वे तो फलने–फूलने लगे किन्तु संरक्षण के अभाव में कुछ उद्योग प्रारम्भ में ही नष्ट हो गए।

उद्योगों की स्थिति जितनी सरल लगती है, उतनी थी नहीं, क्योंकि भारतीय वस्तुओं से प्रतिस्पर्धा के लिए ब्रिटेन तो कभी चीन, जापान इत्यादि देश खड़े ही रहते थे। इसी का एक उदाहरण भारतीय उद्योग की प्रतिस्पर्धा में लंकाशायर सूती वस्त्र उद्योग को सुरक्षा प्रदान करने हेतु होम गर्वमेन्ट की नीतियां और क्रमबद्ध प्रयत्न हैं। भारत और इंग्लैण्ड के राजनैतिक और आर्थिक इतिहास का एक दुखद इतिहास है। एक विद्वान के अनुसार इंग्लैण्ड का भारत की राजनीतिक सत्ता ग्रहण करना और अवधारणा का मुख्य उद्देश्य लंकाशायर में उत्पादित कपड़े को एक मंडी प्रदान करना था। इसी प्रकार की प्रतिस्पर्धा चीनी इत्यादि उद्योगों के साथ भी रही थी।

एक तरफ तो पारंपरिक उद्योग उतार–चढ़ाव की सीढ़ियों पर ऊपर–नीचे हो रहे थे, वहीं दूसरी ओर नए उद्योग खुलते गए किंतु इसके साथ श्रमिकों की समस्याएं बढ़ती जा रही थी। सर्वप्रथम वे अपना घर, गांव छोड़कर शहरों में स्थापित उद्योगों व कारखानों में काम करने आये थे, किंतु शहरों में उनके रहने या फिर ये कहें आवास या भोजन की कोई सटीक व्यवस्था नहीं थी। साथ ही स्वास्थ्य संबंधी विषय भी उजागर होने लगे जैसे– छोटे से कारखानों में अधिक लोगों का एक साथ काम करना जहां गर्मी और ऑक्सीजन जैसी समस्यायें उठ खड़ी हुईं। रासायनिक कारखानों की स्थिति तो और भी खराब थी। स्वास्थ्य खराब होने पर इलाज का अभाव था। दूसरा इन कारखानों में श्रम अधिक और मेहनताना कम होता था। जिससे उनकी जीविका सुचारू रूप से नहीं चल पा रही थी। कुछ सुधार हुए, कुछ आयोग बनाए गए किंतु श्रमिकों को वास्तविक लाभ प्राप्त नहीं हो सका।

भारत के परंपरागत उद्योगों में लगे श्रमिक बेकार हो गए। लेकिन उन श्रमिकों को रोजगार देने के लिए न तो आधुनिक उद्योगों का विकास हुआ और न ही कृषि का विस्तार। देश की आर्थिक व्यवस्था का विकास "विदेशी शोषण प्रणाली का एक उपांग बन गया।" भारत में व्यापारिक स्वरूप में परिवर्तन, भारतीय संसाधनों के दोहन और उसकी आर्थिक दासता का साधन बन गया। इस परिवर्तन के कारण विश्व बाजार में भारतीय उत्पादकों के मूल्यों में इतनी आर्थिक मंदी आई कि व्यापारिक परिस्थितियां भारत के अत्यधिक प्रतिकूल हो गई।

भारत की बढ़ती हुई निर्धनता की कीमत पर अपने को समृद्ध बनाने के लिए ब्रिटेन द्वारा भारत के कच्चे माल, संसाधनों और धन की 'निरंतर लूट मार' को इस पृष्ठभूमि में दादाभाई नौरोजी, एम.जी. रनाडे जैसे राष्ट्रवादियों ने भारत से 'धन के बर्हिगमन' के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया। इन 'धन बर्हिगमन' के परिणामस्वरूप भारत का ऋण जो 1858 में 700 लाख पौण्ड था वह 1939 में बढ़कर 8,840 हो गया।

इस इकाई में ब्रिटिश काल में भारत की खोखली होती अर्थव्यवस्था को विस्तार से समझाया गया है।

टिप्पणी

4.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- आधुनिक उद्योगों के उद्‌भव से पूर्व की स्थिति से परिचित हो पाएंगे;
- भारत में पूंजी निवेश– स्वदेशी और ब्रिटिश प्रभाव का आकलन कर पाएंगे;
- सन् 1914 से पूर्व आधुनिक उद्योगों की विवेचना कर पाएंगे;
- औपनिवेशिक राज्य और औद्योगिक विकास का विश्लेषण कर पाएंगे;
- औद्योगिक श्रमिकों के उदय के कारणों को जान पाएंगे;
- व्यापार संतुलन और भुगतान संतुलन की अवधारणा का विवेचन कर पाएंगे;
- धन–निष्कासन का वर्णन कर पाएंगे;
- विदेशी सामुद्रिक व्यापार से परिचित हो पाएंगे।

4.2 आधुनिक उद्योगों के उद्‌भव की पूर्व स्थिति

विश्वयुद्ध के काल में भारत तीव्र गति से औद्योगिक विकास के पथ पर अग्रसर हुआ, यद्यपि यह विकास सुनिश्चित और सुनियोजित ढंग से नहीं हुआ और इसके फलस्वरूप भारत की स्वतंत्र सरकार को एक जटिल समस्या का सामना करना पड़ा, लेकिन युद्ध के पश्चात् एक सुनिश्चित योजना के तहत भारत औद्योगिक विकास की पटरी पर चल पड़ा। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् भारत की गणना विश्व के 8 सर्वाधिक उद्योग प्रधान देशों में होने लगी। देश की ज्वाइंट स्टॉक कंपनियों की कुल पूंजी 424.2 करोड़ रुपये तक पहुंच गई और कारखानों व फैक्टरियों में काम करने वाले श्रमिकों की संख्या भी 25 लाख से ऊपर थी। इस्पात और वस्त्र उद्योग देश की तीन चौथाई मांग को पूरा करने में समर्थ थे। चीनी, साबुन सीमेंट के मामले में देश पूरी तरह आत्मनिर्भर था और जूट के क्षेत्र में उसने संसार की अधिकांश जूट मण्डियों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया, किंतु युद्ध काल में कारखानों की मशीनों से डटकर काम लिया गया था जिसके फलस्वरूप अधिकांश मशीनें या तो पुरानी हो चली थी या घिस पिट गई थी। युद्ध के पश्चात् मंदी की स्थिति से पूंजीपति उद्योगों में पूंजी लगाने से डर रहे थे, जिसके कारण या तो उत्पादन घट गया या फिर कई उद्योग में वस्तुओं का निर्माण कम हो गया।

इसके अतिरिक्त कारखानों के उत्पादन में योग देने वाली भारी मशीनों इत्यादि का निर्माण करने वाले उद्योगों का सर्वथा अभाव था। मुद्रास्फीति का संकट, मजदूरों में असंतोष का संकट दिन प्रति दिन बढ़ता जा रहा था। विभाजन के फलस्वरूप देश की आर्थिक एकता नष्ट हो गई और बहुत से उद्योगों की हालत खस्ता हो गई। स्वतंत्रता के पश्चात् 1947 में एक त्रिदलीय सम्मेलन का आयोजन किया गया जिसमें शिक्षा पर अधिक जोर दिया गया। इस समय देश की जो आर्थिक स्थिति थी, उसके अनुसार विशेष तौर पर उत्पादन वृद्धि में योग देने वाले यंत्रों और उपकरणों के निर्माण पर बल दिया गया। इस अध्याय में हम आधुनिक उद्योगों की पूर्व स्थिति से परिचित होंगे।

टिप्पणी

4.2.1 भारत में आधुनिक उद्योगों का प्रारंभ एवं स्थिति

प्रारम्भ से ही ब्रिटिशों की नीति अपना मुनाफा और भारतीयों का शोषण करना था। यही स्थिति पहले कृषि में फिर उद्योगों की हुई। भारत की व्यापार नीति भी ब्रिटिश सरकार के इशारे पर चलती थी। अबाध वाणिज्य और मुक्तद्वार वाणिज्य के नाम पर भारत ब्रिटिश मालों की एक मंडी था। सूती–ऊनी वस्त्र, लोहे का सामान, पढ़ने–लिखने की सामग्री, इस प्रकार के सभी सामान का कच्चा माल ब्रिटेन जाने लगा और भारत की मंडी में बेचा जाने लगा। अब तक भारत किसी भी प्रकार का विरोध करने की स्थिति में नहीं था। परिणामस्वरूप ब्रिटेन का उद्योग भारत के सहारे विकसित होने लगा किंतु ऐसा बहुत समय तक नहीं चला, अब भारत ने बड़े उद्योगों की ओर रुख किया।

सर्वप्रथम 1851 में बम्बई के पास भारत की सर्वप्रथम स्पिनिंग एंड वीविंग कंपनी खोली गई। प्रारंभ में इसका काम काफी धीमा चलता रहा। 1861 तक देश में दर्जनों मिलें खुल गई थी। जिस समय अमेरिका का गृह युद्ध चल रहा था तब कपास के दाम बढ़ने से 1860–1870 तक कंपनी में कोई प्रगति नहीं हुई। 1872–73 में बम्बई प्रेसीडेन्सी में 18 और बंगाल में 2 सूती मिलें खुली। उत्तरोत्तर इनकी संख्या बढ़ती गई। 1879 में मिलों की संख्या 56 तक पहुंच गई। इसमें तीन चौथाई मिलें प्रेसीडेन्सी में थी और आधे से अधिक केवल बम्बई द्वीप में थी।

टैरिफ बोर्ड ने लोहा और इस्पात, सूती वस्त्र, कागज, चीनी, दियासिलाई आदि उद्योगों को संरक्षण दिया, किन्तु जिन उद्योगों को प्रोत्साहन नहीं मिल सका वे उद्योग नष्ट होने लगे। उधर ब्रिटेन ने अपने देश के उद्योगों को प्रोत्साहित किया लेकिन उसकी साम्राज्यवादी नीति के कारण भारत के उद्योगों की प्रगति धीमी ही रही। फिर भी यदा कदा भारत के उद्योग प्रगति तो करते ही रहे, जिनके आंकड़ों का विवरण निम्नलिखित है–

(i) सन् 1939

कुल बड़े कारखाने	सालाना और मौसमी	10466
प्रतिदिन काम करने वाले मजदूर	–	1751137

(ii) सन् 1942

ब्रिटिश भारत के कुल कारखाने	–	12527
प्रतिदिन काम करने वाले मजदूर	–	2282288

इस समय मुख्य कारखाने थे– रूई, कागज, जूट, खनिज द्रव्य, रासायनिक पदार्थ, रंग, चमड़ा, लकड़ी और पत्थर के कारखानों के अतिरिक्त प्रेस जैसे कारखाने भी शामिल थे।

अब हम कुछ आधुनिक उद्योगों के विषय में पढ़ेंगे कि वे उद्योग कौन से हैं और कैसे प्रारंभ हुए, उनकी स्थिति क्या थी–

आधुनिक उद्योगों की स्थिति

भारत में स्वदेशी भावना का उदय काफी देर से हुआ। जब तक यह एक शक्ति के रूप में उभर कर सामने आई तब तक काफी नुकसान हो चुका था। इसी दौरान बम्बई और अहमदाबाद में भी सूती मिलों की प्रगति हो रही थी। किंतु फिर भी ब्रिटेन की मुक्त

व्यापार की नीति भारत के औद्योगिक विकास में बाधक थी, इसके लिए जोरदार विरोध आंदोलन आरंभ किया गया। परिणामस्वरूप ब्रिटेन को झुकना पड़ा और मुक्त व्यापार की नीति का परित्याग करना पड़ा। इतना ही नहीं ब्रिटेन में भारत पर बने माल पर उत्पादन कर लगाने के लिए आंदोलन किया गया किंतु कुछ खास परिवर्तन नहीं हुआ। भारत में उद्योग प्रारम्भ तो हो गए थे किंतु अभी भी भारत ब्रिटेन की कठपुतली मात्र ही था। सरकार इस ओर कोई ध्यान नहीं दे रही थी। 1905 में स्वदेशी आंदोलन से जनता कुछ प्रभावित हुई साथ ही लोकमान्य तिलक और बाद में गांधी के प्रयत्नों से इस आंदोलन को लाभ मिला। इसी समय कर्जन ने भारत में व्यापार उद्योग विभाग भी खोला।

1916 के औद्योगिक कमीशन ने भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन देने की जोरदार सिफारिश की। 1917 में युद्धोद्योग की सहायता के लिए स्थापित किए गए भारतीय म्यूनीशन्स बोर्ड ने भारतीय कंपनी को बड़े–बड़े आर्डर दिए। युद्ध काल में जहाजरानी के संकटग्रस्त होने से देश के लोहे, कोयले अन्य वस्तुओं को सहज ही प्रोत्साहन मिल गया। सरकार ने आश्वासन दिया कि युद्धकाल के पश्चात् भी प्रोत्साहन जारी रहेगा, किन्तु ऐसा नहीं हुआ, हालांकि 1924 में टैरिफ बोर्ड की स्थापना की गई। राष्ट्र की जोरदार मांगों और साथ ही इस बोर्ड की सिफारिशों के फलस्वरूप भेदमूलक संरक्षक नीति को जन्म दिया गया। व्यापार विभाग ने अनेक उद्योगों की ओर से उपस्थित की गई प्रार्थनाओं के मार्ग में अनेक बाधाओं डालकर उन्हें आरंभ में ही समाप्त कर दिया। टैरिफ बोर्ड ने लोहा और इस्पात, सूती वस्त्र, कागज, चीनी, दियासिलाई आदि उद्योगों को संरक्षण दिया, पर अन्य अनेक उद्योग प्रोत्साहन के अभाव में खत्म हो गए।

उद्यमियों के छुट–पुट प्रयत्नों से भारतीय उद्योगों का उत्थान संभव नहीं था। प्रथम विश्व युद्ध के बाद के वर्षों में अनेक आधुनिक नए उद्योगों की स्थापना हुई और उन्होंने उन्नति भी की। भारत में पूंजीवादी औद्योगिक पद्धति के देरी से और धीमी गति से उभरने के अनेक कारण थे। सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियां पूंजीवादी वर्ग के उदय के अनुकूल नहीं थी। ईस्ट इण्डिया कंपनी ने पूंजीपति संगठन की महत्ता का समुचित रूप से आदर किया और प्रारंभ से ही मध्यस्थ की भूमिका को समाप्त करने की दृष्टि से पूंजीपति उत्पादन को प्रोत्साहित किया, किंतु इस व्यवस्था को पूर्णतः अपनाना मुश्किल दिख रहा था क्योंकि यहां के लोग न तो मानसिक रूप से तैयार थे न ही तकनीकी दृष्टि से अवगत थे।

यह सत्य है कि एक शताब्दी बाद तक सूत और जूट दो ही बड़े पैमाने के आधुनिक उद्योग थे, लेकिन कोयला, खाद्यान्न, लौह–इस्पात और रेलवे कारखानों की सीमित शुरुआत ही हुई थी। इस प्रकार अधिक व्यापक स्तरीय और तीव्र औद्योगिक विकास की स्थिति बन चुकी थी। भारतीय महाद्वीप पर आधुनिक और विदेशी व्यापार का विस्तार और आधुनिक बैंकिंग और राजस्व का उद्‌भव, विधि नियमों की स्थापना, राजनैतिक स्थायित्व और शांति के वातावरण जैसी व्यापारिक क्रांति की सारी पूर्व शर्तें शताब्दी के बदलते ही पूरी हो चुकी थी। 1850 का वर्ष समय विभाजक के रूप में देखा जा सकता है, क्योंकि उसके पश्चात् ही आधुनिक उद्योगों का निरूपण हुआ। उद्योगों का विवरण निम्नलिखित है–

बागान उद्योग– बागान को उद्योग इसलिये कहा गया है क्योंकि यह कृषि उत्पादन पर आधारित है। भारत में फैक्ट्री लगने के कुछ समय पश्चात् ही भारत में बागानों का

टिप्पणी

आविर्भाव हुआ। बागानों की वित्तीय व्यवस्था और इनका प्रबंधन भी आधुनिक यूरोपीय प्रबंध व्यवस्था पर आधारित थी। प्रारम्भ में तो यह व्यक्तिगत पूंजीपतियों द्वारा प्रारंभ किये गये किंतु 19वीं शताब्दी में इसे फैक्ट्री व्यवस्था द्वारा अपनाया गया। अब ये बागान फैक्ट्री से कम नहीं थे क्योंकि यहां अब स्थायी श्रम शक्ति की नियुक्ति आधुनिक मशीनों और नये उत्पादन तरीकों का प्रयोग होने लगा था।

कुछ बागान उत्पाद के उदाहरण

(1) चाय– चीन में चाय का प्रचलन बहुत पहले से था, भारत में चाय का प्रचलन 150 वर्ष पूर्व का ही है। 19वीं शताब्दी में ईस्ट इण्डिया कंपनी द्वारा यूरोप के साथ व्यापार की यह एक मुख्य वस्तु थी। चीन से चाय के पौधों और बीजों का भारत में उत्पादन के लिए आयात के प्रयत्न किए गए। 1833 में चीन के साथ एकाधिकार समाप्त करके लार्ड बैंटिक ने एक कमेटी चीन भेजी जो अपने साथ चीनी चाय के पौधे, बीज और श्रमिक लेकर आए। यहीं से भारत में चाय उद्योग का सूत्रपात हुआ।

चाय उद्योग फैल रहा था किंतु 19वीं शताब्दी के 5वें दशक में कठिनाइयों से गुजरा। 'असम टी कंपनी' में कोई लाभांश नहीं दिया गया तथा पूंजी का अपव्यय हुआ। तथापि इन प्रारंभिक कठिनाइयों को शीघ्र ही दूर किया गया और कंपनी ने अच्छा लाभ कमाया। इसके बाद तो झाड़–झंखाड़ वाले जंगलों की मांग बढ़ी और भाव दिन दूने और रात चौगुने बढ़ते गए। एक ही बाग का क्रय–विक्रय इतना अधिक हो जाता था कि बेचने वाले को ही अपने माल का पता नहीं चलता था। भूमि के सट्टे के स्वर्ण काल में सरकार पर बागान के भावी स्वामियों द्वारा दबाव डाला जा रहा था, इस प्रकार भूमि को लेकर जबरदस्त होड़ लगी हुई थी, जिसमें न तो जनजातियों के हितों की कोई सुरक्षा थी, न ही अनुदान के लिए शर्त अथवा गारंटी थी। इस प्रकार की स्थिति से विनाश निश्चित लग रहा था, इसी कारण छठे दशक में कंपनी को हानि का सामना करना पड़ा। इसके पश्चात् जब कृषि में कुछ सुधार हुआ और प्रति एकड़ उत्पादन में वृद्धि हुई। असम में 1850 में 1 से बढ़कर 1871 में 295 हो गई। कृषि का क्षेत्र 1876 एकड़ से बढ़कर 31000 एकड़ तक हो गया और उत्पादन भी बढ़कर 62 लाख पौंड हो गया।

असम में उतनी तेजी से विस्तार नहीं हुआ, जितना बंगाल और मद्रास में हुआ। शताब्दी के बदलते–बदलते चाय निर्यातक के रूप में चीन का स्थान भारत ने ले लिया। 1885–1905 के बीस वर्षों में क्षेत्र में 85% की वृद्धि हुई और उत्पादन में 192% वृद्धि हुई। उत्पादन की क्वालिटी और सस्ते मूल्य के कारण चाय उत्पादन में ही नहीं वरन् निर्यात में भी भारत ने अपना शीर्ष स्थान बना कर रखा।

प्रारंभ में यही माना जाता रहा कि चाय के बागान पर्वतीय क्षेत्रों में फले–फूलेंगे, किन्तु बंगाल व दक्षिण भारत में चाय के बागान का अधिक विस्तार हुआ जो प्रारंभ में छोटी–छोटी इकाइयों के संगठित होने के कारण अधिकाधिक भूमि ग्रहण से व्यक्तिगत इकाइयों का विस्तार हो गया। बाद में स्वामित्व की अनेकों इकाइयों ने स्वयं को संयुक्त स्टाक कम्पनियों में परिवर्तित कर लिया। परिणामस्वरूप एक संगठित रूप सामने आया और प्रबंधकारिणी समिति व्यवस्था का आर्विभाव हुआ जिसके कारण संगठित इकाई की महत्वपूर्ण प्रक्रिया के पूरा होने में शीघ्रता आई। कुछ समय पश्चात् आसाम के बागान कलकत्ता के व्यवस्थापक एजेंटों के नियंत्रण में आ गए। जबकि दक्षिण की बागान

कंपनियां, फार्मों के नियंत्रण में थी। शताब्दी परिवर्तन के साथ मालिकाना अधिकार यूरोपियों से भारतीयों के हाथों में आना स्पष्ट हो गया था। इस उद्योग में समस्त कार्य हाथों से ही होना था, जैसे बोना, रोपना, पत्तियां तोड़ना इत्यादि। श्रमिकों में महिला और पुरुषों की संख्या समान थी। पत्तियां तोड़ने के काम में बच्चों को भी लगाया जाता था। अगले 20 वर्षों में उद्योगों में तेजी आई और सन् 1902 में 4,01,457 व्यक्ति स्थायी रूप से और 81,642 अस्थायी रूप से अर्थात् एक एकड़ पर 1008 व्यक्तियों के औसत से कार्यरत थे।

भारतीय चाय का महत्वपूर्ण उपभोक्ता ब्रिटेन ही था और लंदन यूरोप की अग्रणी चाय मण्डी था। हमारे चाय उत्पादन का 85% सीधे ब्रिटेन को निर्यात होता था और इसकी बिक्री लंदन में सप्ताह में 2 बार आयोजित विशेष नीलामी द्वारा होती थी। इसलिए भारतीय चाय का मुनाफा इन नीलामियों से जुड़ा हुआ था।

(2) कॉफी– सर जार्ज वाट के अनुसार 17वीं शताब्दी में मूरीश व्यापारी द्वारा इसे भारत लाया गया था। कॉफी की पहली फर्म स्थापित करने का मांग पत्र 1823 में दिया गया। कॉफी बागान के असफल प्रयत्न अनेक स्थानों पर किए गए। बंगाल में 1930 के वर्ष में लगभग 4000 एकड़ भूमि पर कॉफी की खेती थी किंतु इसके परिणाम बहुत अधिक उत्साहवर्धक नहीं थे। बंगाल और कोयम्बटूर क्षेत्रों में सफलता के पश्चात् मैसूर कॉफी उत्पादन का महत्वपूर्ण क्षेत्र बन गया। भारतीय महाद्वीप में कुर्ग, नीलगिरि और मालाबार तथा श्रीलंका अन्य कॉफी उत्पादक क्षेत्र थे। 1860 से 1870 के दशक में दस गुनी वृद्धि हुई और आगे भी चलती रही। उसी बीच कुछ अप्रिय घटनायें घटी, एक तरफ चाय की वृद्धि को झटका लगा तो दूसरी तरफ कॉफी की वृद्धि भी बच नहीं पायी, तथा ब्राजील की सस्ती कॉफी जो विश्व बाजार में 7वें दशक से छायी रही। ब्राजील में 1889–96 में कॉफी की वृद्धि हुई लेकिन बाद की राजनैतिक परेशानियों के कारण निराशाजनक स्थिति शुरू हो गई।

जहां 1885 में कॉफी की वृद्धि 2,37,500 एकड़ और दस वर्षों में 2,74,000 एकड़ हो गई और प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व कॉफी उत्पादन का क्षेत्र घट कर 2,03,677 एकड़ रह गया। 1895 में 4 करोड़ पौंड का सर्वाधिक उत्पादन रहा वहीं इसके बाद के वर्षों में 2 करोड़ पौंड रह गया। क्वालिटी की दृष्टि से भी भारतीय कॉफी विशेष रूप से अच्छी थी और इसका मूल्य सामान्यतः ऊंचा ही रहा। इस उद्योग में श्रम की आवश्यकता भी कम थी और उत्पादन क्षेत्र भी, असम के वर्जित क्षेत्रों के विपरीत, समान और स्वस्थ जलवायु वाले थे। केवल कुछ बड़े बागानों में कॉफी सरस फल से गूदा हटाने के लिए मशीनों का प्रयोग होता था।

अन्य बागानों की भांति कॉफी भी एक यूरोपीय उद्योग था। जहां यूरोपीयों की कुछ कंपनियां पंजीकृत थी वहां अधिकांश बागानों की व्यवस्था यूरोपीयन, एंग्लो इंडियन और भारतीय व्यक्तियों द्वारा होती थी। इसमें श्रम की आवश्यकता पूरे साल भर निश्चित और नियमित नहीं थी। चाय की अपेक्षा कॉफी के बागानों में श्रमिकों की आवश्यकता आधी होती थी। इस प्रकार कॉफी उद्योग के उत्कर्ष के वर्षों में भी अधिकतम श्रमिकों की संख्या एक लाख के लगभग होती थी। सर वाट के अनुसार 1906 में 31,827 बागानों में 24,447 व्यक्ति स्थायी रूप से और 46,044 अस्थायी रूप से काम करते थे। साथ ही इनमें महिलाओं और बच्चों की संख्या काफी कम थी।

टिप्पणी

(3) नील– नील की खेती भारत में बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। नील का पौधा मुख्य रूप से उष्णकटिबंधीय इलाकों में ही उगता है। 13वीं सदी में इटली, फ्रांस और ब्रिटेन के कपड़ा उत्पादक कपड़े की रंगाई के लिए भारतीय नील का इस्तेमाल कर रहे थे। 18वीं सदी के अन्त तक भारतीय नील की मांग और बढ़ गई थी। 1783 से 1789 के बीच दुनिया का नील उत्पादन आधा रह गया था। यूरोप में नील की बढ़ती मांग को देखते हुए कंपनी भारत में नील की खेती बढ़ाने के रास्ते ढूंढने लगी। 18वीं सदी के आखिरी दशकों से ही बंगाल में नील की खेती तेजी से फैलने लगी थी। बंगाल में पैदा होने वाला नील दुनिया के बाजारों पर छा गया। 1788 में ब्रिटेन द्वारा आयात किए गए नील में भारतीय नील का हिस्सा केवल 30% था। 1810 में ब्रिटेन द्वारा आयात किए गए नील में भारतीय नील का हिस्सा 95% हो चुका था।

भारत में नील के पारंपरिक स्रोत गुजरात, उत्तर प्रदेश, पंजाब और बंगाल थे। 1780 में व्यक्तिगत पूंजी भी लगाई गई किंतु हानि उठानी पड़ी। यद्यपि कुछ यूरोपीय और भारतीय उद्यमियों ने व्यक्तिगत तौर पर खेती का काम मद्रास और उत्तर–पश्चिम प्रांत जैसे दूर–दराज के क्षेत्रों में फैलाया। व्यापार पर कंपनी का एकाधिकार होते हुए भी निजी स्तर पर भी निर्यात को प्रोत्साहन दिया गया। नील बागान यूरोपीय नियंत्रण में विकसित हुआ था किंतु यूरोपियन वास्तव में नील के 'बागान स्वामी' नहीं थे। नील उद्योग का संगठन अन्य बागान उद्योगों से भिन्न भी था। यूरोपीय 'बागान स्वामी' प्रत्यक्ष रूप से नील की खेती नहीं करते थे। वे केवल उत्पादकों को फसल पर अग्रिम धन देकर निश्चित मूल्य पर माल देने के लिए बांध देते थे। बागान के विपरीत, बड़े पैमानों पर उत्पादन नियमित रूप से नहीं था और परिणामस्वरूप, इस उद्योग को उत्पादन के आधुनिक तरीकों का कोई लाभ नहीं मिला। यद्यपि कृषकों को अन्य फसलों के साथ–साथ या उनके स्थान पर उत्पादन की आकस्मिक सुविधा नहीं मिलती थी। यहां पर भी भारतीय कृषकों की यातना का इतिहास है। छठे दशक में एक नील आयोग ने बागान स्वामियों और इनके एजेंटों की छानबीन की और एक यन्त्रापूर्ण स्थिति को उद्घाटित किया। आर.सी. दत्त ने लिखा है कि बंगाल में नील उत्पादकों का शोषण आधी शताब्दी तक चलता रहा, जब तक कि बंगाल निवासियों ने एकजुट होकर इसका विरोध नहीं किया। 1859 में यूरोपियनों द्वारा बंगाल में नील की खेती समाप्त हो गई। असन्तुष्ट और उपद्रव के साथ 1917 का चंपारन सत्याग्रह चलता रहा।

गुजरात और पश्चिमी भारत से नील उत्पादन समाप्त हो गया। नील उत्पादन में बागान के नये तरीकों को सुविधापूर्वक अपनाने के उद्देश्य से वैस्टइंडीज से अनुभवी व्यक्ति लाए गए। 1860 के आयोग के बाद नील उत्पादन बंगाल से बाहर ले जाया गया। 19वीं शताब्दी में उत्पादन में वृद्धि होती रही। तभी बाजार में जर्मन सिंथेटिक रंग आ गया, जो नील की खेती के लिए कठिन प्रतियोगिता थी, परिणामस्वरूप 1896 से 1914 के बीच नील के निर्यात में अचानक गिरावट आई। 1912–13 में एक फैक्ट्री का मूल्य 232 'रुपये मन' से गिरकर 130 'रुपये मन' तक आ गया। निर्यात मूल्य 1914–15 में 6 लाख तक था जो 1916–17 में 15 लाख पौंड तक पहुंच गया, किन्तु कृषक मुद्रास्फीति से दबे ही रहे और अंततः कोलतार रंगों के कारण इस उद्योग का खात्मा हो गया।

• **सूती वस्त्र उद्योग**– 1818 में कलकत्ता के समीप बोवरीह नामक स्थान पर स्थापित मिल ऐतिहासिक दृष्टि से प्रथम मिल थी, किंतु इसे सफलता नहीं मिली। आने वाले वर्षों में सूती वस्त्र उत्पादन केंद्र के रूप में यह पहली मिल थी जिसने अपनी प्रभुसत्ता

स्थापित की। इसका नाम बांबे स्पिनिंग एण्ड कम्पनी था, इसने उत्पादन 1854 में प्रारंभ किया। एक अमेरिकी ने भड़ौच में एक मिल स्थापित की। अगले 10 वर्षों में दर्जन से ज्यादा मिलों की स्थापना हो गई। निम्नलिखित तालिका द्वारा आगामी 50 वर्षों तक का विकास देखा जा सकता है–

सूत्री वस्त्र उद्योग की प्रगति

वर्ष	मिलों की संख्या	तकुवों की संख्या	करघों की संख्या
1851	1	–	–
1861	12	3,38,000	–
1879	58	15,00,000	–
1886	90	22,02,602	16,926
1896	155	39,84,023	37,303
1901	194	49,92,249	41,815

अमेरिका के गृह युद्ध ने सूती वस्त्र उद्योग को बढ़ावा दिया लेकिन सन् 1862–66 के विशाल सूती वस्त्र दुर्भिक्ष ने सूती वस्त्र उद्योग को बुरी तरह पराजित किया। सूती वस्त्र के निर्यात में वृद्धि ने बंबई मिलों को वास्तविक रूप से शक्ति संपन्न कर दिया। 1870 में आर्थिक जगत में हालात कुछ सामान्य होने के बाद बंबई के वस्त्र उद्योग की प्रगति काफी तेजी से हुई। 19वीं शताब्दी के अंतिम वर्ष अकाल, महामारी और आर्थिक संकट के वर्ष के रूप में पहचाने जाते थे। विनिमय संकट से धागे के निर्यात पर भी संकट के बादल छाने लगे। वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में अमेरिकी सूत्र वस्त्र में अटकलबाजियां लग रही थी। इससे सूती वस्त्र उद्योग में वृद्धि हो रही थी और मोटे कपड़े का उत्पादन अलाभकर हो गया था। उद्योगों को दूसरा झटका चीन के मार्किट की अव्यवस्था से लगा जो भारतीय धागे की मुख्य मंडी थी। 1907 में सामान्य मंदी के बावजूद प्रगति की गति युद्ध के वर्षों तक बनी रही। बम्बई की मिलें, जिन्होंने सन् 1905 में 2.35 करोड़ रुपये का लाभ कमाया था। लगातार अपने लाभ में गिरावट अनुभव करती गई और 1910 से 1914 तक वे संकटग्रस्त रही।

• **रासायनिक उद्योग**– रासायनिक उद्योगों को 'भारी' व 'हल्के' दो रूपों से प्रयोग में लाया जाता है। 'भारी' रासायनिक उपभोक्ता वस्तुओं के लिए अधिक मात्रा में कच्चे माल और उसकी प्रक्रिया सामग्री होती थी। जबकि 'हल्के' रासायनिक सीधे उपभोग के लिए होते थे। रासायनिक उद्योगों में गंधक प्रमुख रूप से प्रयोग होता था। यह अनेक प्रकार के उद्योगों के काम में आती है, जैसे– सूती वस्त्र, उर्वरक, शराब, पैट्रोल, चर्म, धातुएं, रंगरोगन, चीनी, शोधक आदि। इन उद्योगों में भारत के पास कोई जाने पहचाने गंधक भंडार नहीं थे और युद्ध के दौरान और बाद में विदेशों से इसकी पूर्ति नियन्त्रित थी। गंधक का आयात 1950 में 55,326 टन तथा 1953 में 73,941 था। इसकी शुरुआत युद्ध पूर्व हो गई थी, लेकिन इसका विकास मुख्य रूप से युद्ध समय में ही हुआ। गंधकीय तेजाब का उत्पादन 1937–38 के 26,755 टन से बढ़कर 1944–45 में 59000 टन हो गया और 1950 में बढ़ कर 102,480 टन हो गया।

सोडा क्षार दूसरा महत्वपूर्ण रसायन है। जिसका प्रयोग मुख्य रूप से कांच, साबुन, रबड़, कागज, सिरैमिक वस्त्र उद्योग में होता था। कोयला, कोक, अमोनिया

टिप्पणी

आदि उद्योगों के लिए कच्चा माल देश में ही उपलब्ध था। इसका उत्पादन 1941 में 11,614 टन था जो बढ़कर 1950 में 45000 टन हो गया। स्थापित कारखानों की क्षमता 90,000 टन थी। 1945–46 में आयात 78000 टन, 1948–49 में 1,63,000 टन पर पहुंचकर अगले वर्ष गिरकर 12000 टन हो गया। युद्ध से पूर्व किसी महत्वपूर्ण रसायन का कोई उत्पादन नहीं होता था। युद्ध के दौरान, संयंत्र और मशीनों के प्राप्त करने में कठिनाइयों के कारण उद्योग अधिक प्रगति नहीं कर सका। युद्ध के बाद उत्पादन में वृद्धि हुई और स्थापित कारखानों की क्षमता 1946 में 12000 टन से बढ़कर 1950 में 18000 टन हो गई।

• **उर्वरक उद्योग**– भारत में पहले कोई उर्वरक उद्योग नहीं था। अमोनियम सल्फेट और सुपरफास्फेट के उत्पादन में केवल कुछ शुरुआत की गई थी। युद्ध से पूर्व तक सभी आवश्यकताओं की पूर्ति आयात से की जाती थी। यद्यपि युद्ध के बाद उत्पादन शुरू हो गया था, 'ग्रो मोर फूड कैंपेन' के दौरान मांग लगभग दुगनी हो गई थी और उसी अनुपात में आयात में वृद्धि हुई। आयात मुख्यतः अमोनियम सल्फेट का था। 1953–55 में आयात का औसत 133000 टन प्रतिवर्ष था। इसका सर्वप्रथम उत्पादन मैसूर (1938) में प्रारम्भ हुआ। इसकी क्षमता प्रतिवर्ष 6,600 टन थी। फिर 1949 में 50,000 टन क्षमता के 'फर्टिलाइजर्स एंड कैमिकल्स ट्रावनकोर लिमिटेड' की स्थापना की गई। 1951 में सिंदरी की सबसे बड़ी सरकारी फैक्ट्री 1000 टन प्रतिदिन की क्षमता के साथ शुरू हुई और पहले वर्ष अपनी क्षमता का 2 तिहाई भाग पूरा कर दिया था। 1950 के 47,304 टन से सन् 1954 में 3,40222 टन की सीधी वृद्धि सिंदरी के कारण हुई। 1943 में 'फूडग्रेन्स पॉलिसी कमेटी' खाद्यान्न नीति ने 3,50000 टन की वार्षिक क्षमता के एक उर्वरक संयंत्र लगाने की सिफारिश की और 1946 में निर्माण कार्य शुरू हुआ। 1950 में फैक्ट्री तैयार हुई। यद्यपि देर से ही सही किंतु सच्चे अर्थों में आधारशिला रखी गई और सिंदरी कारखाना ऊंचाइयों का प्रतीक बन गया जिन तक शायद ही कोई निजी क्षेत्र पहुंच सकता था।

उद्योग के भावी विकास को निश्चित करने के लिए यह अत्यधिक आवश्यक था कि गंधक की पूर्ति की मात्रा को बढ़ाने के लिए कदम उठाए जाएं। इसके लिए देश में उपलब्ध जिप्सम और पाइराइट भंडारों के प्रयोग के लिए स्वदेशी भंडार से ही प्रयत्न करने आवश्यक थे।

चीनी– चीनी उद्योग नये प्रकार का उद्योग था, अतः इसे सर्वप्रथम संरक्षण 1932 ई. में मिला। 5वें दशक तक भारत छठे सबसे बड़े चीनी उत्पादक तथा दूसरे सबसे बड़े गन्ना उत्पादक के रूप में उभर आया था। केवल कच्ची खांडसारी के उत्पादन में भारत सर्वोपरि था। 1938 से 1956 के मध्य चीनी उत्पादन की प्रगति निम्नांकित है–

1938–1956 में चीनी उद्योग की प्रगति

वर्ष	फैक्ट्रियों की संख्या	चीनी उत्पादन (टन)
1938–39	132	642
1939–40	138	1208
1943–44	145	1201
1945–46	138	923
1950–51	139	1116

1951–52	140	1497
1953–54	135	1001
1954–55	137	1590
1955–56	143	1850

कागज उद्योग– कागज मिलों की संख्या 1913 में 5 से बढ़कर 1937 में 9 हो गयी। युद्ध के अन्त तक देश में 1,04,000 टन प्रतिवर्ष कागज उत्पादन करने वाली 15 मिलें थी। पारदर्शी कागज, सिगरेट, टिशु, सैसुलोज फिल्म, क्रोम कागज, रेयन, आर्ट आदि के उत्पादन से उद्योग के काम में विभिन्नता आयी। विश्व भर में प्रतिवर्ष दो पौंड प्रति व्यक्ति की निम्नतम खपत के समक्ष जापान में 50 पौंड और यूरोप में 100 पौंड से भी अधिक थी। बढ़ती साक्षरता, अधिक विपणन एवं वितरण की आवश्यकताओं के कारण भारत कागज के लिये फलता–फूलता बाजार था।

सीमेंट उद्योग– सीमेंट की खपत युद्ध पूर्व के वर्षों के 7 पौंड प्रति व्यक्ति से बढ़कर 1944 में लगभग 11 पौंड और 1956 में 30 पौंड तक पहुंच गयी। लेकिन पश्चिमी देशों की 500 से 600 पौंड की खपत से यह काफी कम थी। युद्ध के बाद सीमेंट मशीनों के निर्माण में संतोषजनक प्रगति हुई थी। ए.सी.सी. कम्पनी ने चक्रीय भट्ठों को बनाना शुरू किया और एक अमेरिकी फर्म– क्लिंकर कूलर्स एण्ड क्लिंकर ब्रेकर्स की तकनीकी सहभागी में सीमेंट निर्माण की योजना बनाई। अन्य इकाइयों ने अपने–अपने कारखानों में मशीनों के आवश्यक भागों को बनाना प्रारम्भ किया।

इस प्रकार भारत की आजादी के बाद भी उद्योगों की हालत कोई बहुत अच्छी नहीं थी। विश्व मंडी में प्रतिस्पर्धा बढ़ती जा रही थी। भारतीय किसानों और श्रमिकों की यदि बात करें तो उसमें कोई सुधार नहीं था। उद्योग का स्वरूप गिरता, बनता ही दिखाई दे रहा था। कुछ उद्योग युद्ध से फले–फूले और कुछ उद्योगों में युद्ध के कारण गिरावट देखी गयी।

4.2.2 भारत में पूंजीवादी निवेश – स्वदेशी और ब्रिटिश प्रभाव

भारत ने अब औद्योगिक क्रान्ति के प्रभाव के दूसरे चरण में प्रवेश किया। ब्रिटिश उद्योगों का नेतृत्व 'मर्चेन्ट कैपिटल' के समय भारत से बाहर की गयी भारतीय पूंजी द्वारा किया गया था। दूसरे शब्दों में प्रत्यक्ष लूट के इस युग में ब्रिटेन के पूंजीवादी विकास का मार्ग सुगम हो गया। औद्योगिक क्रान्ति ने एक नये सामाजिक वर्ग पूंजीवादी उद्योगपति वर्ग को उभारा जो ब्रिटिश अर्थव्यवस्था में प्रमुख तत्व बन गये। इन पूंजीपति वर्गों को औपनिवेशिक प्रशासन का समर्थन और नीति प्राप्त थी। वास्तव में ब्रिटिश सरकार की नीतियों के उद्देश्य अनुसार ब्रिटिश पूंजीपति वर्ग द्वारा शोषण का नया चरण 1813 में तब प्रारम्भ हुआ जब ब्रिटिश शासक भारत के साथ व्यापार में ई.आई.सी. के एकाधिकार को नष्ट करने में सफल रहे। ब्रिटिश शासक के हितों की उप–सेवा करने के लिये यह आवश्यक था कि भारत द्वारा कुछ उत्पादों का ब्रिटेन को निर्यात करना चाहिए था।

वित्त साम्राज्य का प्रारम्भ 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में शुरू हुआ था। ब्रिटेन ने भारत को अपने सबसे महत्वपूर्ण उपनिवेश के रूप में रखा। जहां ब्रिटिश राजधानी एक आश्रय बनाए रखने की उम्मीद कर सकती थी। उसके अस्तित्व के लिये ब्रिटेन ने भारत की राजधानी को लूट कर भारत के विभिन्न क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर निवेश का फैसला

टिप्पणी

किया। 'रेलवे निर्माण' ने भारत में ब्रिटिश पूंजी निवेश द्वारा नये औपनिवेशिक शोषण की नींव रखी। भारत में पूंजी के निर्यात की राशि नगण्य थी, यह दुर्भाग्यपूर्ण था कि शुरू में भारतीय लोगों से लूटी गई पूंजी इस देश में निवेश की गयी थी जो कि ब्रिटिश भारत में जुटाई गयी थी। महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रथम विश्व युद्ध से पहले भारत में निवेश किये गये ब्रिटिश राजधानी के लगभग 94 प्रतिशत प्रशासन, परिवहन, वृक्षारोपण और वित्त के लिए समर्पित थे। इस तरह के निवेश के पीछे मूल मकसद भारत में व्यावसायिक पैठ थी। ब्रिटिश मैन्युफैक्चर्स के लिये कच्चे माल और बाजार के स्रोत के रूप में इसका शोषण था।

भारतीय पूंजी और स्वदेशी प्रभाव

यदि भारत एक स्वतंत्र देश होता तो वह अमेरिका जैसे अन्य स्वतंत्र देशों के समान सम्पत्ति की निकासी से मुक्त होता, अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप अपने संसाधनों के विकास के लिए स्वतंत्र होता, समान शर्तों पर विदेशी पूंजी से प्रतियोगिता के लिए स्वतंत्र होता, विदेशी पूंजी से अपना प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर उसे अपदस्थ करने में स्वतंत्र होता तथा उसका एक ऐसा स्वतंत्र प्रशासन होता जो स्वदेशी उद्यम को सहायता तथा प्रोत्साहन देता और यह देखता कि विदेशी पूंजी का प्रयोग स्वदेशी उद्योग के विकास में पूरक और सहायक सिद्ध हो। जहां औद्योगिक पूंजी, उद्यम के सारे लाभों को हड़प कर लेती हो और सारे क्षेत्र पर एकाधिकार जमा लेती हो। वहां ऋण–पूंजी ब्याज के रूप में केवल एक निश्चित तथा निर्धारित राशि की ही अधिकारी होती है। इस प्रकार वह अवशिष्ट लाभों और मूल धन की अदायगी के पश्चात् सारे लाभों को उस देश में ही रहने देती है। इस प्रकार आवश्यकता होने पर स्वदेशी उद्यम के विकास के लिए विदेशी पूंजी उधार लेना तथा विदेशी तकनीकी लोगों से काम लेना तो बुरा नहीं, परन्तु सीधे विदेशी निवेश की तथा सीधे विदेशी पूंजीपतियों द्वारा अपने स्वामित्व के उद्योग के संचालन की अनुमति बिल्कुल नहीं देनी चाहिए।

दादाभाई नौरोजी का कहना था कि "भारत को उत्कृष्ट विदेशी पूंजी की आवश्यकता है न कि उसकी पूंजी और उत्पादकों को हड़पने वाले अंग्रेजी घावों की।" भारतीय पूंजीपतियों के पास अधिकांश बड़े पैमाने के नए उद्योगों, खानों तथा परिवहन संस्थाओं के संचालन के लिए न तो पर्याप्त पूंजी थी और न ही विदेशी पूंजी बाजार में वांछित निधि के ऋण लेने की आपेक्षित साख थी। इस स्थिति में विदेशी पूंजीपतियों को व्यक्तिगत रूप से इस देश में आने तथा अधिकांश औद्योगिक क्षेत्र का स्वामित्व संभालने से किस प्रकार रोका जा सकता था?

इस समस्या का सुझाव देते हुए नौरोजी और जोशी ने कहा था कि "विदेशी पूंजी के हानिप्रद आर्थिक और राजनीतिक दुष्परिणामों से बचकर उससे लाभान्वित होने का एकमात्र उपाय उन उद्योगों का राष्ट्रीयकरण था। जिनके लिए अपरिमित विदेशी ध ानराशि आपेक्षित थी। इस प्रकार की स्थिति में सरकार अपने राजस्वों की गारण्टी पर ब्याज की थोड़ी दर पर विदेशों से पूंजी ऋण में ले सकती है तथा उसका देश के प्राकृतिक संसाधनों के विकास के लिए उपयोग कर सकती है।"

वस्तुतः सरकारी पूंजीवाद एक अंतरिम और अस्थाई उपाय था जब तक कि भारतीय उद्यमी इस पर्याप्त सीमा तक जागरूक तथा विकसित नहीं हो जाते कि इन उद्योगों को स्वदेशी पूंजीपतियों के हाथों में ही सौंपा जा सके।

भारतीयों की दृष्टि से भारत के औद्योगिक विकास की प्रबलतम बाधाओं में से एक औद्योगिक उद्यमियों के पास अपेक्षित पूंजी का अभाव था अतः उन्होंने उपलब्ध व्यापारिक तथा साहूकारी पूंजी को औद्योगिक पूंजी में बदलने के लिए सरकारी सहायता की प्रबल आवश्यकता की मांग की। इसके लिए निम्नलिखित कार्य किए गए–

(i) ऋण प्रणाली को इस प्रकार पुनर्गठित करना चाहिए जिससे देश के आंतरिक और समस्त संसाधनों को गतिशील बनाया जा सके। राज्य के निर्देशन तथा नियंत्रण में कार्य करने वाले संयुक्त पूंजी बैंकों का बहुत बड़ा जाल बिछाने की आवश्यकता थी। इस कार्य से सरकार ऋण उगाहने की सुविधाएं जुटाना, मंडलीय शेष राशि को उपलब्ध कराना तथा नियंत्रक लेखा परीक्षा द्वारा परीक्षा करना है। सरकार के लिए एक यह भी सुझाव था कि सरकार द्वारा प्राइवेट पूंजीपतियों को अपनी उचित देखरेख से ब्याज की कम दर पर अग्रिम ऋण देने की व्यवस्था करे। इस पर रानाडे ने सुझाव दिया कि सरकार विशिष्ट वित्त नियमों की स्थापना करे और ये सस्ती दर पर उधार लेकर भावी उद्योगपतियों को ऋण प्रदान कर सकते हैं।

(ii) भारत में आयतित सामग्री में ये वस्तुएं सम्मिलित थी– भारतीय सेना हेतु सैन्य सामग्री, पुलिस के उपकरण, नगर सुधार सामग्री, जल, गैस, मलमूत्र व्यवस्था, मेडिकल स्टोर, हस्पतालों की उपयोग सामग्री, गोदी, पुलों, बिल्डिंगों तथा सड़कों के बनाने के लिए लोहा तथा सीमेंट, तार, टेलीफोन के लिए आपेक्षित सामान, प्रशासन प्रयोग हेतु स्टेशनरी व अन्य वस्तुएं। इसके अतिरिक्त रेलों की पटरियां, पुल, गाड़ी के डिब्बे तथा रेलों के लिए भवन निर्माण सामग्री। ये समस्त सामग्री इंग्लैण्ड से खरीदी जाती थी इसी कारण भारतीय नेताओं का तर्क था कि सरकार इन भंडारों के लिए भारतीय उत्पादकों से माल खरीद कर भारतीय उत्पादकों के लिए लाभदायक दरों पर न्यूनतम सुरक्षित बाजार की गारंटी देकर भारतीय औद्योगिक प्रयत्नों को प्रोत्साहन दे सकती है। इसका समर्थन कुछ ब्रिटिश पूंजीपतियों ने भी किया और इसी के साथ 1918 में भारतीय उद्योग आयोग का भी अनुमोदन प्राप्त हुआ और परिणामस्वरूप भारत स्थित फर्मों से माल खरीदा जाने लगा।

(iii) भारतीय उद्योगों की उन्नति के लिए वाणिज्य और उत्पादन के एक प्रथक संविभाग की स्थापना हो, जिसे उपलब्ध साधनों को जुटाने की, सरकार और निजी कंपनियों की विशेषज्ञों के ज्ञान तथा कौशल से सहायता करने व परामर्श देने की सर्वेक्षण आदि के द्वारा जानकारी के संग्रह तथा उसके व्यापक प्रसार की, शुल्क पद्धति में संरक्षण प्रदान करने की, मशीनरी पर निर्यात शुल्क हटाने की तथा तकनीकी शिक्षा को प्रोत्साहन देने की पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हो।

(iv) गोपाल कृष्ण गोखले ने राजकीय आर्थिक नीतियों के समर्थन में कहा था कि "वास्तव में नैतिक परिस्थितियों की मांग यह है कि पूर्ण विवेक तथा दूरदृष्टि का उपयोग करते हुए जनता की नैतिक तथा भौतिक उन्नति के लिये व्यापक और विस्तृत योजना बनाई जाए और फिर उस पर दृढ़ता तथा निरन्तरता के साथ अमल किया जाए तथा लगभग वर्ष प्रतिवर्ष उसकी प्रगति की समीक्षा भी की जाए।"

अब भारतीय राष्ट्रवादियों द्वारा देश में बढ़ती दरिद्रता को रोकने तथा परम्परागत उद्योगों को प्रोत्साहन करने हेतु एक ही उपाय था – स्वदेशी की भावना को जागृत

करना। स्वदेशी की भावना भारत में बहुत देर में जागृत हो पायी। स्वदेशी का अर्थ था, अपने देश में बना माल या सामान खरीदना और विदेशी सामान का बहिष्कार करना। 1849 में ही 'प्रभाकर' पत्र के लेखों में आयतित समान के स्थान पर भारतीय उत्पादनों के प्रयोग का समर्थन करने वाले पूना के गोपाल राव देशमुख भारतीय जनता के प्रथम व्यक्तियों में से थे। बंगाल में 1867 में नवगोपाल मित्र के प्रयासों से एक राष्ट्रीय मेले का आयोजन किया जाता था, जिसका उद्देश्य भारतीय शिल्पकला के उत्पादनों की प्रदर्शनी लगा कर स्वदेशी उत्पादनों के प्रयोग को बढ़ावा देना था। 1880–1895 के अंतराल में भारत में स्वदेशी की लहर उत्तरोतर बढ़ने लगी। जब भारत सरकार ने लंकाशायर के उत्पादकों को संतुष्ट करने के लिए सूती कपड़ों पर आयात शुल्क हटा दिया तो सरकार की इस कर नीति से स्वदेशी की लहर को बड़ा प्रोत्साहन मिला। पश्चिमी भारत के लोगों में स्वदेशी उद्योगों के विनाश के विरुद्ध तथा अंग्रेजी मशीनों से बने समान के प्रयोग के विरुद्ध रचित लोकप्रिय गीत बहुत प्रचलित हो गए।

बम्बई के विभिन्न भागों में अंग्रेजी वस्त्रों के स्थान पर भारत निर्मित वस्त्रों के प्रयोग के प्रचार के लिए असंख्य जनसभाएं हुई और इन बहुत सी जनसभाओं में नियुक्त प्रतिनिधियों ने इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए बम्बई मिलमालिक संघ से सलाह और सहायता की याचना की। जनता तथा प्रशासकों में अधिक सुसंस्कृत तथा सम्मानित दिखाई देने वाले पश्चिमी वस्त्रों तथा अन्य उत्पादनों का प्रयोग करने वालों की तीव्र भर्त्सना की गई। पश्चिमी भारत औद्योगिक संघ के तत्वावधान में हुए द्वितीय औद्योगिक सम्मेलन में प्रमुख विधिवेत्ता, उद्योगपति, पूना के एम.बी. जोशी ने संस्था के सदस्यों से आग्रह किया कि वे आयतित वस्तुओं के स्थान पर भारतीय उत्पादनों के प्रयोग का प्रयत्न करें तथा अगले वार्षिक सम्मेलन में अपने प्रयत्नों के परिणामों की सूचना दें। इस प्रकार भारत में स्वदेशी आंदोलन दिनोंदिन बढ़ता गया। देश के राष्ट्रवादी शिक्षित मध्यवर्ग का व्यापक समर्थन उपलब्ध होने पर स्वदेशी आंदोलन देश का शक्तिशाली आंदोलन बन गया।

भारत में विदेशी पूंजी

भारत में स्वदेशी पूंजी की कमी के साथ ही नुकसान व पल–पल बदलते ब्रिटिश नियमों से डर कर भारतीय पूंजीपति पूंजी निवेश से कतराते थे जिससे भारत का औद्योगिक विकास का क्षेत्र संकुचित और सीमित हो गया इसलिये ब्रिटिश पूंजी अपने देश में पूरी तरह प्रयोग न कर पाने के कारण निवेश के लिए नए क्षेत्रों की खोज में थी। ब्रिटेन का विचार था कि इस ब्रिटिश पूंजी को भारत के आर्थिक विकास की शून्यता को भरने के काम में लगाया जाए तथा इसका प्रयोग औद्योगीकरण के विकास में किया जाए। ब्रिटिश सत्ता ने भारत में ब्रिटिश पूंजी के प्रवाह को सुरक्षा और आकर्षण प्रदान किया। स्वदेशी पूंजी तथा साहस के अभाव तथा ब्रिटिश राजनीतिक सर्वोच्चता के परिणामस्वरूप प्रारम्भिक अवस्था में ब्रिटिश पूंजीपति ही भारत में आधुनिक उद्योगों के अग्रदूत थे। एक महत्वपूर्ण तथ्य यह था कि ब्रिटिश पूंजी का मूल निवेश अत्यल्प था। भारतीय साम्राज्य की विजय का आधार भारतीय वित्त तथा यही से जुटाए गए कर्ज थे। 19वीं शती के पूर्वार्ध में जन्म लेने वाले व्यवसाय नए बैंक तथा बागान उद्योग अधिकांशतया भारत स्थित ब्रिटिश अधिकारियों की बचत की वित्तीय सहायता के ही परिणाम थे। 1837 ई. के उपरांत भारत में उल्लेखनीय परिमाण में ब्रिटिश पूंजी निरन्तर प्रभावित होने लगी और 1854–1859 में यह अपनी चरम सीमा तक पहुंच गयी। विदेशी पूंजी का एक बड़ा

भाग उन मिश्रित पूंजी समुदायों द्वारा निवेशित किया गया था जिनका पंजीयन तो कहीं और था परंतु आंशिक अथवा पूर्ण रूप से उनका व्यापार भारत में होता था। संक्षेप में इस निवेशित विदेशी पूंजी के परिणाम की सामान्य रूपरेखा 1909–11 के मध्य प्रकाशित तीन प्राकलनों में देखी जा सकती है–

(i) 1901 में एक अर्थशास्त्री के अनुसार ब्रिटिश पूंजी का लगभग 4700 लाख पौंड भारत में निवेशित हो चुका था।

(ii) 1910 में जार्ज पाइश द्वारा लगाए गए एक अन्य अनुमान के अनुसार भारत और श्रीलंका में 1909 तक ब्रिटिश पूंजी की 3650 लाख पौंड की राशि लगा चुके थे।

(iii) 1911 में एम.एफ. हावर्ड ने इस राशि को 4500 लाख पौंड बताया।

कुछ भी हो अनुमान यही है कि इस अवधि में भारत में निवेशित ब्रिटिश पूंजी पर्याप्त मात्रा में बढ़ गयी थी। विस्तृत परीक्षण से विदेशी पूंजी की तीन विशिष्ट विशेषताएं स्पष्ट होती हैं जैसे– 1870 के पश्चात् चालू विदेशी पूंजी के वार्षिक ब्याज के रूप में विदेशों को भेजी गयी धनराशि वार्षिक पूंजी के नए अंतःप्रवाह की राशि से बढ़कर थी, अर्थात् भारत में निवेशित विदेशी पूंजी का केवल भारत में ही नहीं वरन् विश्व के अन्य भागों के विकास में भी उपयोग करते थे।

ब्रिटिश निवेशक जहां भारत में अपनी फालतू पूंजी के निकास से स्रोतों की खोज के प्रति उत्सुक थे, वहां ब्रिटिश उत्पादक भी उसी उत्सुकता से भारत को अपने एकाधिकार की मंडी बनाए रखना चाहते थे। ब्रिटिश उत्पादक अपने देश में शक्तिशाली थे अतः भारत सरकार को विवश होकर भारत में आधुनिक उद्योग को उत्साहित और कभी–कभी निरुत्साहित करने की नीति भी अपनानी पड़ी। जार्ज पाइश के अनुसार 1909 में ब्रिटेन की भारत में कुल निवेशित 3650 लाख पौंड में से केवल 250 लाख पौंड व्यवसायिक और औद्योगिक संस्थाओं में निवेशित थी, अतः स्पष्ट है कि औद्योगिक निवेश का भाग अपेक्षाकृत और भी कम था।

यद्यपि निवेशित विदेशी पूंजी की राशि हर प्रकार से कम थी फिर भी उसने भारत में औद्योगिक स्तर पर एकाधिकार को जमाए रखा। बहुत सारी पटसन मिलें, ऊन और सिल्क की मिलों, कागज की मिलों, चीनी मिलों, चमड़े के कारखानों, लोहा, पीतल की ढलाई जैसे– कारखानों के मालिक विदेशी निवेशक ही थे।

विदेशी पूंजी की पक्षधरता– प्रारम्भ में विदेशी संरक्षण में जब रेलवे और नहरों, खानों बागानों और आधुनिक उद्योगों का आगमन हुआ, उस समय विदेशी पूंजी के भारत में प्रवेश का कोई विरोध नहीं हुआ, परंतु ज्यों ही भारतीयों के स्वामित्व वाले उद्योग धीरे–धीरे विकसित होने लगे और भारतीयों को विदेशी पूंजी के दुष्परिणाम का पता चला तभी से विदेशी पूंजी की आलोचना जोर पकड़ने लगी। 19 शताब्दी तक भी भारतीयों का एक वर्ग इसके समर्थन में था किंतु शीघ्र ही स्थितियां विपरीत हो गई। इसका सबसे बड़ा उदाहरण दादा भाई नौरोजी थे, जो पहले तो विदेशी पूंजी के बहुत बड़े समर्थक थे किंतु उससे प्रभावित भारतीय अर्थव्यवस्था पर पड़े दुष्परिणामों के कारण वे विदेशी पूंजी के घोर विरोधी हो गए। विदेशी पूंजी का समर्थन करने वाले वर्गों का आधार यह था कि भारत जैसा निर्धन देश देशी पूंजी से अपने उद्योगों का उपक्रम करने में असमर्थ थे अतः उसे अपने उद्योगों और यातायात के साधनों के विकास तथा इसके फलस्वरूप अपने लोगों की भौतिक दशा को उन्नत बनाने के लिए निश्चित रूप से ही विदेशी पूंजी की जरूरत है।

टिप्पणी

अमृत बाजार पत्रिका ने 23 फरवरी, 1903 को अपने अंक में यह प्रकट किया कि वर्तमान परिस्थितियों में विदेशी पूंजी के अंतःप्रवाह का विरोध मूर्खतापूर्ण और आत्महत्या जैसा था। यह आशा की जाती थी कि विदेशी उद्यम आदर्श कार्य करते हुए स्वदेशी उद्योग और व्यापार को प्रेरणा दें। इन समर्थक वर्ग का यह विश्वास था कि ब्रिटिश निवेशकों को भारत में अपनी निधि के निवेश के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए।

विदेशी पूंजी की आलोचना– समर्थन के साथ–साथ विदेशी पूंजी की आलोचना भी की गई। सबसे बड़े आलोचक दादा भाई का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। समर्थक से आलोचक बनने का कारण था, विदेशी पूंजी के दुष्परिणाम। इसके दुष्परिणामों की जग ख्याति फैली तो अन्य राष्ट्रवादी नेता भी आलोचकों की पंक्ति में दिखाए दिए, साथ ही समाचार पत्र–पत्रिकाओं में भी जोर शोर से विदेशी पूंजी की आलोचना और स्वदेशी (ऊपर वर्णन किया जा चुका है) की मांग जोर पकड़ रही थी।

बहुसंख्यक भारतीय नेता विदेशी पूंजी के उपयोग के विरुद्ध थे, उनका कहना था कि भारतीय संसाधनों के विकास में अधिकांशतया योगदान विदेशी उद्यम का होने के कारण इस विकास के फलस्वरूप होने वाले लाभों से विदेशी पूंजीपति ही कृतार्थ होते थे तथा वे उत्पादित सारे अतिरिक्त धन को हड़प कर लेते थे। अतः कुछ थोड़े से आकस्मिक लाभ को छोड़कर विदेशी पूंजी का देश की समृद्धि में तथा देशवासियों की आर्थिक स्थिति में सुधार में कोई योगदान नहीं था। विदेशी पूंजी से भारतीय संसाधनों के विकास का अर्थ उनका अविकास, शोषण और लूट था। विपिन चन्द्र पाल ने विदेशी पूंजी के विरोध को निम्नलिखित रूप से व्यक्त किया है–

"विदेशी अधिकांशतः ब्रिटिश पूंजी का देश के प्राकृतिक संसाधनों के विकास में विनियोजन वस्तुतः देशवासियों की आर्थिक दशा में वास्तविक सुधार में सहायक न हो कर उलटे इस दिशा में एक बड़ी भारी और भयंकर बाधा ही सिद्ध हुआ है। विदेशी पूंजी द्वारा देश का यह शोषण यहां की सरकार और जनता के लिए समान रूप से ही विनाश का खतरा उपस्थित करता है। यह जितना बड़ा राजनीतिक खतरा है उतना ही भयंकर आर्थिक खतरा है। नव भारत के भविष्य की सुरक्षा इस दोहरे खतरे का शीघ्र और मूलभूत उपचार करने में ही है।"

विदेशी पूंजी का विरोध करने वालों का कहना था कि केवल भारतीय पूंजीपतियों द्वारा औद्योगिकता की प्रक्रिया के उपक्रम और विकास स्वयं किए जाने पर ही देश का वास्तविक आर्थिक विकास और सुधार सम्भव था। आलोचकों के अनुसार विदेशी पूंजी अपने मूल में राष्ट्रविरोधी थी क्योंकि यह भारतीय पूंजी की सहायता करने के बदले उसे कुचल रही थी। विदेशी पूंजीपतियों ने भारतीय उद्यमियों का मार्ग सदैव अवरुद्ध ही किया। विदेशी आयात ने पहले भारत के शहरी उद्योगों को नष्ट किया और अब विदेशी उत्पादनों की देश के उत्पादनों के साथ प्रतियोगिता और भी अधिक भयंकर है क्योंकि वह देश के सस्ते श्रम पर निर्भर है।

आलोचकों द्वारा यह कभी नहीं स्वीकार किया गया कि विदेशी पूंजी के निवेश के बिना औद्योगिक विकास संभव नहीं होगा। उनके अनुसार वास्तविक विकल्प विदेशी और स्वदेशी के मध्य है। उनके अनुसार स्वदेशी पूंजी का उदय सापेक्ष भले ही हो, परंतु विदेशी पूंजी का आगमन और प्रयोग सचमुच ही उसे अपनी पूंजी से या तो वंचित कर देगा या देरी से होगा। आलोचक अपना तर्क बताते हुए कहते हैं कि देश की पूंजी देश के बाहर भेजी जाती है और विदेशी उद्यमी केवल अपनी पूंजी के ब्याज की राशि ही

नहीं प्रत्युत सारे ही लाभ भारत से बाहर भेज देते थे। उन्होंने इस तथ्य को स्वीकार किया कि विदेशी पूंजी के निवेश ने संयुक्त राज्य अमेरिका अथवा इंग्लैण्ड व अन्य स्वतंत्र देशों में संबंधित राष्ट्रों और देशवासियों को प्रत्यक्ष आर्थिक लाभ पहुंचाए। कुछ ऐसी विशिष्ट परिस्थितियां थी जिसके कारण भारतीयों को कोई लाभ नहीं मिलता था, वे परिस्थितियां निम्नलिखित थीं–

(i) विदेशी पूंजी का आयात स्वेच्छाप्रेरित नहीं था। वह विदेशी शासन के कारण बलपूर्वक लादा हुआ था। ऊंचे कराधान, विपुल सामग्री की निकासी देश की पूंजी का बहुत बड़ा भाग स्वायत्त कर लेते थे, अतः देशवासियों के पास नाममात्र की पूंजी अवशिष्ट रह पाती थी। इस स्थिति में पूंजी की क्रमिक वृद्धि की संभावना लगभग असंभव थी।

(ii) भारतीय पूंजी की विरलता के कारण नए औद्योगिक क्षेत्रों के उपक्रम आरंभ नहीं किए जा सकते थे। अतः विदेशियों ने आकर इन पर अपना अधिकार जमा लिया। इस तरीके से भारतीय उद्यमियों के मार्ग में बाधा डाली गई और उसके उपरांत आर्थिक आवश्यकता का बहाना करके देश पर विदेशी पूंजी बलपूर्वक थोपी गई। इस पर भारतीय नेताओं का विचार है कि विदेशी पूंजी भारत की पूंजी वृद्धि, सेवा या विकास के लिए नहीं बल्कि उसके ह्रास और संसाधनों के अपहरण के लिए है।

(iii) भारत में विदेशी पूंजी को आने के लिए प्रोत्साहन दिया जाता था। सभी प्रकार की रियासतों से उसकी सहायता की जाती थी, इत्यादि। इसके ठीक विपरीत स्वदेशी पूंजीपतियों को निरुत्साहित किया जाता था, उन्हें संसाधनों से वंचित कर उनके हाल पर छोड़ दिया जाता था।

(iv) एक तरफ वे देश हैं जहां विदेशी पूंजी उस देश के साधनों के विकास में सहायक हुई वहीं भारत में विदेशी पूंजी का निवेश लाभकारी नहीं रहा क्योंकि इस देश में विदेशी पूंजी का प्रवाह स्वाभाविक न होकर अप्राकृतिक था।

(v) इस देश में विदेशी निवेशकों ने अपने साधनों से पूंजी संचित नहीं की, प्रत्युतर भारत की पूंजी का ही पहले विदेशियों द्वारा नियंत्रित व्यापारों, बैंकों, उद्योगों तथा प्रशासनिक व्यय के माध्यम से विदेशों में निकासी हुई और पुनः उसका अंश निवेश पूंजी के रूप में लौटकर भारत आ गया।

दादाभाई नौरोजी ने 1887 में कहा था कि भारत के शुद्ध आयात में सभी विदेशी ऋणों और निवेशों को जोड़ देने के बाद भी उसके शुद्ध निर्यात बढ़ चढ़कर हैं। इस प्रकार भारत अपनी ही पूंजी से अपने ही शोषण की अपरिहार्य स्थिति में पहुंच गया है। इसके पहले भी भारतीयों ने अपने ही राजनीतिक दमन के लिए अंग्रेजों को जिस प्रकार सहायता की है, उसी प्रकार आज वे अपनी ही आर्थिक उदासीनता का कार्य सम्पन्न करने के लिए अंग्रेजों की सहायता कर रहे हैं।

आलोचकों द्वारा यह भी संकेत दिया गया कि विदेशी पूंजी की सहायता से भारत के विकसित होने वाले नये साधनों के लाभ अत्यन्त सीमित थे क्योंकि यह अपनी विशिष्ट राजनीतिक आर्थिक परिस्थितियों के कारण देश की विशाल जनसंख्या के एक छोटे से भाग हेतु ही अतिरिक्त आजीविका जुटाती है और इसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय मजदूर निधि में साधारण सी वृद्धि होती है।

निष्कर्ष रूप से यह कह सकते हैं कि विदेशी पूंजी के उपयोग के समर्थक अथवा विरोधी भारतीय राष्ट्रवादी नेता भारत में विदेशी निवेश के आर्थिक तथा राजनैतिक कारणों तथा परिणामों के प्रति अत्यन्त जागरूक थे। सभी राष्ट्रवादी नेताओं का दृढ़ विश्वास था कि देश का वास्तविक विकास देश के अपने प्रयत्नों तथा अपनी पूंजी पर निर्भर था।

4.2.3 सन् 1914 से पूर्व आधुनिक उद्योग : प्राकृतिक– सूत, जूट और लौह–इस्पात उद्योग एवं विकास में बाधाएं

प्रथम विश्व युद्ध और आर्थिक मंदी ने सभी को प्रभावित किया और इससे पूर्व पड़े दुर्भिक्ष से जनता तो त्रस्त हो ही चुकी थी। तभी युद्ध द्वारा उत्पन्न स्थिति ने सरकार में एक नई चेतना पैदा की। अनेक महत्वपूर्ण और आवश्यक भंडारों के आयात में, जो युद्ध के लिए विशेष रूप से आवश्यक थे, गलत नीतियों द्वारा आई रुकावटों ने देश में एक सुसंगठित औद्योगिक पद्धति को विकसित न करने की भूल का एहसास कराया। इस स्थिति से निबटने के लिए 1916 में इंडस्ट्रियल कमीशन की नियुक्ति की गई जो इस बात की सिफारिश कर सके कि सरकार किस प्रकार उचित और सीधे तरीके से औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन दे सकती है। 1918 में कमीशन की रिपोर्ट में यह सिफारिश की गई कि औद्योगिक मामलों में सरकारी हस्तक्षेप और पहल की फौरन आवश्यकता है। चार दशक पूर्व दुर्भिक्ष आयोग ने भी इसी प्रकार का सुझाव दिया गया था जिसे सरकार द्वारा दबा दिया गया था।

1914 से पूर्व आधुनिक उद्योग की प्रकृति– युद्ध स्थिति ने आयात में कठिनाईयां पैदा कर दी और घरेलू उद्योगों को प्रोत्साहन दिया। युद्ध के बढ़ते जा रहे खर्चे को पूरा करने के लिए सरकार को भारी राजस्व कर लगाने पड़े। यहां तक कि मुक्त व्यापार नीति का अंतिम अवशेष सूती माल पर उत्पादन शुल्क को समाप्त कर दिया गया। फिर भी युद्ध के बाद के वर्षों में अनेक समस्याएं उठीं जिसके कारण एक उचित सीमा शुल्क नीति की आवश्यकता महसूस की गई। 1921 में व्यापारिक उद्योग की नियुक्ति हो गई और इसकी सिफारिशें ही आगामी दो दशकों में सरकार द्वारा अपनाई गई तथाकथित 'विवेकपूर्ण संरक्षण' की नीति का आधार बनी।

मोंटफोर्ड सुधारों के अंतर्गत 'स्टेट एण्ड टू इंडस्ट्रीज एक्ट' को भी मान्यता दी गई जिसके अंतर्गत उद्योगों को सीधे वित्तीय सहायता दी गई। विभागों के कार्यक्रमों को वित्तीय उतार चढ़ावों का सामना करना पड़ा और युद्धकालीन वर्षों में अनेक उतार चढ़ाव आए। अधिनियमों को उदासीनता से लागू किया गया, फिर भी अब अधिकारियों को उद्योगों के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का अधिक बोध हो गया और उनको निबाहने की अब उनमें इच्छा भी नहीं थी। इसके अतिरिक्त सरकार का औद्योगिक नीति में दीर्घकालीन जटिलताओं के साथ युद्ध की आवश्यकताओं के कारण अन्य सरकारी कदम भी उठाए गए जिन्होंने उद्योगों को महत्वपूर्ण ढंग से प्रभावित किया। उद्योगों पर सरकारी नियंत्रण में वृद्धि हुई। कुछ वस्तुओं का निर्यात रोक दिया गया जबकि कुछ वस्तुओं का उत्पादन, अनुबंधित मूल्यों पर सरकार द्वारा ही विक्रय करने के लिए किया गया। इस प्रकार एक निश्चित बाजार मिलने के कारण अप्रत्याशित रूप से कुछ उद्योगों की उन्नति हुई और कुछ समाप्त हो गए।

प्रमुख उद्योग व विकास संबंधी बाधाएं

पिछले अध्याय में हमने विभिन्न उद्योगों का वर्णन किया है। जिसमें ज्ञात होता है कि उद्योग तो बड़ी संख्या में प्रारम्भ हो गए थे किंतु यह कहना कि वे फलती–फूलती स्थिति में थे, गलत होगा, क्योंकि किसी भी उद्योग की स्थिति युद्ध, मंदी, बाजार, व्यापार, नियम, श्रम इत्यादि पर आधारित होने के कारण बनते बिगड़ते रहते थे। जहां कुछ और उद्योगों का वर्णन कर रहे हैं जो कि निम्नलिखित हैं–

रूई– कपास की खेती से प्राप्त रूई की कताई द्वारा धागे बनाए जाते थे, जिनसे सूती वस्त्र बनते थे। सूती वस्त्र उद्योग के बारे में हम पहले पढ़ चुके हैं। यहां पर रूई अथवा धागे के उद्योग पर चर्चा करेंगे। लंकाशायर के सस्ते धागे को भारत में अच्छा खासा मार्केट मिल गया था। इस कारण प्रारम्भिक मिलों को कताई में अच्छा भविष्य नजर आया और स्थानीय रूप से लाभ दिखाई दिया। इसके अतिरिक्त चीन और जापान की मंडियों पर अधिकार जमा कर इस लाभ को और अधिक बढ़ाया जा सकता था। चीन की मंडी इतनी लाभप्रद थी कि भारतीय मिलों का प्रति तकुला उत्पादन और धागे तथा गुच्छियों का निर्यात 19वीं सदी में चतुर्थांश में बहुत अधिक बढ़ गया था।

धागों और गुच्छियों का निर्यात

वर्ष	पौंड (लाखों में)
1876–77	80
1885–86	790
1890–91	1700
1903–09	2520

आर्थिक और राजनीतिक कारणों से धागों का निर्यात बाजार के उतार–चढ़ाव पर अधिक निर्भर था। आंतरिक रूप में भी धागों की मांग कपड़े की मांग की अपेक्षा अधिक अनिश्चित थी क्योंकि आर्थिक परिवर्तनों के प्रति धागा कपड़े की अपेक्षा अधिक संवेदनशील था। इसलिए तकुआ करघा का विकास नए ढंग से हुआ।

1900–1914 तक आयात–निर्यात

	आयात	निर्यात	आयात	निर्यात	आयात	निर्यात	आयात	निर्यात
1. रूई	10.1	0.7	14.7	0.3	21.2	0.6	33.3	1.0
2. महीन धागा	1.5	27.3	1.7	28.3	2.3	38.2	2.3	49.9
3. गुच्छियां और धागा	4.2	2.5	7.6	2.4	10.2	3.3	9.1	3.8
	15.8	30.5	24.0	31.0	33.7	42.1	44.7	54.7

जूट– जब युद्ध छिड़ा तो जूट उद्योग अपनी समृद्धि के शिखर पर था, परन्तु युद्ध के कारण व्यवधान पड़ना तो स्वाभाविक ही था और जूट की भरपूर फसल के कारण कीमतों पर दुष्प्रभाव पड़ा साथ ही निर्यात को भी धक्का पहुंचा। अन्य उद्योगों की भांति जूट की यह स्थिति भी अल्पकालिक थी। परिवहन व्यवस्था पर पड़ते भार को कम करने की दृष्टि से मुक्त निर्यात को रोक दिया गया और जो शुल्क 1916 में लगाया गया उसे 1917 में बढ़ा दिया गया, इसके बावजूद जूट निर्मित वस्तुओं का निर्यात बढ़ता ही गया। जिससे इस क्षेत्र पर भारत का एकाधिकार मान्य हुआ। लेकिन 1914–15 में अचानक

टिप्पणी

गिरावट देखी गई। यह एक बार फिर समृद्धि की ओर बढ़ा। दूसरे दशक में उद्योग की प्रगति अच्छी रही जब तक कि यह महामंदी का शिकार नहीं हुई। युद्ध के दौरान उद्योग की क्षमता को बढ़ाया नहीं जा सका। युद्धोपरांत विकास बहुत तेजी से हुआ। 1917 में 6.62 करोड़ रुपये की अधिकृत पूंजी के साथ 14 नई मिलें पंजीकृत हुई और सन् 1920 में 16 मिलें निर्माणाधीन थीं।

जूट पर जब मंदी का प्रभाव पड़ा तब उसको पुनर्जीवित करने की प्रक्रिया भी अधिक धीमी हो गई। इसका मुख्य कारण– उद्योग मुख्यतः निर्यातोन्मुखी थे। इस समय सस्ते विकल्पों को ही विकसित किया जा रहा था। हमारे मुख्य ग्राहकों में अमेरिका, फ्रांस, इंग्लैण्ड और जर्मनी थे। ये हमारे कच्चे जूट के निर्यात का मुख्य भाग खरीद लेते थे। बंगाल की अर्थव्यवस्था जो मुख्यतः जूट पर ही निर्भर थी, उसे विभिन्न कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था। मंदी के दबाव के बावजूद विश्व मार्केट में मांग हो रही थी किन्तु साथ ही सस्ते विकल्प की खोज भी हो रही थी। कच्चे जूट का निर्यात 1929–30 में 8 लाख टन से घटकर 1930–31 में 6 लाख टन रह गया। आन्तरिक खपत में भी गिरावट देखी गई। कीमतों में आई गिरावट के कारण 1931 में लागत मूल्य से भी कम कीमत रखनी पड़ी और अगले वर्ष के समाप्त होते–होते कीमत 50% से भी नीचे गिर गई। यद्यपि इस दौरान उत्पादन भी घट कर आधा हो गया था। तैयार माल की कीमतों में भी इसी अनुपात में कमी आई थी। उद्योग में मंदी के कारण आए झटके की गंभीरता इस बात से भी स्पष्ट हो जाती है कि भारत के निर्यात में 1930–31 में आई 90 करोड़ की गिरावट में, अकेले जूट की गिरावट 41 करोड़ रुपये की थी।

लौह–इस्पात/स्टील– प्रारम्भ से ही टाटा कम्पनी ने आशावादी दृष्टिकोण प्रदर्शित किया। 1913 में कम्पनी उत्पादनों के लिए विदेशों में बाजार की संभावनाओं को देखने के लिए उच्च अधिकारियों की एक टीम विदेश भेज दी गई, क्योंकि उस समय तक युद्ध की कोई भी स्थिति नहीं दिखाई दे रही थी। इस टीम को निर्यात में काफी संभावनाएं लगी थी। माल के भी लगातार आर्डर विशेष रूप से कच्चे लोहे के आर्डर जापान से मिले थे। अमेरिका, इंग्लैण्ड, जापान में मैंगनीज के लिए तैयार बाजार था। भारत में इसका उत्पादन 1916 में हुआ, परंतु कंपनी अपना ध्यान युद्ध की आवश्यकता पर दे रही थी।

दूसरे दशक के प्रारंभ में आई मंदी ने इस्पात के भंडार बना दिए और इससे कीमतों में गिरावट आती गई। मुकाबला कड़ा होने के परिणामस्वरूप अन्य देशों ने भी इस्पात के भंडार खड़े कर लिए। 1914–39 की अवधि में काफी समय तक 'टाटा आयरन एण्ड स्टील कंपनी अकेले ही इस्पात निर्माण करती रही। निर्माण क्षमता को छूते ही युद्ध छिड़ गया और इस कारण कंपनी से अपेक्षाएं बढ़ गईं। वित्तीय दृष्टि से कंपनी ठीक चल रही थी किंतु अपने लिए कोई एकाधिकार जैसी स्थिति नहीं बनाई क्योंकि यह अनुबंधित कीमतों पर चलने के लिए बाध्य थी। युद्ध के दौरान भी कंपनी ने सरकार को 1500 मील लंबी रेलवे लाइनें तथा 3 लाख टन अन्य किस्म की इस्पात सामग्री की पूर्ति की। सुविधाओं में कमियां होते हुए भी इस्पात की आवश्यकतानुसार पूर्ति की।

इस्पात की बढ़ती हुई मांग के कारण टाटा कंपनी ने इस्पात पिंडों के उत्पादन की अपनी क्षमता को एक लाख टन से 5 लाख टन बढ़ाने हेतु विस्तार कार्यक्रम प्रारंभ किया। जिससे यह अनुमान लगाया गया कि जस्तेदार चादरों, सलाखों और प्लेटो की बढ़ती मांग की पूर्ति करन संभव होगा। विस्तार कार्यक्रम जब लागू किया गया तब उपकरणों का लागत मूल्य बहुत अधिक था। इसलिए आधुनिक टैक्नॉलाजी का

अपनाना अत्यन्त आवश्यक था। प्रारंभ में यह लाभान्वित रहा। प्रतिवर्ष 9 लाख टन इस्पात पिंड उत्पादन की क्षमता वाली ब्लूमिंग मिल ने 1,50,000 प्रतिवर्ष रेलवे को प्रदान किए, किंतु यह कार्यक्रम अबाध गति से नहीं चल सका और दूसरे दशक में मंदी का प्रभाव देखने को मिला। लागत शुल्क भी अनुमान से अधिक था। मूल रूप से अनुमान था कि क्रियान्वयन में दस करोड़ रुपए से कम की लागत आएगी लेकिन वास्तविक लागत 18 करोड़ रुपए अथवा 80% से अधिक आई।

1916–17 में और सन् 1921–22 में 18.54 रुपए प्रति टन बढ़कर 34.47 रु. प्रति टन हो गया। इसके बाद 1926 में उत्पादन मूल्य गिर कर 25 रुपए टन तक आ गया। इस्पात का उत्पादन मूल्य 1916 से पूर्व काफी कम था जो 1925 में बढ़ता चला गया जबकि आयातित इस्पात सस्ता बना रहा। टाटा की प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति इस बात पर निर्भर करती थी कि वे अपनी पूंजी को पूरी तरह लगाने में, अपनी क्षमता का पूरा उपयोग करने में, नव विकसित टैक्नोलॉजी परिवर्तनों को अपनाने में कितनी प्रगति करते हैं, जो उन्होंने की। इस प्रकार लागत मूल्य काफी कम हो गया।

अन्य उद्योग– इसी समय कुछ छोटे उद्योग भी खड़े हुए। जैसे– दियासलाई (माचिस) कागज और चीनी। चीनी उद्योग ने बहुत कम समय में ही सूती वस्त्र उद्योग जैसी विशालता की जगह बना ली। चीनी उद्योग भी कृषि से जुड़ा हुआ उद्योग था क्योंकि चीनी गन्ने से बनाई जाती थी। राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में इसकी बहुत बड़ी भूमिका थी। इस समय चीनी उद्योग का सूती वस्त्र उद्योग के बाद दूसरा स्थान था। इसके विकास ने भारत की चीनी के आयात पर निर्भरता की स्थिति को एक निर्यात आधिक्य की स्थिति में बदल दिया। उद्योग और गन्ना उत्पादकों ने संरक्षण की सुविधा के बहुत अच्छे परिणाम दिखाए। 1929–30 में चीनी का आयात 9.4 लाख टन रहा और घरेलू उत्पादन एक लाख टन से कुछ कम हो रहा था। 1931–32 में 31 फैक्ट्रियां थी जिनमें 1.58 लाख टन चीनी का उत्पादन होता था। आगामी 4 वर्षों में फैक्ट्रियों की संख्या बढ़कर 140 हो गई और उत्पादन 10 लाख टन से अधिक हो गया जिससे आयात की आवश्यकता भी समाप्त हो गई।

1925 में एक नवीन उद्योग सामने आया जिसका नाम था कागज का उद्योग जिसे संरक्षण प्राप्त हुआ था। इस उद्योग का विस्तार इतना अभूतपूर्व नहीं था जितना चीनी उद्योग का था। इसमें आयातित लकड़ी की लुगदी के स्थान पर बॉस को कच्चे माल के रूप में प्रयोग किया गया, इसी कारण इसकी महत्वपूर्ण प्रगति हुई।

कांच उद्योग प्रारम्भ में जर्मनी, ऑस्ट्रिया और जापान से मुकाबले के कारण पीड़ित था किंतु प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् सरकार ने चूड़ियों, मनकों और कृत्रिम मोतियों पर 30% आयात शुल्क और शीशे तथा कांच के सामान पर 15% आयात शुल्क लगा दिया और बाद में यह शुल्क 20% कर दिया गया। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद उद्योग ने अपने उपकरणों को आधुनिक बनाया और अपने केन्द्र को विकेन्द्रित किया। द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के साथ उद्योग की समस्याएं फिर से उभरी। टैरिफ बोर्ड ने 45% के राजस्व शुल्क को आगामी एक वर्ष के लिए बढ़ा दिया। उसके बाद संरक्षण को एक वर्ष के बाद बढ़ा दिया गया।

इसी बीच प्रथम विश्व युद्ध के बाद ही एक नया उद्योग प्रारंभ हुआ, जो था सीमेंट उद्योग, जिसकी पहली फैक्ट्री पोरबंदर में स्थापित की गई। बढ़ते हुए युद्ध की मांग ने इस उद्योग को प्रोत्साहित किया। 1924 में कुल क्षमता वार्षिक मांग 3.9 लाख टन से भी अधिक 5.8 लाख पहुंच गई। युद्ध के बाद आयात फिर से शुरू हुआ। कीमतों में

टिप्पणी

अचानक गिरावटों के कारण संरक्षण की मांग किए जाने पर सरकार द्वारा इसे अस्वीकार कर दिया गया। जिससे निर्माताओं को आत्म अनुशासन का एहसास हुआ और उद्योग ने अपनी समस्याओं के समाधान स्वयं ही ढूंढना प्रारम्भ कर दिया। इसी समय मंदी का दौर आ गया। 1936 में 4 उद्योगों के समूह एक ही में विलीन हो गए जो एसोसिएट सीमेंट कंपनी (ए.सी.सी.) के नाम से सामने आई। देश में विभाजन से उद्योग को 5 लाख टन की क्षमता की हानि हुई लेकिन आने वाले वर्षों में भारत की कुल क्षमता 31 लाख टन हो गई थी।

1922 के पश्चात् दियासिलाई उद्योग विकसित हुआ। इस उद्योग की मुख्य समस्या आयातित लकड़ी पर निर्भरता थी क्योंकि उचित प्रकार का भारतीय माल उपलब्ध नहीं था। इस उद्योग के विकास में विकेन्द्रित क्षेत्रों का उभरना प्रमुख था जिससे यह उद्योग आसानी से बड़े पैमानों पर मशीनों द्वारा और लघुस्तरीय श्रम दोनों प्रकार से ही विस्तृत हुआ।

इस प्रकार प्रथम विश्व युद्ध से अलग द्वितीय विश्व युद्ध का स्वरूप था। भारत प्रथम विश्वयुद्ध की भांति पूर्व में न केवल एक ब्रिटिश शस्त्र भण्डार बना रहा वरन एक सक्रिय युद्ध क्षेत्र बन गया। इस बार आयात पर पूर्ण प्रतिबंध लग गया और इस देश का यूरोप से बिल्कुल ही संबंध विच्छेद हो गया। युद्ध में जापान के प्रवेश ने युद्ध को भारत के द्वार पर ही ला खड़ा किया। इस प्रकार जहां भारतीय उद्योगों ने सन् 1914–1918 के दौरान एक संरक्षित बाजार और युद्ध समृद्धि का आनंद उठाया वहीं द्वितीय विश्व युद्ध ने भय का वातावरण पैदा कर दिया।

4.2.4 प्रथम विश्व युद्ध और उद्योग : आर्थिक मंदी के विशेष संदर्भ में राष्ट्रवादी विवेचन

1918 ई. के अंत में जब प्रथम विश्वयुद्ध समाप्त हुआ, देश की स्थिति अत्यंत संकटग्रस्त और जटिल थी। युद्ध ने जनता के आर्थिक जीवन को बर्बाद कर दिया था। ब्रिटिश सरकार ने युद्ध को चलाने के लिए जनता को धन और तन दोनों ही तरीके से लूटा था। युद्ध के समय 12 लाख भारतीयों को सेना में भर्ती किया। कहने को तो यह भर्ती सेना में स्वयं की इच्छा थी लेकिन वास्तव में यह एक अनिवार्य सेवा कर दी गई थी। पंजाब में लेफ्टीनेंट गवर्नर माइकल ओडायर ने गांव के लंबरदारों के द्वारा जनता को सेना में भर्ती करने के लिए यातनाएं दी गई। केवल पंजाब से 3,35,000 सैनिकों की भर्ती कर उनमें से कईयों को दूर देश भी भेजा गया। युद्ध के समय भारी मात्रा में अनाज और चारा देश से बाहर भेजा गया जबकि देश उस समय भूखों मरने की स्थिति में था।

युद्धकाल में ब्रिटिश सरकार ने प्रतिरक्षा व्यय को बढ़ाकर 300 प्रतिशत कर दिया। जनता पर कई तरह के चंदे और ऋण लाद दिए गए और सरकारी मशीनरी का खुल कर प्रयोग किया गया था। करों में भारी वृद्धि कर देने के कारण इसका असर उद्योगों पर भी दिखाई देने लगा। वस्तुओं के मूल्यों में भारी वृद्धि कर दी गई जो जनता के उपयोग की थी। कारखनों में श्रमिकों की संख्या बढ़ा दी गई ओर उनका अत्यधिक शोषण किया। उनसे श्रम अधिक से अधिक करवाया जाता था और मजदूरी कम थी और रहने की व्यवस्था बहुत ही कष्टदायक थी। युद्ध के बाद इन सब परिस्थितियों ने मजदूरों में बेचैनी बढ़ा दी और उनका आक्रोश बढ़ता चला गया और आक्रोश ने हड़तालों का रूप ले लिया।

देश के अनेक भागों में लाखों कारीगर बेकार हो गए। युद्ध के बाद लाखों सैनिक और युद्ध कार्य में लगे सब व्यक्ति अब बेरोजगारी का शिकार हो गए। युद्ध में भाग लेने के बाद न तो उनको सम्मान दिया गया और न रोजगार जिससे चारों तरफ असंतोष उत्पन्न होने लगा। देश में जगह–जगह लूट–पाट प्रारंभ हो गई।

इन परिस्थितियों में जनता पर विपत्ति की एक और मुश्किल टूट पड़ी। 1918–19 ई. में इन्फ्लूऐंजा की महामारी फैली जिसमें 50–60 लाख लोगों के प्राण गए।

युद्ध के बाद तुर्की और मित्रों की पराजय के कारण खिलाफत की समस्या ने भी उग्र रूप धारण कर लिया था। प्रथम विश्व युद्ध में कुल 8 लाख भारतीय सैनिकों को युद्ध में धकेला गया जिसमें 47746 सैनिक मारे गए और 65000 घायल हुए। इस युद्ध के कारण भारत की अर्थव्यवस्था लगभग दिवालिया हो गई थी।

प्रथम विश्व युद्ध में ब्रिटेन की भागीदारी के प्रति राष्ट्रवादियों ने भी समर्थन किया। उदारवादियों ने इस युद्ध में ब्रिटेन का समर्थन करना ब्रिटिश ताज के प्रति निष्ठा का कार्य समझा तथा उसे पूर्ण समर्थन दिया।

उग्रवादियों (जिसमें तिलक भी सम्मिलित थे) ने भी युद्ध में ब्रिटेन सरकार का समर्थन किया। क्योंकि उन्हें आशा थी कि युद्ध के बाद ब्रिटिश सरकार भारत में स्वशासन के संबंध में ठोस कदम उठाएगी। जबकि क्रांतिकारियों का कहना था कि यह युद्ध ब्रिटेन के विरुद्ध क्रांतिकारी गतिविधियों को संचालित करने का एक अच्छा अवसर है। इस स्थिति का लाभ उठाकर साम्राज्यवादी सत्ता को उखाड़ फेंक सकते हैं।

प्रथम विश्व युद्ध में ब्रिटिश सरकार ने आधिकारिक तौर पर घोषणा की थी कि यह युद्ध लोकतंत्र के लिए लड़ा जा रहा है। अमेरिका राष्ट्रपति वुड्रो विल्सन ने लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिए 14 सूत्री मांग रखी थी। इस कारण आजादी की उम्मीद में लड़ाई में भारत ने भाग लिया। इस भावना के कारण राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़े नेताओं ने सैनिकों द्वारा युद्ध में भाग लेने का समर्थन किया। उन्हों झटका तब लगा जब युद्ध समाप्त होने पर ब्रिटिश सरकार ने इस बात से अपना पल्ला झाड़ लिया। युद्ध के बाद 1919 में ही गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट आया तो भारतीय नेताओं को बड़ी निराशा हाथ लगी।

प्रथम विश्वयुद्ध के चरण

- यूरोप अफ्रीका और एशिया में कई मोर्चों पर संघर्ष शुरू हुआ। इसके दो प्रमुख परिदृश्य थे, जिसमें एक था पश्चिमी मोर्चा, जहां जर्मनी ने ब्रिटेन, फ्रांस और 1917 के बाद अमेरिका के साथ संघर्ष किया। दूसरा मोर्चा था जिसमें रूस ने जर्मनी और आस्ट्रेलिया–हंगरी सेनाओं के विरुद्ध युद्ध लड़ा।
- 1914 में जर्मनी को युद्ध में जीत हासिल हुई लेकिन उसके बाद पश्चिमी मोर्चा स्थिर हो गया और लंबा और क्रूर युद्ध शुरू हो गया। इसी बीच पूर्वी मोर्चे पर जर्मनी की स्थिति मजबूत हो गई। लेकिन निर्णायक रूप में कुछ नहीं हुआ।
- 1917 के बाद दो मुख्य घटनाएं घटी जिसने युद्ध का रुख ही बदल दिया। संयुक्त राज्य अमेरिका मित्र राष्ट्रों के गुट में शामिल हो गया, वहीं दूसरी ओर रूस ने रूसी क्रांति के बाद स्वयं को युद्ध से अलग कर लिया और एक अलग शांति समझौते पर अपने हस्ताक्षर कर दिए।

टिप्पणी

- 1918 के अंत में जर्मन आक्रमण के बाद मित्र देशों के पलटवार ने जर्मन सेना की निर्णायक वापसी हेतु मजबूर कर दिया। अक्टूबर–नवम्बर 1918 में तुर्की और ऑस्ट्रिया ने आत्समर्पण कर दिया, जिससे जर्मनी अकेला हो गया। युद्ध में पराजय और आर्थिक संकट के कारण जर्मनी में विद्रोह की स्थिति उत्पन्न हो गई। जर्मन सम्राट कैज़र विलियम द्वितीय को गद्दी छोड़नी पड़ी। इसके बाद जर्मनी में गणतंत्र की स्थापना हुई। नई सरकार ने 11 नवंबर, 1918 को युद्ध विराम के घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर किए और प्रलयंकारी प्रथम विश्व युद्ध समाप्त हुआ।

प्रथम विश्व युद्ध में भाग लेने वाले देशों का बहुत अधिक धन खर्च हुआ था। इससे हर देश की अर्थव्यवस्था डगमगा गई थी। क्योंकि 60 प्रतिशत धन युद्ध में खर्च हो गया था। देश में करों का बोझ बढ़ गया। युद्ध में हथियार खरीदने व अन्य वस्तुओं के लिए अपार धन का व्यय किया गया। इस स्थिति में युद्ध के बाद मुद्रास्फीति का जन्म हुआ। हर देश कर्ज से जकड़ता चला गया। भारतीय नागरिकों की दशा तो इस युद्ध से बहुत ही दयनीय हो गई। बेरोजगारी के साथ कर्ज का बोझ बढ़ता चला गया। करों के बोझ और कीमतों की बढ़ोत्तरी से उद्योग धंधे व कुटीर उद्योग धीरे–धीरे चौपट होते चले गए।

युद्ध की समाप्ति के बाद जब सैनिकों की वापसी हुई तो इनमें से कई सैनिकों ने औपनिवेशिक शासन के खिलाफ राजनीतिक गतिविधियों को भी उत्तेजित किया। स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए सैनिकों का एक बड़ा दल इसमें सक्रिया रहा। इस युद्ध में सैनिकों की जबरन भर्ती ने राष्ट्रवाद को बढावा देने की भूमिका तैयार की।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद भारत में आर्थिक मंदी का मुख्य कारण अंग्रेजों का अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करना था। युद्ध में हुई आर्थिक हानि की पूर्ति भी वह भारत से ही करना चाहता था। इस कारण उन्होंने भारतीय जनता पर आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक अत्याचार व कानूनों को लाद दिया जिससे भारतीय अर्थव्यवस्था पिछड़ती चली गई। प्रथम युद्ध का सबसे दुखद दुष्परिणाम भारत की जनता को देखने को मिला कि उन पर करों का बोझ लाद दिया गया।

इस प्रकार भारत पर अंग्रेजों के राजनीतिक, आर्थिक प्रभुत्व के विस्तार की दिशा में उठाया गया हर कदम पुरानी अर्थव्यवस्था के विघटन का कारण बना।

4.2.5 औपनिवेशिक राज्य और औद्योगिक विकास

जब ईस्ट इंडिया कंपनी भारत में व्यापार करने आई और धीरे–धीरे अपने पैर न केवल व्यापार में बल्कि सम्पूर्ण शासन हथियाने पर अमादा थी, तब भारतीयों को यह नहीं पता था कि हमारी स्थिति इतनी बदत्तर होने वाली है। अतिसाधन संपन्न तो भारत तब भी नहीं था लेकिन साधन संपन्न तो था ही चाहे वह कृषि क्षेत्र हो या फिर लघु व कुटीर उद्योग। भारतीय जनता का जीवन थोड़ा कष्टों से भरा अवश्य था किन्तु औपनिवेशिक शासन में कष्टों का पिटारा हर ओर खड़ा था, सुनवाई की कोई उम्मीद नहीं थी। औद्योगिक क्रांति ने तो भारत को पूरी तरह से पंगु बना दिया और दूसरी तरफ राजस्व व्यवस्था ने। इन सभी का दूसरा पहलू था भारत से धन का बहिर्गमन। जिसका एहसास ही नहीं हो पाया, और जब तक एहसास हुआ, सब धन निकल चुका था, अंग्रेजों ने भारत से प्रत्येक प्रकार की लूट की, जितना और जहां से वे लूट सकते थे, लूटा।

भारत में उपनिवेशवाद ब्रिटेन के औद्योगिक पूंजीवाद जैसी ही एक आधुनिक ऐतिहासिक घटना थी – वास्तव में दोनों साथ–साथ ही विकसित हुए। इसके अतिरिक्त औपनिवेशिक भारतीय अर्थव्यवस्था विश्व के पूंजीवाद का ही एक ही अंग थी। वह ऐतिहासिक प्रक्रिया जो भारत को औपनिवेशिक आधुनिकीकरण के इस स्वरूप की ओर ले गई। मूल तथ्य यह है कि जिस सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक प्रक्रिया से ब्रिटेन का औद्योगिक विकास, सामाजिक और सांस्कृति प्रगति हुई उसी प्रक्रिया ने भारतीय उपनिवेश में आर्थिक अविकास और सामाजिक, सांस्कृतिक पिछड़ेपन को जन्म दिया।

ब्रिटिश नीति या उपेक्षापूर्ण नीति

ब्रिटिश इंग्लैण्ड के व्यापार को चमकाने के लिए भारत आए थे, न कि भारतीयों का उद्धार करने। इसलिए उनके द्वारा लागू की गई कोई भी नीति या राजस्व भारतीयों के हित में न होकर इंग्लैंड के हित में था। यही कारण है कि भारत के लघु व कुटीर उद्योग बंद हो गए लोग खेती की ओर भागे परंतु वहां लागू राजस्व प्रणाली ने लोगों की उलझनों को और बढ़ा दिया था। भारत के औद्योगिक पिछड़ेपन का सर्वाधिक प्रमुख कारण सरकार की तत्कालीन नीति थी। कंपनी ने शासन के प्रारम्भिक दिनों में तो भारतीय उद्योगों को सहायता देना अनुचित नहीं माना हालांकि उनके अनुसार समय–समय पर वह भारत को वित्तीय सहायता एवं संगठनात्मक सहायता प्रदान करती रही। इसका कारण यह था कि ईस्ट इण्डिया कंपनी तो मूलतः एक व्यापारिक कंपनी थी। अतः भारत से जिन वस्तुओं का निर्यात होता था उन वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योगों को सहायता देने में वे अपना लाभ ही देखते थे किंतु कंपनी की इस नीति का ब्रिटिश निर्माताओं पर विपरीत प्रभाव पड़ रहा था। अतः इंग्लैण्ड में विभिन्न वस्तुओं के निर्माताओं ने संगठित होकर इसका विरोध करना शुरू कर दिया और उन्होंने कंपनी शासन पर भारतीय उद्योगों को सहायता न देने का दबाव डाला तभी से अंग्रेज सरकार की नीति भारतीय उद्योगों के प्रति एकदम बदल गई। 1858 में भारत का शासन जब कम्पनी से ब्रिटिश सम्राट के हाथ में चला गया तब भी सरकार ने भारतीय उद्योगों के प्रति घोर उपेक्षा की नीति कायम रखी।

यह भी सत्य है अंग्रेज सरकार द्वारा बनाई गई वाणिज्य, राजकोषीय या मौद्रिक नीतियों को भारत की बजाय ब्रिटिश हितों को ध्यान में रखकर ही बनाया गया और लागू किया गया।

भारतीय पूंजीपति वर्ग– 19वीं शताब्दी में भारत में आत्मनिर्भर पूंजीपति वर्ग का उदय हुआ जिसकी कुछ ऐसी विशेषता थी कि ब्रिटिश पूंजीवाद के साथ उनका कोई व्यवस्थित संबंध विकसित नहीं हुआ और उनका भारत में नियोजित विदेशी पूंजी में विलय नहीं हुआ। 20वीं शताब्दी के दौरान भारतीय पूंजीपति ब्रिटिश पूंजीपतियों अथवा भारत और भारतीय बाजार के मध्य मध्यस्थों के रूप में कार्य नहीं करते थे। अधिकतर भारतीय पूंजीपति प्रत्येक चरण में विदेशी पूंजी के लिए ब्रिटिश वित्तीय पूंजी पर निर्भर करते थे। वास्तव में ब्रिटिश पूंजी के साथ गहरी प्रतिस्पर्धा के कारण ही भारतीय औद्योगिक और वित्तीय पूंजी का विकास हुआ और प्रमुख भारतीयों की शिकायत थी कि ब्रिटिश नियंत्रण में चल रहे बैंकों ने भारतीय उद्योगों को पर्याप्त वित्तीय सहायता नहीं दी। इसका मुख्य कारण यह था कि ब्रिटिश पूंजीपतियों का भारत में अपना एक

सीधा और सुव्यवस्थित प्रशासन था। इसलिए उन्हें अब भारत में स्थानीय मध्यस्थ वर्ग की आवश्यकता नहीं थी, जिस प्रकार की आवश्यकता उन्हें 18वीं शताब्दी में भारत में और 19वीं व 20वीं शताब्दी में चीन में महसूस हुई।

टिप्पणी

20वीं सदी के कुछ प्रमुख भारतीय उद्योगपतियों के नाम– कस्तूरी भाई, लाल भाई, सिंहानिया, टाटा, बिड़ला, बालचंद, हीराचंद नरोत्तम मोरार जी, डालमिया, श्रीराम, विट्ठलदास ठाकरसी, अंबालाल साराभाई, कीलाचंद देवीचंद, लल्लू भाई सामलदास, लालजी नारनजी, मोदी, किलोसकर, हरिकृष्ण लाल। इनके घरानों का विदेशी पूंजी के साथ मुश्किल से ही कोई संपर्क हुआ, उस पर निर्भरता की तो बात अलग है। इस प्रकार भारतीय पूंजीपति वर्ग अपने आर्थिक अस्तित्व के लिए विदेशी पूंजी पर निर्भर नहीं था, इसलिए वह भारत में ब्रिटिश शासन का मित्र भी नहीं था, बल्कि बिल्कुल विपरीत था। भारतीय पूंजीपति वर्ग ब्रिटिश पूंजी से जुड़ा नहीं था लेकिन उस अर्थव्यवस्था का अंग था और उसके अधीन था। जिन विवशताओं और कमियों के तहत इस वर्ग ने अपना कार्य जारी रखा वे तीन तथ्य निम्नलिखित हैं–

(i) इस वर्ग की आर्थिक और राजनीतिक क्षमताओं और कमियों को समझने के लिए हमें औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के ढांचे की ओर देखना चाहिए न कि पूंजीपति वर्ग की तथाकथित अधीनस्थ वर्ग स्थिति की ओर। इसी प्रकार, भारतीय अर्थव्यवस्था को विकसित करने में उपनिवेशवाद की असफलता से यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि भारतीय बुर्जुआ ने भी इस दिशा में कार्य नहीं किया। ऐसा तब कहा जा सकता था जब यह वर्ग स्वयं औपनिवेशिक पूंजी और उपनिवेशवाद से जुड़ा हुआ होता।

(ii) औपनिवेशिक रूप से पूंजीपति वर्ग को नहीं बल्कि अर्थव्यवस्था को अधीन किया जाता है, इसलिए पूंजीपति वर्ग एक ओर तो साम्राज्यवाद के विरुद्ध और स्वतंत्र पूंजीवादी विकास के लिए संघर्ष करता है और दूसरी ओर साम्राज्यवाद के साथ समझौता करने को विवश होता है क्योंकि एक औपनिवेशिक अथवा पूर्व औपनिवेशिक समाज में विश्व पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के साथ संरचनात्मक संबंध होने के कारण पूंजीपति की स्थिति कमजोर हो जाती है।

(iii) केवल भारतीय पूंजीपति वर्ग की ही यह नियति नहीं रही है। चूंकि एक ढांचे के रूप में विश्व पूंजीवाद का अस्तित्व साम्राज्यवाद के रूप में होता है, जिसके एक अंग का विकास दूसरे अंग के अविकास के कारण होता है। इसलिए इसकी परिधि के अंदर वे राज्य, जो विकसित नहीं हो पाते, तब तक अविकसित और उपनिवेश बने रहते हैं जब तक कि वे स्वयं इस ढांचे से बाहर नहीं निकलते।

भारतीय पूंजीपति वर्ग इस तथ्य से अब भली–भांति से परिचित हो चुके थे कि भारत के औपनिवेशिक आर्थिक शोषण की वजह से उनके दीर्घकालिक विकास में रुकावट आ रही थी और इसलिए उसने उन तीनों प्रमुख बातों का विरोध किया जिनके द्वारा ब्रिटेन भारतीय सामाजिक अधिशेष का लाभ उठाता था : भारतीय बाजार पर प्रभुत्व, विदेशी पूंजी का निवेश 1914 तक ब्रिटिश साम्राज्यवाद भारत का खुले तौर पर साफ–साफ विरोध करता रहा, किंतु कभी–कभी हस्तशिल्प उद्योगों के नष्ट हो जाने के कारण खेती पर जनसंख्या के लगातार बढ़ते हुए दबाव को देखकर उद्योगों के विकास की बात उठती रहती थी किंतु इसके बावजूद सरकार का रवैया लापरवाही का ही रहा। 1880 के अकाल आयोग ने भारत में औद्योगिक विकास की संभावनाओं और

सीमाओं की ओर सरकार का ध्यान आकृष्ट किया किंतु सरकार ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया। किंतु अकाल आयोग के सुझावों से प्रेरित होकर मद्रास सरकार कुछ जोश में दिखी और 1905 में वाणिज्य उद्योग विभाग की स्थापना की तथा 1908 में मद्रास सरकार द्वारा उद्योग विभाग के लिए डायरेक्टर की नियुक्ति की गई, किंतु यहां भी अड़चनें डाल दी गई। मद्रास के उद्योग विभाग के कार्यों का स्थानीय यूरोपीय समुदाय ने यह कहकर विरोध करना शुरू कर दिया कि यह निजी उद्योग के लिए गंभीर खतरा है और राज्य सरकार द्वारा सरकार के दायरे से बाहर के क्षेत्र में किया गया अनुचित हस्तक्षेप है। इस प्रकार भारत सरकार के सैक्रेटरी ऑफ स्टेट ने लार्ड मारले से उद्योगों हेतु स्थाई विभाग के लिए इजाजत मांगी तो उन्हें साफ मना कर दिया गया।

19वीं शताब्दी के 7वें व 8वें दशक में जब भारतीय कपड़ा उद्योग अपनी कमजोर स्थिति से कुछ तरक्की करने लगा तो तत्काल इंग्लैण्ड में इस बात के लिए आंदोलन शुरू हो गया कि इंग्लैण्ड से आयात किए जाने वाले सूती कपड़े पर लगने वाली चुंगी समाप्त की जाए। 1874 में मैनचेस्टर के चैम्बर ऑफ कामर्स ने एक ज्ञापन दिया और 1879 में मोटे सूती कपड़े पर आयात शुल्क समाप्त कर दिया गया। किंतु आश्चर्यजनक यह है कि यह शुल्क उस समय समाप्त किया गया जब भारत में अकाल के कारण भारत की आर्थिक स्थिति अत्यन्त खराब थी। इससे स्पष्ट हो जाता है कि सरकार के लिए भारत के स्थान पर ब्रिटेन का हित प्रमुख है।

1894 में सरकार को अपनी वित्तीय जरूरतों के कारण भारत में ब्रिटिश कपड़े के आयात पर 5% की दर से आयात शुल्क लगाना पड़ा तो भारतीय कपड़ा निर्माताओं को इससे मिलने वाले लाभ को निरस्त करने के लिए उन पर भी 5% दर से उत्पादन शुल्क का भार लाद दिया गया। कपड़ा शुल्क नीति की इस घटना पर तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड नार्थ ब्रुक ने सेक्रेटरी ऑफ स्टेट लार्ड साल्सबरी से मतभेद के कारण 1874 में त्यागपत्र दे दिया। नार्थ ब्रुक का मानना था कि भारत की शुल्क नीति का निर्धारण भारत की सरकार को करना चाहिए न कि लंदन की सरकार को। किंतु साल्सबरी इस बात को मानने के लिए बिल्कुल तैयार नहीं थे।

1914 में प्रथम विश्व युद्ध प्रारम्भ हो गया था और सरकार को मजबूर होकर अपनी नीति में परिवर्तन करना पड़ा और उसमें भारतीय औद्योगिक विकास हेतु 1916 में औद्योगिक आयोग की केवल घोषणा निम्नलिखित सुझावों के साथ की गई है–

(i) क्या भारतीय पूंजी को वाणिज्य और उद्योगों में लाभप्रद बनाने की दृष्टि से नए काम शुरू किए जा सकते हैं।

(ii) यदि संभव है तो सरकार औद्योगिक विकास को किस तरह अच्छी प्रकार और प्रत्यक्ष रूप से प्रोत्साहित कर सकती है।

1918 में भारत सरकार ने रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुए कहा कि औद्योगिक विकास में सफलता के लिए सरकार को पिछले वर्षों के मुकाबले अधिक सक्रिय होने की आवश्यकता है और यदि सरकार देश का समग्र आर्थिक विकास चाहती है तो भविष्य में एक योग्य प्रशासनिक ढांचे को गठित करने की आवश्यकता है। इस रिपोर्ट के पश्चात् सरकार ने देश के कुछ उद्योग धंधों के विकास में मदद की किंतु फिर भी कुल मिलाकर यह मदद ऐसी नहीं थी कि जिससे कि देश में तेजी से औद्योगिक विकास को पर्याप्त प्रेरणा और प्रोत्साहन मिल पाता।

टिप्पणी

भारत में संसाधनों की कमी कभी नहीं रही, यदि कमी रही थी तो उन संसाधनों को सही समय पर सही तरीके से प्रयोग करने की। भारत में लोहा, कोयला जैसे खनिजों का भंडार है और अन्य खनिज भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं। भारत में जल शक्ति के पर्याप्त साधन भी उपलब्ध थे जिनका उपयोग करके सारे देश में बिजली के तारों का जाल फैलाया जा सकता था। किंतु ब्रिटिश सरकार देश के औद्योगिक विकास के लिए इन प्राकृतिक साधनों का उपयोग करने के बारे में उदासीन ही बनी रही, उनका सारा ध्यान इस बात पर था कि इन संसाधनों का प्रयोग ब्रिटेन के उद्योगों के लिए किस प्रकार से किया जाएगा। इस कारण भारत संसाधन संपन्न होते हुए भी अपने औद्योगिक विकास से वंचित रह गया।

सरकार अपने स्टोर्स के लिए सामान खरीदने में भी भारतीय उद्योगों के विरुद्ध और ब्रिटिश निर्माताओं को लाभ पहुंचाने वाली ही थी। सरकार अपने स्टोर्स तथा रेलों के लिए विभिन्न प्रकार के साज सामान भारतीय उद्योगों से न खरीदकर ब्रिटेन के उद्योगों से माल को खरीदती थी। 19वीं शताब्दी के दौरान पश्चिमी यूरोप, जापान और अमेरिका आदि सभी देशों में अपने–अपने घरेलू उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिए उनमें बने सामान को सरकारी खरीद में प्राथमिकता देने की ही नीति अपनाई गई और इसके ठीक विपरीत भारत में तो सरकार ने अपनी खरीद के लिए भारत के बजाय ब्रिटेन के उद्योगों में बने माल को ही प्राथमिकता दी थी। ऐसी स्थिति में भारतीय उद्योग कैसे विकसित हो सकते थे।

इससे सरकार की तीव्र आलोचना होने लगी और दबाव डाला जाने लगा कि सरकार भारतीय उद्योगों में बने माल को प्राथमिकता दे। इसी क्रम में 1919 स्टोर परचेज कमेटी की नियुक्ति करके सरकारी स्टोर्स की खरीद को प्रोत्साहित करने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम उठाया गया और सुझाव दिया गया कि सरकारी खरीद के लिए भारत के उद्योगों को एक न्यूनतम आर्डर की गारण्टी दी जाए, इससे लोहा और इस्पात उद्योग को काफी सहायता मिली।

20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत ने जो औद्योगिक प्रगति की उसका कारण देशी पूंजीपतियों और ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के बीच निहित स्वार्थों का तालमेल था। प्रथम विश्व युद्ध के बाद भारत में आजादी की मांग जोर पकड़ने लगी और देश का राजनैतिक वातावरण काफी अशांत हो चुका था, ऐसी स्थिति में भारत पर अपना शोषण जारी रखने के लिए अंग्रेजों ने भारतीय पूंजीपति वर्ग को शामिल करने की नीति बनाई किंतु इसके लिए यह आवश्यक था कि इस वर्ग को कुछ राजनीतिक व आर्थिक सुविधाएं दी जाए। ऐसी नीति अपनाकर कुछ उद्योगों, कारखानों का निर्माण भी किया गया किंतु इससे उतना औद्योगिक विकास नहीं हुआ जितना होना चाहिए था क्योंकि अंग्रेज सरकार की विद्वेष एवं उपेक्षापूर्ण नीतियों से भारतीय उद्योगों का ह्रास ही हुआ। इस अवधि में शायद भारत ऐसा पहलो देश था जिसने औद्योगीकरण के प्रभाव को सबसे पहले महसूस किया। जापान अपनी आवश्यकता के 90% कच्चे तेल, 88% अयस्क लोहे और 11% कोयले का आयात ही करता था। जापान में कपड़ा उद्योग काफी समय से प्रमुख उद्योग होते हुए भी उसे कच्चा माल बाहर से ही मंगाना पड़ता था। इसके विपरीत भारत इन सभी चीजों के मामलों में काफी लाभप्रद स्थिति में था। परिवहन के साधनों की दृष्टि से जापान भारत की तुलना में अधिक अच्छी स्थिति में नहीं था। 18वीं

टिप्पणी

शताब्दी तक भारत के हस्तशिल्प उद्योग काफी विकसित अवस्था में रहे थे, अतः तकनीकी कौशल की दृष्टि से भारत पूरे तौर पर कोरा नहीं था।

औद्योगिक और वित्तीय दोनों तथा सार्वजनिक पूंजी पर नियंत्रण और विशेष रूप से साम्राज्यवादी उद्देश्यों के लिए सेना पर अत्यधिक खर्च द्वारा अधिशेष पर सीधा कब्जा जमाना अंग्रेजों की नीति थी।

भारतीय पूंजीपति वर्ग ने जिन प्रमुख बिंदुओं पर एक सुस्पष्ट राष्ट्रीय नीति तैयार की थी ब्रिटेन उसे मानने को तैयार नहीं था। इस प्रकार संघर्षों और समझौतों की एक श्रृंखला द्वारा क्रमबद्ध राजनीति की सम्पूर्ण रणनीति नियोजित थी। भारतीय पूंजीपति वर्ग एक धनी वर्ग था जो कि एक ऐसे युग में साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष कर रहा था जबकि शोषित वर्ग भी अपने अधिकारों के लिए संघर्ष कर रहे थे और वर्ग समाज के आधारभूत विचार को भी चुनौती दे रहे थे।

4.2.6 औद्योगिक श्रम का प्रारंभ : बड़े पैमाने के उद्योगों में श्रम–शक्ति

हमारे औद्योगीकरण की गति धीमी होने के कारण यद्यपि यहां श्रम समस्या यूरोपीय देशों के समान कठिन नहीं थी परंतु उनके जैसी होने में अब देर भी नहीं थी। 1914–18 में प्रथम विश्वयुद्ध से आए नवजागरण ने श्रमिक वर्ग को उनके महत्व और अधिकारों के प्रति अधिक सजग बना दिया। राष्ट्र संघ भी यह स्वीकार कर चुका था कि भारत भी संसार के 8 प्रमुख औद्योगिक राष्ट्रों में से एक हैं अब सरकार और जनता दोनों ही राष्ट्रहित में कुशल और संतुष्ट श्रम के महत्व को अनुभव करने लगी थीं। मई 1929 में जे.एच. हिटले की अध्यक्षता में "राजकीय श्रम आयोग" की नियुक्ति इसी बात की पुष्टि करती है। भारत में सार्वजनिक निर्माण कार्यों जैसे रेलवे और सार्वजनिक भवनों के निर्माण तथा सीमित औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप औद्योगिक श्रम वर्ग का उदय हुआ। अंग्रेजी काल में भारत का व्यवसायिक ढांचा जड़ बना रहा है और औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया व्यापक न होने के कारण आधुनिक औद्योगिक श्रमिकों की संख्या में ज्यादा तेजी से वृद्धि नहीं हुई। जैसे–1901 में कुल श्रमिकों की ब्रिटिश क्षेत्र में संख्या 34.39 मिलियन थी जो 1947 तक आते आते बढ़ कर लगभग 38 मिलियन हो गई थी। औपनिवेशिक राज्य में फैक्ट्री एक्ट के माध्यम से 'औद्योगिक' या 'फैक्ट्री' की परिभाषा समय–समय पर की गई। इसलिए आधुनिक उद्योगों में कार्यरत श्रमिकों की संख्या का सही–सही आकलन कर पाना संभव नहीं है। फिर भी मोटे तौर पर अनुमान है कि सन् 1894 में कुल 815 विभिन्न किस्म की आधुनिक फैक्ट्रियों में लगभग 3.5 लाख मजदूर काम कर रहे थे, 1914 में कुल फैक्ट्रियों में 17.51 सलाख और 1945 में 14761 फैक्ट्रियों में 26.43 लाख औद्योगिक श्रमिक काम कर रहे थे।

भारत की विशाल आबादी के सामने ये संख्याएं बहुत अधिक नहीं थीं, लेकिन आर्थिक रूप से देखें तो श्रमिकों की उत्पादकता इस क्षेत्र में ज्यादा होने के कारण बड़े पैमाने के उद्योगों का कुल राष्ट्रीय आय में योगदान अपेक्षाकृत अन्य गैर औद्योगिक क्षेत्रों के मुकाबले में कहीं ज्यादा था।

श्रमिकों की बढ़ती संख्या– औद्योगिक क्रान्ति ने भारत के लघु, कुटीर उद्योगों व कृषि पर प्रहार तो किया ही किन्तु ऐसी उम्मीद थी कि बढ़ती फैक्ट्रियों से मजदूरों को

टिप्पणी

रोजगार मिल जाएगा और स्थिति में कुछ सुधार होगा। आधुनिक उद्योगों में कार्यरत श्रमिकों में सबसे ज्यादा अनुपात सूती मिलों और जूट की मिलों का ही था। इन मिलों में 1945 में 26.43 लाख में से 10.14 लाख मजदूर काम कर रहे थे और छोटी जूट मिलों को मिलाकर 3 लाख औद्योगिक मजदूर कार्यरत थे अर्थात् रोजगार की दृष्टि से कपड़ा उद्योग में सर्वाधिक श्रमिक रोजगार पा रहे थे। साथ ही खानों में काम करने वाले 1945 में 3.86 लाख थे। स्पष्ट रूप से औद्योगिक ढांचे में पूंजीगत भारी मशीन निर्माण आदि का अभाव होने से उस क्षेत्र में औद्योगिक श्रमिकों की संख्या ज्यादा नहीं थी।

संख्या की दृष्टि से देखा जाए तो श्रम भारत में एक अतिरिक्त तथा सुलभ संसाधन था अतः किसी उद्योग में श्रम की आपूर्ति की समस्या नहीं हो सकती थी, लेकिन किसी संसाधन की प्रचुरता चाहे वह श्रम जैसा गतिशील साधन ही क्यों न हो, का अर्थ यह नहीं था कि उद्योगों के लिए श्रम सरलता से मिल जाता था। कई क्षेत्रों में जैसे– चाय बागानों और कोयलों की खानों में श्रम की कमी आरंभ से ही महसूस की गई और इससे निपटने के लिए ठेकेदारों या बिचौलियों द्वारा अनुबंध व्यवस्था के तहत दूर–दराज के इलाकों से मजदूरों को लाया जाता था। 19वीं सदी के मध्य में भारत में विकसित उत्पादन व्यवस्था में श्रम का इस्तेमाल रोजगार का एक नया रूप था। फैक्ट्री श्रम का विकास ग्रामीण तथा परम्परागत व्यवसायों जैसे– कृषि या हस्तशिल्प उद्योग से हट कर आधुनिक मशीन आश्रित उद्योगों में श्रमिकों के आने की प्रक्रिया है। मिल मजदूर विशेष तौर से कुछ खास क्षेत्रों से आते थे जैसे सूती मिलों के लिए मुख्यतया कोंकण तथा दक्कन क्षेत्र से या पूर्वी यू.पी. से तथा जूट मिलों के मजदूर ज्यादातर उत्तरी बिहार, पूर्वी यू.पी. और उड़ीसा से आते थे। ये औपनिवेशिक काल में आंतरिक प्रवासन की धाराओं को प्रदर्शित करते हैं। पहली प्रवसन धारा उत्तर–पूर्वी दिशा की तरफ प्रवास करती है तथा दूसरी दक्षिण से पश्चिम की ओर रुख करती है। ग्रामीण अंचलों से प्रवसन करके शहरों में जाकर बसने के पीछे कई कारण थे। यहां यह सवाल भी उठता है कि स्थानीय श्रमिकों का इस्तेमाल करने के बजाय मिलों के प्रवासी मजदूरों को रोजगार क्यों दिया गया। ललिता चक्रवर्ती के अनुसार ये मजदूर उन क्षेत्रों से आए थे जहां कृषि की दशा अत्यन्त खराब हो चुकी थी किन्तु मिल मालिकों ने इन प्रवासी मजदूरों की मजदूरी कम ही तय की थी।

श्रमिकों की समस्यायें– उद्योगों के कारण सम्पत्ति और धन की प्रचुरता हो चली, किन्तु उनके समायोजन की ठीक व्यवस्था न होने से, बेरोजगारी और अर्ध रोजगार, स्त्रियों और बच्चों को नौकर रखने, नौकरी छूटने, कम वेतन, अस्वच्छतापूर्ण कार्यावस्था, शारीरिक पीड़ा, औद्योगिक रोग, जीवन को खतरा, अंग–भंग होने का खतरा, सामाजिक और नैतिक पतन आदि की समस्याएं उत्पन्न हो गयीं। औद्योगीकरण के उक्त दोषों ने तथा मालिकों और कामगारों के आपसी तनावपूर्ण सम्बन्धों ने जो समस्यायें पैदा कर दी उनको अब 'श्रम समस्यायें' कहा गया।

इन समस्याओं ने समाज की जड़ पर आघात पहुंचाया। आरम्भ से ही उनकी ओर ध्यान देना आवश्यक था तथा इन समस्याओं का जितना जल्दी हो सके सफाया करना आवश्यक था किंतु मिल मालिकों का ध्यान उत्पादन बढ़ाने, मशीनों के रखरखाव

तथा तकनीकी सुधार पर ही केन्द्रित था। मिल मालिकों ने मजदूरों की स्थितियों पर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया। उन्होंने कामगारों के कल्याण और आवश्यकताओं की ओर से आंखें मूंद ली। दूसरी ओर कामगार, अनपढ़, गरीब थे। वे न ही अपने अधिकार जानते थे न ही उनकी रक्षा करना। उनकी सामाजिक व आर्थिक स्थिति मालिकों के सामने न के बराबर थी। मालिकों ने इन परिस्थितियों का जी खोलकर लाभ उठाया। उन्होंने नौकरी की शर्तें अर्थात् वेतन, काम के घंटे आदि मनमाने ढंग से तय कर लिए। नौकरी से निकाल देना, वेतन काट लेना, छुट्टी की एकतरफा शर्तें आदि सब इनकी इच्छा पर निर्भर होता था। मजदूरों को उनके आगे घुटने टेकने पड़े क्योंकि अब सेवानिवृत्ति ही उनकी एकमात्र आजीविका बन गयी थी। नौकरी की उचित शर्तें मनवाने के लिए कामगारों द्वारा मिलकर कार्यवाही करना एक मुश्किल काम था। नौकरी ही उनका एकमात्र सहारा थी, नौकरी से निकाले जाने के भय के कारण वे किसी सामूहिक कार्यवाही में भाग लेने से डरते थे। सरकार कानून और व्यवस्था की ओट में कामगारों को प्रायः उन सार्वजनिक सभाओं को करने से रोक देती थी जिनमें वे कार्यावस्थाओं तथा अपने मानवीय अधिकारों की रक्षा के उपायों पर विचार करना चाहते थे। कामगारों के संगठनों का कोई कानूनी स्थान न था। सरकार ने हस्तक्षेप न करने की नीति के बहाने श्रमिकों की समस्याओं की ओर ध्यान देने से इन्कार कर दिया। उसने संबंधित पक्षों के आपसी समझौतों को आवश्यकता से अधिक महत्व देना आरम्भ कर दिया और वह कानून तथा व्यवस्था पर ही बल देना अपना एकमात्र कर्त्तव्य मान बैठे। इस प्रकार स्थिति दिन पर दिन बिगड़ती गई और उसके कुप्रभाव स्पष्ट दिखने लगे और अब सरकार उसको दूर करने के उपाय सोचने लगी।

तीन ऐसे वर्ग थे जिनका श्रम समस्या से घनिष्ठ सम्बन्ध था, कामगार, मालिक और सरकार। इनकी समस्याओं की ओर कभी भी ध्यान नहीं दिया गया।

कामगार– कामगारों ने अपने गणमान्य नेताओं की सहायता से और अपने संगठनों तथा कभी–कभी अवस्थाओं में अपनी सामूहिक कार्रवाई द्वारा अपनी दुव्यवस्था सुधारने का अथक प्रयास किया। प्रारम्भ में उनके प्रयत्न प्रायः विफल होते रहे। इसका मूल कारण था कि उनमें सेवायोजक की बराबरी करने की शक्ति नहीं थी, जिससे वे सौदा करने में सफल हो सकते और उनके पास जीविका का कोई अन्य साधन भी नहीं था।

मालिक– कुछ उदार मालिकों के हृदय में औद्योगीकरण के दोषों को दूर करने की ललक पैदा हुई। उन्होंने समझ लिया था कि श्रमिकों के कल्याण कार्य पर एक भी पाई व्यर्थ नहीं की जा सकती क्योंकि इसका परिणाम अच्छा नहीं होगा। सन्तुष्ट श्रमिक की उत्पादन क्षमता बढ़ जायेगी, किन्तु उनकी यह नीति मात्र संरक्षक की भावना से प्रेरित थी और उन्होंने जो कार्य किया वह श्रम समस्याओं के ऊंट के मुंह में जीरे के समान थी।

सरकार– सरकार जनता के हितों की संरक्षक होती है। औद्योगिक कामगार समाज के एक बड़े अंग का निर्माण करता है, इसलिए सरकार को उनके आर्थिक, सामाजिक और नैतिक सुधार पर ध्यान देना आवश्यक था। सरकार धीरे–धीरे अब यह समझ रही थी कि श्रमिकों की स्थिति के सम्बन्ध में अब बहुत देर तक उदासीन नहीं रहा जा सकता।

टिप्पणी

4.2.7 मजदूर आन्दोलनों के प्रकार

मजदूर संघ को मजदूरों के कामगार जीवन को बनाए रखने अथवा उनकी स्थितियों में सुधार लाने के उद्देश्य से मजदूरों के स्थायी संघ के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। भारत में मजदूर संघों की गतिविधियां 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आधुनिक उद्योगों की स्थापना के साथ ही शुरू हो गई थीं। रेलवे का निर्माण इस दिशा में पहला कदम था और यह आधुनिक कामगार वर्ग आंदोलन का अग्रदूत रहा। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के उदय के पीछे छिपी राजनीतिक विचारधाराओं से भारतीय मजदूर संघ आंदोलन अत्यधिक प्रभावित हुआ

मजदूर संघवाद की प्रारम्भिक अवस्था में श्रमिकों ने औद्योगिक जीवन की कठिनाइयों को दूर करने के लिए अपनी मांगें प्रस्तुत की। 1877 में नागपुर में एक्सप्रेस मिल के कामगारों ने अपने वेतन की कम दरों के विरोध में हड़ताल की। इस प्रकार की हड़तालें विभिन्न स्थानों पर की गईं। जबकि अभी तक किसी व्यवस्थित मजदूर संघ का गठन नहीं हो पाया था। 1875 से 1890 तक भारतीय श्रमिकों की दशा का अध्ययन करने, उसमें सुधार करने तथा श्रमिकों की दशा का नियमन करने के उद्देश्य हेतु कई प्रकार के प्रयास प्रारम्भ किए जा चुके थे।

कारखानों की दशा को सुधारने हेतु एन.एम. लोखाण्डी ने 1890 में देश का गठित पहला मजदूर संघ बनाया। बाद के वर्षों में इसी प्रकार के श्रमिक हितवर्धक सभा 1909 में, सामाजिक सेवा संघ 1911 में, भारतीय रेल कर्मचारी एकीकृत सोसाइटी 1897 में, कलकत्ता मुद्रक संघ 1905 में स्थापित किए गए। उस समय जिस विशेष समस्या पर ध्यान दिया गया वह था श्रमिकों का करारबद्ध प्रवसन जो उन भारतीय श्रमिकों की कार्य तथा जीवन संबंधी प्रश्नों के बारे में था जो बहुत बड़ी संख्या में ब्रिटिश उपनिवेशों तथा अन्य देशों में भेजे गए थे। लगभग 1830 से ही इस प्रकार के करार बने थे और 1922 तक ऐसा ही चलता रहा। महात्मा गांधी ने दक्षिण अफ्रीका में करारबद्ध श्रमिकों के बीच श्रमिक क्षेत्र में ही अपना कार्य प्रारंभ किया। उन्होंने बाद में अहमदाबाद कपड़ा मिल श्रमिक संघ का गठन किया और उसका विकास किया। करारबद्ध मजदूरों की ऐसी ही दुर्वह प्रथा स्वयं देश में ही चाय, कहवा तथा नील के बागानों में भी प्रचलित थी। इनकी कठिनाइयों तथा शिकायतों को लेकर समय–समय पर ऐसे प्रयास चलते रहे।

अब इसी बीच कारखानों की संख्या बढ़ती जा रही थी। अब तो भारत का पूंजीपति वर्ग भी अपने मिल कारखाने खड़े कर रहा था। इसके साथ–साथ गरीबी और रोजगार के अभाव में श्रमिक गांव छोड़कर शहर आने लगे, किंतु यहां उनको अनेकों कठिनाइयों का सामना करना पड़ा जैसे रहने की जगह, स्वास्थ्य, सफाई इत्यादि। वे सभी अलग–अलग परिवेशों से थे इसलिए उनमें एकता और संगठन की शक्ति नहीं थी। इस स्थिति पर एम.एन. राय लिखते हैं– "आधुनिक भारत के शहरी मजदूरों का अभ्युदय कारीगरी की श्रेणी में नहीं हुआ बल्कि उनमें अधिकतर भूमिहीन किसान या खेतिहर मजदूर थे। इसमें आश्चर्य नहीं है कि बहुसंख्यक मजदूर अकुशल तथा बहुत समय तक असंगठित रहे। यही कारण था कि भारत में मजदूर संघों का विकास देरी से हुआ। जब प्रथम विश्व युद्ध समाप्त हुआ तो कीमतें आसमान छूने लगी, खाद्यान्न व अन्य वस्तुओं का अभाव होने लगा और इस दौर में इस स्थिति का सामना करना इन श्रमिकों के लिए मुश्किल हो रहा था। यही वह प्रतिकूल परिस्थितियां थी कि संगठित मजदूर संघ आंदोलन का विकास हुआ।

प्रारम्भिक मजदूर संघ आंदोलन– मद्रास मजदूर संघ भारत में सर्वप्रथम आधुनिक मजदूर संघ संगठन था, जिसकी स्थापना 1918 में बी.पी. वाडिया ने की थी। इसमें मुख्य रूप से बकिंघम और कर्नाटिका कपड़ा मिल के मजदूर शामिल थे। इसी बीच कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में क्रमशः एक, चार, दो मजदूर संघ बने। इसी प्रकार धीरे–धीरे सम्पूर्ण देश में छोटे–बड़े मजदूर संघ बनने लगे। इनमें रेल कर्मचारी, गोदी मजदूर, बन्दरगाहों या पत्तनों पर काम करने वाले मजदूर थे।

इसी बीच अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की स्थापना 1920 में हुई और यहां भारत की सदस्यता हेतु अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना के रूप में सामने आई। इसका पहला अधिवेशन लाला लाजपत राय की अध्यक्षता में 1920 में हुआ। एक गणना के अनुसार 1924–25 में मजदूर संघों की संख्या 167 थी जिनमें मुख्यतः कपड़ा, रेल, जहाजरानी, लोहा और इस्पात, वाणिज्यिक और बैंकिंग प्रतिष्ठान शामिल थे। इन मजदूर संघों के परिसंघ थे और इनमें से कुछ तो हड़ताल समितियां मात्र थे अर्थात हड़ताल समाप्ति के पश्चात् ये विलुप्त हो जाते थे। नागपुर अधिवेशन में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने यह संकल्प लिया था, "यह कांग्रेस भारतीय मजदूरों को मजदूर संघों का गठन करके उनके न्यायसंगत अधिकारों को प्राप्त करने के लिए उनके संघर्ष में अपनी पूरी सहानुभूति प्रकट करती है। कांग्रेस की यह राय है कि भारतीय श्रमिकों का यह संगठन इस दृष्टि से किया जाना चाहिए कि उनका कल्याण हो सके और उन्हें अपने न्यायोचित अधिकार मिल सकें।"

1926 में भारतीय मजदूर संघ अधिनियम पारित हुआ। जिसने मजदूर संघों को कानूनी दर्जा दिया, यह ब्रिटिश मजदूर संघ अधिनियम के समान था, जिसके अंतर्गत मजदूर संघों और उनके कार्यकर्ताओं को मजदूर संघ की गतिविधियों के लिए दीवानी, फौजदारी कार्यवाही से संरक्षण प्राप्त हुआ।

अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस

भारत में प्रवासी मजदूर संघ आंदोलन का प्रारंभ अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना के साथ हुआ। भारत का कामगार वर्ग प्राप्त अधिकारों के महत्व को जान चुका था। वह यह भी जान चुका था कि यदि अपने अधिकारों का प्रयोग करने हेतु मजदूर संगठित नहीं हुआ तो उन्हें इसकी भारी कीमत चुकानी पड़ेगी। स्वतंत्रता प्राप्ति तक यह संघ श्रमिक वर्ग का केंद्रीय संघ बना रहा। इसके प्रारंभिक नेता लाला लाजपत राय, एन.एम. जोशी तथा बी.वी. गिरी शामिल थे।

1923 में साम्यवादी प्रभुत्व वाले श्रमिक संघ की स्थापना हुई। बम्बई में साम्यवादी मजदूरों ने बहुत से नये संगठनों का गठन किया, कुछ पुराने संघों को भी शामिल किया गया। 1926–27 में अनेक हड़तालें की जिनमें से कुछ सफल भी रही। 1925 में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस पर साम्यवादी प्रभाव परिलक्षित होने लगे। इस प्रभाव के परिणामस्वरूप 1928 का वर्ष भयंकर औद्योगिक अशान्ति का वर्ष रहा। सरकार द्वारा अधिकांश साम्यवादी नेताओं की गिरफ्तारी के कारण साम्यवादी प्रभाव में कमी आई जिससे इस क्षेत्र में अधिकांश मजदूर संघों के वरिष्ठ एवं अनुभवी कार्यकर्ताओं की गतिविधियां समाप्त हो गई। 1929 के विश्वव्यापी आर्थिक संगठन का भी प्रभाव मजदूर संघों की गतिविधियों पर पड़ा।

भारतीय मजदूर संघ आंदोलन– सामाजिक लोकतांत्रिक विचारों से ओत–प्रोत ब्रिटिश लेबर पार्टी ने 'श्रमिक वर्ग द्वारा हिंसक क्रांति के माध्यम से राजनीतिक सत्ता पर कब्जा करने की साम्यवादी विचारधारा को अस्वीकार कर दिया किंतु एन.एम. जोशी का विश्वास था कि आर्थिक मामलों को हल करने के लिए मजदूर संघों की राजनीतिक गतिविधियां उल्लेखनीय होगीं किंतु गांधी इसके विरोधी थे, वे पूंजीपतियों और श्रमिकों के बीच वर्ग सहयोग के पक्षपाती थे। उत्पादक वर्गों की आर्थिक स्वतंत्रता की दृष्टि से एन.एम. राय ने लम्बे कड़े संघर्ष की परिकल्पना की थी, इस विचार से प्रभावित होकर साम्यवादियों ने देश भर में व्यापक स्तर पर श्रमिक संघों का गठन किया। 1929 में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस को मास्को में हुए तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन से सम्बद्ध करने में सफल हुए। इसके फलस्वरूप अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन का विभाजन सफल हुआ। 1931 में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन में दूसरी बार विभाजन हुआ और साम्यवादियों ने रेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस का गठन किया।

मजदूर संघ आंदोलन– 1934 के बाद व्यापार और उद्योग में धीरे–धीरे सुधार हुआ। इसके साथ ही मजदूर संघों की संख्या और उनके सदस्यों की सदस्यता बढ़ी। 1920 में अहमदाबाद कपड़ा श्रमिक संघ ने गांधीवादी सिद्धान्तों पर श्रमिक कार्य जारी रखा। गांधी के अनुसार यह संघ श्रमिकों में उनके कार्य की प्रयोगशाला रहा है। गांधी का मानना था कि हड़ताल तब ही की जानी चाहिए जब कोई विकल्प नहीं हो। गांधी आगे कहते हैं कि "श्रमसंघों का उद्देश्य श्रमिकों के नैतिक और बौद्धिक स्तर को विकसित करना होना चाहिए। इस प्रकार एकमात्र योग्यता के द्वारा श्रमिक उत्पादन के साधनों के दास बने रहने की अपेक्षा उनके स्वामी बन जाते हैं।"

सितम्बर, 1939 में द्वितीय विश्व युद्ध का मजदूर संघ आंदोलनों पर भारी प्रभाव पड़ा। कीमतों में वृद्धि हुई, आवश्यक चीजों का अभाव होने लगा। कांग्रेस मंत्रिमण्डल पहले ही त्याग पत्र दे चुकी थी। श्रमिकों ने महंगाई भत्ता तथा बोनस की मांग की, लेकिन सरकार ने भारत सुरक्षा अधिनियम के अंतर्गत सभी प्रकार की हड़तालों पर प्रतिबंध लगा दिया। भारतीय स्वतंत्रता से पूर्व मजदूर संघ आंदोलन इतिहास में एक युगान्तरकारी घटना थी। 1944 में भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना हुई। जिसका उद्देश्य गांधीवादी आंदोलन पर चलना था। इसका मुख्य कारण 1938 में नागपुर एकता के बाद साम्यवादियों ने ए.आई.टी.यू. पर अपना प्रभुत्व कायम कर लिया था।

1946–47 में भारत में पंजीकृत मजदूर संघों की संख्या बढ़ कर 1925 हो गई। फिर भी भारत के विभाजन तक कमियां शेष थी। जैसे– श्रमिकों की निरक्षरता, बाह्य नेतृत्व पर निर्भरता इत्यादि। श्रमिकों से संबंधित कानूनों का निर्माण किया गया किंतु अभी भी इन कानूनों का कड़ाई से पालन नहीं किया जाता था। श्रमिकों को अपने अधिकारों से आज भी वंचित रहना पड़ता है। वर्तमान समय में आज ऐसे श्रमिक हैं जो कि अपने अधिकारों की जानकारी से वंचित हैं और उसका पूरा फायदा उद्योगपति उठाते हैं।

4.2.8 औद्योगिक श्रमिकों की बदलती सामाजिक संरचना

औद्योगीकरण सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन की एक विधि है जो एक मानव समूह को एक कृषि समाज से एक औद्योगिक समाज में बदल देता है। इसमें विनिर्माण के

उद्देश्य से अर्थव्यवस्था का व्यापक पुनर्गठन शामिल है। ऐतिहासिक रूप से औद्योगीकरण प्रदूषणकारी उद्योगों की वृद्धि से जुड़ा है जो जीवाष्म ईंधन पर बहुत अधिक निर्भर हैं; हालांकि, सतत विकास और हरित औद्योगिक नीति प्रथाओं पर बढ़ते ध्यान के साथ, औद्योगीकरण में तेजी से तकनीकी छलांग शामिल है, औद्योगीकरण का अर्थ कृषि जैसे पारंपरिक रूप से हाथ से चलने वाले आर्थिक क्षेत्रों का मशीनीकरण भी है।

अर्थव्यवस्था के पुनर्गठन के आर्थिक और सामाजिक दोनों रूप के कई अनपेक्षित परिणाम हैं। जैसे–जैसे औद्योगिक श्रमिकों की आय बढ़ती है, उपभोक्ता वस्तुओं और सभी प्रकार की सेवाओं के लिए बाजार का विस्तार होता है तथा औद्योगिक निवेश और आर्थिक विकास को और प्रोत्साहन मिलता है। इसके अलावा, परिवार के ढांचे में बदलाव होता है क्योंकि विस्तारित परिवार अब एक ही घर या स्थान पर एक साथ नहीं रहते हैं।

सामाजिक संरचना में औद्योगिकी श्रम की संरचना बदलती है। औद्योगिक क्रांति सामाजिक संरचना में परिवर्तन के एक बड़े सौदे के साथ साथ किया गया था, मुख्य परिवर्तन कारखाने से संबंधित गतिविधियों के लिए कृषि कार्य से अलग हो कर भूमिहीन गरीब किसान शहरों की फैक्ट्रियों की ओर जा रहा है। इसके परिणामस्वरूप एक वर्ग संरचना का निर्माण हुआ जिसने आम लोगों को धनी और कामकाजी वर्ग से अलग किया। इसने परिवार व्यवस्था को विकृत कर दिया क्योंकि अधिकांश लोग शहरों में चले गए और कृषि क्षेत्रों को छोड़ दिया, जिसने परिणामस्वरूप बीमारियों के संचरण में एक प्रमुख भूमिका निभाई। समाज में महिलाओं का स्थान घर की देखभाल से नियोजित श्रमिकों में स्थानांतरित हो गया, जिससे प्रति परिवार बच्चों की संख्या कम हो गई। इसके अलावा औद्योगीकरण ने बाल श्रम और उसके बाद शिक्षा प्रणालियों की वृद्धि में योगदान दिया ।

शहरीकरण

चूंकि औद्योगिक क्रांति कृषि प्रधान समाज में एक बदलाव थी, इसलिए लोग गांवों से नौकरियों की तलाश में उन जगहों पर चले गए जहां कारखानों की स्थापना हुई थी। ग्रामीण लोगों के इस स्थानांतरण से शहरीकरण हुआ और शहरों की आबादी में वृद्धि हुई। कारखानों में श्रम की सघनता ने शहरीकरण और बस्तियों के आकार को बढ़ा दिया है, जिससे कारखाने के श्रमिकों की सेवा और आवास हो सके।

सामाजिक संरचना में औद्योगिक श्रमिक के सामाजिक जीवन पर प्रभाव

सामाजिक संरचना में औद्योगिक श्रमिक का सामाजिक जीवन निम्न प्रकार से प्रभावित हुआ है–

1. **रहन–सहन में कृत्रिमता** : औद्योगीकरण के फलस्वरूप लोगों का जीवन अप्राकृतिक हो गया है। तंग घरों, अँधेरी गलियों, धुएँ से भरा हुआ आकाश, ट्रामें, बसें, रेलें, ऊँचे–नीचे मकान व मशीनों का शोर औद्योगीकरण की ही देन है। इस प्रकार मनुष्य प्रकृति से दूर होता चला गया।
2. **गन्दी तथा तंग बस्तियों का विकास** : हर औद्योगिक नगर में जनसंख्या का घनत्व बढ़ने के कारण रहने के स्थान का अभाव हो गया। घनी तंग बस्तियों में दिन में भी सूर्य के दर्शन नहीं होते। कमरे धुएँ से भरे रहते थे। मल–मूत्र की बदबू असह्य होती थी, फिर भी लोग अपने को उसका आदी बना लेते थे। मुम्बई

टिप्पणी

में 'चाल', चेन्नई में 'चेरी' और कानपुर में 'अहाता' आदि इस प्रकार की गन्दी बस्तियों के उदाहरण थे और हैं।

3. **जाति–प्रथा का कमजोर होना** : औद्योगीकरण के फलस्वरूप तथा बढ़ती हुई बेकारी के कारण हर जाति के लोग कारखानों में काम पाने का प्रयास करते थे। काम करते समय और सामान्य जीवन में एक–दूसरे के इतने नजदीक आ जाते थे कि उन्हें प्रतिबन्धों और निषेधों की उपेक्षा करनी पड़ती थी। निषेधों को मानकर वे कोई कार्य नहीं कर सकते थे। अन्तर्जातीय विवाह भी ऐसे स्थानों पर जाति–प्रथा को ढहाने में सहायक होते थे।
4. **नैतिकता का ह्रास** : मशीनों के बीच काम करते–करते मनुष्य की संवेदनशीलता का लोप हो जाता था। उसमें अपने बन्धु–बान्धवों के प्रति सद्भाव का लोप होने लगता था। कारखानों में काम करने वाला व्यक्ति स्वार्थप्रिय हो जाता था और उसमें मूल्यों के प्रति आस्था समाप्त हो जाती थी। औद्योगिक बस्तियों में इसीलिए चोरी, बेईमानी, ईर्ष्या–द्वेष, मद्यपान, जुआ, हत्याएँ सामान्य घटनाएँ होती रहती थी। इससे भ्रष्टाचार का व्यापक प्रसार हुआ है। अपराधों की संख्या में कई गुना वृद्धि हुई। सब आज भी सत्य है।
5. **प्रतिद्वन्द्विता और संघर्ष** : उद्योगों में अस्वस्थ प्रतिद्वन्द्विता के कारण पारस्परिक संघर्ष उत्पन्न हुए, जिससे प्रभावित होकर एक व्यक्ति दूसरे को गला काटने से भी नहीं चूकता था। आज भी स्थिति जस की तस है।
6. **बाल–अपराधों में वृद्धि** : औद्योगीकरण के फलस्वरूप भारत की औद्योगिक बस्तियों में बाल–अपराधों की भी वृद्धि हुई। माता–पिता दिन में अधिकांश समय कारखानों में काम करते थे, उनकी अनुपस्थिति में बच्चे हर तरह के संसर्ग में आते थे। नैतिक शिक्षा का अभाव पहले से ही था। माता–पिता द्वारा नैतिक आदर्श रखे नहीं जाते थे; अस्तु बच्चे हर तरह के अपराध करने लगते थे।
7. **सामुदायिक जीवन का ह्रास** : मानवीय सम्बन्धों के ह्रास के कारण समाज में वैयक्तिकता अधिक पनपी। पारस्परिक सद्भाव, सहयोग और सहानुभूति के अभाव के कारण सामुदायिक जीवन का ह्रास हुआ।
8. **चिन्ता एवं तनाव में वृद्धि** : बढ़ती हुई जनसंख्या और रहन–सहन की सुविधाओं के अभाव के कारण तथा नौकरी की तनावपूर्ण दशाएँ, शोषण, ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिद्वन्द्विता आदि के कारण औद्योगिक बस्ती में रहने वाले लोगों में चिन्ता एवं तनावों में अत्यधिक वृद्धि हो गयी। इससे व्यक्ति का व्यक्तिगत जीवन अशान्त हो गया।

उपर्युक्त सभी दुष्परिणाम आज भी विद्यमान हैं।

पारिवारिक संरचना में परिवर्तन

औद्योगीकरण के साथ परिवार की संरचना बदलती है। समाजशास्त्री टैल्कॉट पार्सन्स ने उल्लेख किया कि पूर्व–औद्योगिक समाजों में कई पीढ़ियों तक फैली एक विस्तारित पारिवारिक संरचना थी जो संभवतः पीढ़ियों तक एक ही स्थान पर रही थी। औद्योगीकृत समाजों में एकल परिवार, जिसमें केवल माता–पिता और उनके बढ़ते बच्चे शामिल होते थे, प्रबल होता था। वयस्कता तक पहुंचने वाले परिवार और बच्चे अधिक मोबाइल थे और जहां नौकरी मौजूद है वहां स्थानांतरित हो जाते थे। विस्तारित पारिवारिक बंधन अधिक कठिन हो जाते थे।

अपनी प्रगति जांचिए

1. भारत की सर्वप्रथम स्पिनिंग एंड वीविंग कंपनी कहां स्थापित की गई?
   (क) बंबई (ख) कलकत्ता
   (ग) मद्रास (घ) सूरत
2. टैरिफ बोर्ड की स्थापना कब की गई?
   (क) सन् 1914 (ख) सन् 1924
   (ग) सन् 1934 (घ) सन् 1944
3. भारतीय चाय का महत्वपूर्ण उपभोक्ता कौन–सा देश था?
   (क) लंदन (ख) फ्रांस
   (ग) इटली (घ) ब्रिटेन

4.3 विदेशी व्यापार और भुगतान संतुलन

भारत में ब्रिटिश व्यापार का विस्तार न केवल भारतीय व्यापार और उद्योगों के लिए विनाशकारी साबित हुआ अपितु उसने भारतीय व्यापार के स्वरूप में भी आमूल परिवर्तन कर दिया। भारत को कर मुक्त अथवा कर की मामूली दर पर ब्रिटिश आयातित माल को स्वीकार करने के लिए बाध्य किया गया जबकि भारतीय माल पर इंग्लैण्ड में भारी आयात कर लगाया जाता रहा। भारत जो 18वीं सदी के पूर्वार्द्ध तक दुनिया का प्रमुख वस्त्र निर्माता और निर्यातक था, अगली ही शताब्दी में विदेशी माल के सबसे बड़ा उपभोक्ता बन गया। सूती वस्त्र आयात की प्रमुख मद थी। रेशमी और ऊनी वस्त्र, मशीनरी तथा धातु उत्पाद भारत में आयात की कुछ अन्य मदें थी, आयतित वस्तुओं के साथ प्रतिस्पर्द्धा के परिणामस्वरूप भारतीय उद्योग विनष्ट हो गए। कारीगरों को उनकी आय से वंचित कर दिया गया, श्रमिकों के लिए रोजगार के अवसर कम हो गए। दूसरी ओर कपास, कच्चा रेशम, खाद्यान्न, नील, अफीम और जूट के निर्यात से देश कृषि अधिशेष से विहीन हो गया और कच्चे माल की कीमतें बढ़ गई। इस प्रकार के परिवर्तनों के कारण विश्व बाजार में भारतीय उत्पादों के मूल्यों में इतनी अधिक मंदी आयी कि व्यापारिक परिस्थितियां भारत के अत्यधिक प्रतिकूल हो गई।

4.3.1 विदेशी व्यापार की संरचना

विदेशी व्यापार की संरचना में परिवर्तन के साथ–साथ विदेश व्यापार में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। 1828 में भारत से कुल निर्यात का लगभग आधा ब्रिटेन को होता था। इसके अलावा चीन को 25%, गल्फ के देशों को 17%, फ्रांस को 8% निर्यात होता था। 1840 में ब्रिटेन का हिस्सा बढ़ कर 60% हो गया और चीन का हिस्सा घटकर लगभग 10% रह गया। इस प्रकार भारत का विदेशी व्यापार अधिकाधिक ब्रिटेन पर निर्भर हो गया। इसके आर्थिक और राजनैतिक दोनों प्रकार के दुष्परिणाम भारत को भुगतने पड़े।

व्यापार की स्थिति का अध्ययन हम निम्नलिखित कालखंडों के अंतर्गत कर सकते हैं–

टिप्पणी

(अ) 1914 से 1916 तक भारत का विदेशी व्यापार

प्रथम विश्व युद्ध के दौरान आयातों और निर्यातों दोनों के ही मूल्य में वृद्धि हुई थी, किंतु जब इस दौरान कीमतों का हिसाब लगाकर विदेशी व्यापार की मात्रा में वृद्धि का विचार करने पर ज्ञात होता है कि इस अवधि में आयातों और निर्यातों दोनों की ही मात्रा घट गई। इस अवधि में निर्यातों की मात्रा में कोई 25% की कमी आई। जबकि आयातों की मात्रा में 50% की। इस प्रकार निर्यातों की तुलना में आयातों में अधिक तेजी से कमी आई। प्रथम विश्व युद्ध के शुरू के वर्षों में हमारे निर्यातों को धक्का लगा, क्योंकि युद्ध के कारण सामान्य मार्ग अवरूद्ध हो गये। जहाजों से माल भेजना अब जोखिम भरा हो गया, इस कारण से जहाजों का किराया व बीमा की लागतें बढ़ गई। इसके अलावा ब्रिटेन जो कि हमारे निर्यात आयात व्यापार का सबसे प्रमुख देश था, अब युद्ध के कारण उसे इंग्लैण्ड में उन वस्तुओं के उत्पाद पर ध्यान देना पड़ा जिन्हें वह भारत से मंगाता था। इस प्रकार प्रथम विश्व युद्ध के दौरान विदेशी व्यापार में कमी आई थी, जिसके प्रमुख कारण निम्नलिखित थे–

(i) विभिन्न देशों द्वारा युद्ध के लिए आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन एवं आयात पर ही अधिक ध्यान देने के कारण भी व्यापार का क्षेत्र घट गया।

(ii) करेंसी एवं विनियम की कठिनाइयां बढ़ गई थी।

(iii) विभिन्न देशों द्वारा व्यापार के लिए जहाजरानी की सुविधाएं उपलब्ध न हो पाने तथा इनकी लागतों में वृद्धि हो जाना भी विदेशी व्यापार घटने का एक प्रमुख कारण था।

(iv) शत्रु देशों के साथ व्यापार बंद होने, परिवहन की कठिनाइयों के कारण रूस जैसे मित्र देशों के साथ भी व्यापार में कठिनाई आई। शत्रु देशों की नाकाबंदी करने के लिए तटस्थ देशों को भी माल न भेजने की नीति अपनाने आदि कई कारणों से व्यापार का क्षेत्र संकुचित और सीमित हो गया।

यद्यपि युद्ध काल में सभी देशों की परिस्थितियां समान ही थी, किंतु सब देशों पर इसका प्रभाव अलग–अलग था। जैसे– कनाडा, अमेरिका, जापान और अर्जेन्टीना ने अच्छी प्रगति की, किंतु भारत पर इसका विपरीत प्रभाव पड़ा, इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि भारत को आधुनिक उद्योगों में उत्पादन के लिए आवश्यक उपकरणों तथा तकनीकी विशेषज्ञों के लिए विदेशों पर निर्भर रहना पड़ता था। युद्ध पूर्व के दिनों में हमारे निर्यातों में तैयार माल का अनुपात 23.6% था जो अब बढ़कर 32.1% हो गया और आयातों में 76.6% से घटकर 73.4% रह गया।

(ब) 1916 से 1929 तक विदेशी व्यापार

युद्ध के तुरंत बाद 1919–20 में आयातों की तुलना में बहुत वृद्धि हुई। जिसके मुख्य दो कारण थे– पहला यह था कि हमारे देश के कच्चे माल की मांग में वृद्धि हुई और दूसरे युद्ध के समय प्रतिबन्धों को हटा लिया गया, किन्तु 1920–21, 1921–22 में स्थिति बदल गई क्योंकि इन वर्षों में हमारे आयात, निर्यातों से ज्यादा हो गए और परिणामस्वरूप अब व्यापार शेष घाटे में चला गया।

1922–23 से 1925–26 तक हमारे निर्यात आयातों से काफी अधिक तेजी से बढ़ते रहे और इसके परिणामस्वरूप एक अच्छी राशि का निर्यात उत्पन्न हो गया। इस

वृद्धि के अनेक कारण थे जैसे यूरोप में आर्थिक और राजनैतिक दृष्टि से सामान्य स्थिति का बहाल हो जाना, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा का स्थिरीकरण, भारत सरकार की स्टोर क्रय नीति में परिवर्तन इत्यादि किंतु 1926 के बाद से निर्यात का विस्तार रुक गया। जब हम कुल मिलाकर इस दशक से भारत में निर्यातों का आकलन करते हैं तो पाते हैं कि निर्यात लगभग स्थिर ही था, इसके कुछ प्रमुख कारण थे– देश में निर्यात योग्य वस्तुओं की ऊंची कीमतें जबकि विश्व बाजार में कृषि वस्तुओं की कीमतों में कमी, श्रमिक अशांति, रेलवे सुविधाओं की कमी, रुपये के बाहरी मूल्य में उतार चढ़ाव, युद्ध की तबाही के कारण सेन्ट्रल यूरोपीय देशों के कुल आठ बाजारों का हाथ से निकलना तथा मानसून की अनिश्चितता आदि।

(स) 1926–30 से 1938–39 तक महामंदी में विदेशी व्यापार

यह काल विश्वव्यापी महामंदी के नाम से जाना जाता है। इस काल ने भारत के विदेशी व्यापार को बुरी तरह प्रभावित किया था। कृषि वस्तुओं की कीमतों में तेजी से कमी और भारत के रेशों की विदेशी मांग में कमी। दूसरी ओर आयातों में कमी के मुख्य कारण थे– भारत के उपभोक्ता की क्रय शक्ति में कमी, देश में राजनैतिक तनाव और विभेदीकरण संरक्षण की नीति के तहत देश के चीनी और सूती वस्त्र उद्योगों का विस्तार आदि। इस प्रकार आयात और निर्यात वाली कृषि वस्तुओं की कीमतों में हमारे आयात वाली निर्मित वस्तुओं की तुलना में अधिक तेजी से गिरावट आई। आयातों की तुलना में निर्यातों में अधिक तेजी से कमी आने के परिणामस्वरूप 1932–33 में हमारा निर्यात घटकर मात्र 1 करोड़ रुपए रह गया जो कि इस अवधि का सबसे न्यूनतम स्तर था।

भारत का विदेशी व्यापार

वर्ष	आयात	निर्यात	कुल विदेश व्यापार	व्यापार शेष
1929–30	249.71	318.99	568.70	69.28
1930–31	173.06	226.50	339.56	53.44
1931–32	130.64	161.20	291.84	30.56
1932–33	135.01	136.07	271.08	1.06
1933–34	117.28	150.23	267.08	32.95
1934–35	134.59	155.50	290.09	20.91
1935–36	136.78	164.59	301.37	27.81
1936–37	127.72	202.49	330.21	74.67
1937–38	173.72	189.21	362.54	15.88
1938–39	151.83	169.21	321.04	17.38

1932 में जब महामंदी का प्रभाव कुछ घटने लगा तो विदेशी व्यापार में कुछ सुधार आया। विदेशों में व्यापारिक गतिविधियों और कृषि वस्तुओं की कीमतों में कुछ सुधार आने के कारण हमारे निर्यातों का मूल्य बढ़ गया। हमारे घरेलू उद्योगों के विस्तार के कारण हमारे आयातों में कोई वृद्धि नहीं हुई बल्कि 1936–37 में तो पिछले वर्ष की तुलना में

टिप्पणी

आयात करोड़ों रुपये कम हो गए। परिणामस्वरूप 1936–37 में हमारा निर्यात आधिक्य बढ़कर लगभग 75 करोड़ रुपये हो गया। किंतु सुधार का यह क्रम 1937 में रुक गया और 1937–1939 तक विदेशी व्यापार एक बार फिर घट गया जिसके मुख्य कारण थे–

(i) कृषि वस्तुओं की कीमतों में कमी।

(ii) अमेरिका में व्यावसायिक मंदी के कारण कच्चे जूट एवं जूट की वस्तुओं की मांग में कमी

(iii) जापान का चीन के साथ युद्ध में उलझे होने के कारण जापान को कपास के निर्यात में कमी।

अतः यह कहा जा सकता है कि महामंदी के पूर्व की तुलना में द्वितीय विश्व युद्ध के आरंभ में भारत का विदेशी व्यापार काफी घट गया। 1928–29 के मुकाबले भारत का कुल विदेशी व्यापार 1938–39 में लगभग आधा रह गया था। इस प्रकार इस अवधि के दौरान निर्यात घटकर लगभग आधे और आयात 62% रह गया था।

(द) 1939–1945 में भारत का विदेशी व्यापार

द्वितीय विश्व युद्ध का विदेशी व्यापार पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। 1930–40 में हमारे निर्यातों में 26% की वृद्धि हुई। निर्यात वस्तुओं की कीमतों में लगातार वृद्धि होते रहने के कारण निर्यात की मात्रा में हुई कमी निर्यात के भौतिक मूल्य के द्वारा ठीक–ठीक प्रतिबिम्बित नहीं हो पाती। निर्यात ने यह कमी यूरोपीय महाद्वीप के बाजारों के हाथ से निकल जाने और जहाजरानी की कमी के कारण हुई। 1943–44 और 1944–45 में हमारे निर्यातों के मौद्रिक मूल्य में तो थोड़ी सी वृद्धि हुई किंतु निर्यात की मात्रा आधी रह गई।

युद्ध के दिनों में भारत के विदेशी व्यापार की संरचना में भी परिवर्तन हुए। इस दौरान हमारे कुल निर्यातों में कच्चे माल की तुलना में तैयार माल का अनुपात बढ़ गया। 1938–39 में तैयार माल का जो अनुपात 30% था वह बढ़कर 1944–45 में 51.1% हो गया, जबकि कच्चे माल का अनुपात 45.1% से घटकर 26.5% रह गया, दूसरी ओर आयातों के क्षेत्र में इससे विपरीत स्थिति देखने में आई। इसी अवधि के दौरान हमारे कुल आयातों में तैयार माल के आयात का अनुपात तो 60.6% से घटकर 31.1% रह गया जबकि कच्चे माल का हिस्सा 27.7% से बढ़कर 58.3% हो गया। हमारे आयातों में तैयार माल का जो हिस्सा कम हो गया था उसका बहुत बड़ा कारण युद्ध की परिस्थितियों ने उन वस्तुओं का न मिल पाना था। इसी प्रकार कुल आयातों में कच्चे माल का जो अनुपात बढ़ गया था वह बहुत कुछ पेट्रोलियम का अधिक मात्रा में आयात करने का परिणाम था। उन दिनों यह पेट्रोलियम औद्योगिक आवश्यकताओं के लिए नहीं बल्कि युद्ध के कारण समुद्र पार करने के कुछ महत्वपूर्ण बाजारों का हाथ से निकल जाना था। इसके अलावा स्वदेश में ही कच्चे माल के उपयोग में अधिक वृद्धि का हो जाना भी इसका एक कारण था। निर्यातों में तैयार माल के अनुपात में वृद्धि का कारण युद्ध में उलझे होने से अन्य देशों व उनके द्वारा पर्याप्त मात्रा में माल की सप्लाई न किये जाने के कारण अब भारत द्वारा मध्य पूर्व के देशों में व अन्य देशों को तैयार माल की अधिक सप्लाई होने लगी किन्तु जैसे ही अमेरिका व इंग्लैण्ड से सप्लाई खुल गई वैसे ही इस प्रवृत्ति पर रोक लग गई। अतः यह भी कहा जा सकता है कि द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान भारत की व्यापार संरचना में जो परिवर्तन आए थे उससे भारत

टिप्पणी

लाभान्वित हुआ। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान भारत के विदेशी व्यापार की दिशा में निम्नलिखित महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए–

(i) साम्राज्यवादी देशों के हिस्सों में वृद्धि

(ii) इंग्लैण्ड के हिस्से में कमी

(iii) अमेरिका और कनाडा के साथ अच्छी खासी वृद्धि

(iv) 1936–40 के बाद यूरोपीय महाद्वीपों के देशों के साथ 1940–41 के बाद जापान के साथ और 1942–43 के बाद बर्मा के साथ व्यापार न हो पाना।

(v) मध्य पूर्व और सुदूर पूर्व के देशों के साथ व्यापार में वृद्धि।

हमारे विदेशी व्यापार की दिशा में जो कुछ परिवर्तन आया उस पर मुख्य रूप से तीनों बातों का प्रभाव पड़ा। (i) मित्र देशों एवं शत्रु देशों के बीच स्पष्ट रूप से विभाजन, (ii) जहाजरानी की माल ढोने की क्षमता का अभाव और (iii) विनिमय नियंत्रणों को लागू किया जाना।

निर्यात में धीमी गति से वृद्धि होने के प्रमुख रूप से निम्नलिखित कारण थे–

(i) कुछ वस्तुओं के निर्यातों के लिए उपलब्ध आधिक्य की मात्रा में कमी।

(ii) कुछ वस्तुओं के निर्यातों को नियंत्रित करने की नीति अपनाया जाना।

(iii) निर्यात आधिक्य की यह कमी मुख्यतः दो कारणों से हुई।

- कुछ वस्तुओं के विदेशी बाजारों का हाथ से निकल जाना।
- कुछ निर्यात योग्य वस्तुओं के घरेलू उपयोग में वृद्धि होना।

(iv) भारत में वस्तुओं की घरेलू कीमतों में तेजी से वृद्धि होना।

(v) देश के विभाजन के कारण भारत की कच्चे जूट, कच्चे कपास, कच्ची ऊन, कच्ची खाल व हड्डियों आदि की निर्यात क्षमता घट जाना।

(vi) अमेरिका में व्यवसायिक मंदी का प्रारंभ होना।

हमारे आयातों के मूल्य में तेजी से वृद्धि होने के मुख्य रूप से निम्नलिखित कारण थे–

(i) आयात वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि।

(ii) भारत सरकार द्वारा इन वस्तुओं की अधिक सप्लाई प्राप्त करने के लिए उदार आयात नीति का अपनाया जाना।

(iii) उपभोग और पूंजीगत वस्तुओं की दबी हुई मांग।

(iv) विभाजन के बाद खाद्यान्नों के आयात में वृद्धि।

(v) देश के विभाजन के कारण कुछ महत्वपूर्ण कच्चे माल के आयात के लिए विवश होना।

वास्तव में युद्ध के बाद भारत के व्यापार शेष में घाटे की जो प्रवृत्ति शुरू हुई थी, वह विभाजन के बाद और अधिक बढ़ गई और वह कुछ अपवादों को छोड़कर अब तक भी जारी है।

4.3.2 भुगतान संतुलन का अवलोकन

भुगतान संतुलन को एक निश्चित अवधि के भीतर किसी देश के निवासियों तथा अन्य देशों के बीच किए गए सभी मौद्रिक लेन देन के रिकार्ड के रूप में परिभाषित किया जा

टिप्पणी

सकता है। कंपनियां, व्यक्तियों और सरकार द्वारा किए गए लेन देन का विवरण भुगतान संतुलन स्टेटमेंट में निहित किया जाता है, ये अधिकारिक रिकार्ड होते हैं जो विश्लेषकों को फंड के प्रवाह की निगरानी करने और आर्थिक नीतियों का विश्लेषण करने में मदद करते हैं। अर्थव्यवस्था में नकदी के अन्तर्वाह और बर्हिवाह को निर्धारित करने में भुगतान संतुलन महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

भुगतान संतुलन वास्तव में व्यापारिक संबंधों का द्योतक है। यह आयतित व निर्यातित वस्तुओं– सेवाओं के मूल्य के रूप में एक निश्चित अवधि संदर्भ में व्यक्त होता है। इसमें विविध आवश्यक मदों से प्राप्त आय जब जोड़ी जाती है तो इसे व्यापार संतुलन कहा जाता है किंतु यदि आवश्यक मदों के अलावा इसमें पूंजी का आदान–प्रदान, ब्याज–भुगतान, जहाजरानी सेवाएं, पर्यटन सेवाएं, विदेशी विशेषज्ञों पर व्यय, कंपनी मुनाफे अथवा इस मद की आय भी जोड़ दिए जाते हैं तो यह भुगतान संतुलन का लेखा–जोखा कहलाता है। इसमें सारे विश्व से देश में प्राप्त वस्तुएं, सेवाएं, आवश्यक मदें, पूंजी हस्तान्तरण, भुगतान निवेश आदि को अगणित किया जाता है और विश्वभर को दिए गए निर्यात, सेवाएं, पूंजी आदि भुगतान जोड़े जाते हैं। विदेशों से प्राप्त व उनको किए गए भुगतान का वर्ष भर का लेखा भुगतान संतुलन है।

संतुलन का विचार अत्यन्त संकीर्ण अर्थों में 14वीं शताब्दी में वाणिकवादी विचारधारा द्वारा प्रचलित हुआ। राष्ट्रवाद वाणिकवादी विचारों का केंद्र बिन्दु था। आर्थिक क्षेत्र में व्यापार व वाणिज्य का महत्व बढ़ने लगा था। इसी समय एक नया वर्ग उत्पन्न हुआ जिसे व्यापारी कहा जाता था। व्यापारी और राजा के हित समान थे। राजा को धन व शक्ति की आवश्यकता केवल अपने लिए नहीं वरन् जनता के कल्याण के लिए भी थी। व्यापार को ही इस उद्देश्य की पूर्ति का उत्तम स्रोत माना गया है।

15वीं शताब्दी के अंत तक समाज के आर्थिक ढांचे में काफी महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। घरेलू अर्थव्यवस्था के स्थान पर विनिमय अर्थव्यवस्था को महत्व दिया जाने लगा था। व्यापार व विनिमय की प्रगति से मुद्रा की आवश्यकता भी बढ़ी। विज्ञान व तकनीकी का निरंतर विकास हुआ। नई खोज व आविष्कार हुए जहाजरानी अब अधिक सुविधाजनक हो गई और नए महाद्वीपों की खोज हुई जिससे व्यापार का क्षेत्र विस्तृत हुआ। वाणिकवादी लेखकों ने कहा कि यदि आयात की अपेक्षा निर्यात अधिक होते हैं तो यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि व्यापार से बहुमूल्य धातुओं का आयात करने से शासन के कोषों में वृद्धि होगी। वाणिकवादी लेखक जहां तक व्यापार के अनुकूल संतुलन का प्रश्न है, पर एकमत नहीं थे। कुछ लेखकों का विचार था कि हर व्यक्तिगत सौदे से राष्ट्र को लाभ प्राप्त होना चाहिए। वाणिकवादी लेखकों में किसी ने इस बात को स्पष्ट नहीं किया कि अनुकूल व्यापार संतुलन से उनका आशय संपूर्ण व्यापार के संतुलन की अनुकूलता से था वे प्रत्येक देश से होने वाले व्यापार के संतुलन की अनुकूलता को अलग–अलग लेते थे। यह कहा गया कि विदेश व्यापार में इस नियम का पालन हर व्यक्ति को करना चाहिए कि जो कुछ हम निर्यात करते हैं, उसका मूल्य उन वस्तुओं से अधिक होना चाहिए जिनका हम आयात करते हैं।

प्रथम विश्व युद्ध ने वाणिकवादी अनुभवों व नीतियों को नया जीवन प्रदान किया। लगभग सभी देशों जिन्होंने युद्ध में प्रत्यक्ष भाग लिया वहां राज्य का पूर्ण नियंत्रण था। युद्ध काल में व्यक्तिगत, सामाजिक व आर्थिक स्वतंत्रताओं को स्थगित कर दिया गया था। इस प्रकार सिद्धांत व व्यवहार में युद्ध ने राष्ट्रीय संरक्षणवाद को जन्म दिया। यह

सब होने के बावजूद भी विभिन्न देशों ने पारस्परिक निर्भरता, वाणिकवादी स्वावलंबन शक्ति के आदर्शों व अन्तर्राष्ट्रीय शांति के हित में सहयोग की आवश्यकता का अनुभव करते हुए लीग ऑफ नेशन की स्थापना की। 1927 में लीग ऑफ नेशन ने 17 देशों के भुगतान संतुलन के प्रथम भाग को प्रकाशित किया। लीग ने 1938 में एक उपसमिति की स्थापना की जो भुगतान संतुलन की सांख्यिकी को क्रमबद्ध करने व इसकी तकनीकी में सुधार के उपाय निर्दिष्ट करती थी।

दूसरे विश्व युद्ध के आरम्भ होने के कारण यह उपसमिति अपना कार्य पूरा न कर सकी और 1945 में इसकी पुनर्स्थापना की गई जिसे यूनाइटेड नेशन्स द्वारा 1947 में प्रकाशित किया गया। भुगतान संतुलन की विषय वस्तु पर यह रिपोर्ट महत्वपूर्ण थी, जिसमें क्रियाविधि पर सर्वाधिक ध्यान दिया गया। 1947 में अन्तर्राष्ट्रीय सहभागिता, विनिमय दरों के प्रबंधन व भुगतान संतुलन की असाम्यावस्था के निवारण हेतु उपयुक्त नीतियों को निर्दिष्ट करने का भार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने वहन किया। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने सदस्य देशों की भुगतान संतुलन की समस्याओं पर गंभीरतापूर्वक विचार किया एवं ऐसी नीतियां प्रस्तावित की, जो सदस्य देशों को समायोजन की अन्य कठोर नीतियों के विकास प्रदान करती थी। भुगतान संतुलन की मुख्य मदों को दो भागों में वर्गीकृत किया जाता है–

(i) भुगतान संतुलन का चालू खाता– इसमें जमा व देय पक्ष के हस्तांतरणों या लेन देन को दो भागों में बांटा जाता है–

(अ) दृश्य मदें– जो देश के वस्तु व्यापार अर्थात वाणिज्यिक व्यापार तथा खाद्यान्न, कच्चा माल व निर्मित वस्तुओं को समाहित करती हैं।

(ब) अदृश्य मदें– जो सेवायें यातायात, ब्याज भुगतान, लाभांश बैंक चार्ज, बीमा, भुगतान, रायल्टी, सट्टाजनित लाभ व हानि तथा अन्य मदों को सम्मिलित करती हैं। मुख्यतः चालू खाते में तीन प्रकार की मदें होती हैं– वस्तुएं (आयात व निर्यात) सेवायें उपहार तथा भेंट। चालू खाते की इन मदों में वस्तुओं का आयात–निर्यात अथवा दृश्य व्यापार सदैव महत्वपूर्ण होता है। इनमें प्राप्तियों एवं भुगतान के मध्य का अंतर व्यापार संतुलन कहा जाता है।

(ii) भुगतान संतुलन का पूंजी खाता– पूंजी के हस्तांतरण या लेन देन अन्तर्राष्ट्रीय ऋणग्रस्तता की सेवाओं को बाह्य परिसम्पत्तियों व दायित्वों में होने वाले परिवर्तन के द्वारा प्रभावित करते हैं व इसे देश के पूंजी खाते द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। पूंजी खाता ऐसे सभी हस्तांतरणों को सम्मिलित करता है जो देश की अंतर्राष्ट्रीय जमा देय दशा में होने वाले परिवर्तनों व इनकी मौद्रिक स्वर्ण जमाओं में होने वाले परिवर्तनों की सूचना देता है। पूंजी खाते में सामान्यतः उन मदों को सम्मिलित किया जाता है जिसके द्वारा चालू खाते में प्रविष्ट भुगतान संभव होते हैं अर्थात् पूंजी खाते में आयात–निर्यात व सेवाओं की प्राप्ति व भुगतान की मदें सम्मिलित होती हैं।

इस प्रकार सभी भुगतान व प्राप्तियां समान रहें, भुगतान संतुलन में सदैव साम्यता विद्यमान होती है। इस प्रकार भुगतान संतुलन संबंधी विवरण के समस्त धनात्मक (+) एवं ऋणात्मक (–) एक दूसरे को बराबर करते हैं।

टिप्पणी

4.3.3 विदेशी व्यापार की बदलती प्रकृति

ब्रिटिश काल में भारतीय अर्थव्यवस्था औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था का एक ज्वलन्त उदाहरण है। भारतीय अर्थव्यवस्था के इस परिवर्तन में अंग्रेजों की नीतियों का बहुत बड़ा योगदान था। ये समस्त नीतियां क्रमबद्ध रूप से आगे बढ़ती गईं तथा एक का समापन नई नीति का प्रथम सोपान था। अंग्रेजों का आगमन भारत में व्यापार के लिए ही हुआ था। अतः इनकी नीतियों के केंद्र में मुनाफा व व्यापार ही था। व्यापार की नीतियों में एक क्रमबद्धता देखी जाती है जो उपनिवेशवाद के तीन चरणों के रूप में व्यवस्थित की गई थी इन्हीं व्यापार नीतियों के स्वाभाविक परिणाम के रूप में विऔद्यौगीकरण की प्रक्रिया सामने आती है। ब्रिटिश व्यापार नीति की खास विशेषता यह थी कि यह ब्रिटिश राजकोषीय नीति की पूरक भी रही। ब्रिटिश व्यापारिक व राजकोषीय नीतियों में कल्याण का सर्वथा अभाव था।

17वीं व 18वीं शताब्दी में ब्रिटिश व्यापार व राजकोषीय नीतियों का उद्देश्य भारत के साथ व्यापार करना नहीं बल्कि भारत में व्यापार करना और लूटना था। 19वीं शताब्दी में ब्रिटेन में बनी हुई औद्योगिक वस्तुओं के लिए मुख्य बाजार के रूप में भारत का प्रयोग किया गया था। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में और 20वीं शताब्दी में भारत में स्थित ब्रिटिश उद्योगपतियों द्वारा भारत में पूंजी निवेश की प्रक्रिया आरंभ हुई, जिससे भारतीय श्रमिकों का बड़े पैमाने पर शोषण आरंभ हुआ।

4.3.4 वाणिकवाद के चरण

वाणिकयुग का आरंभ अंग्रेजों द्वारा प्लासी विजय के साथ बंगाल में व्यापार और लूट से आरंभ होता है। भारत की संपूर्ण आर्थिक गतिविधियों को ब्रिटिश राष्ट्र के हित में तथा उसको शक्तिशाली बनाने के लिए नियमित किया जाना था। इन सभी का उद्देश्य आयात की अपेक्षा निर्यात को बढ़ावा देना था ताकि व्यापार संतुलन ब्रिटिश उद्योगों के हित में हो और अधिक से अधिक सोना, चांदी यूरोप में तथा ब्रिटेन में आए। व्यापारिक कंपनियां इस उद्देश्य की प्राप्ति इन तरीकों से करती थी–

(i) व्यापार पर एकाधिकार और विरोधी कंपनियों की समाप्ति।

(ii) वस्तुओं की कम से कम मूल्य में खरीद एवं अधिक मूल्य में बिक्री।

ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी की अन्य यूरोपीय कंपनी के साथ प्रतिस्पर्धा जल्द ही प्रतिद्वंद्विता में बदल गई और परिणामस्वरूप कंपनी ने भारतीय राजाओं के साथ युद्ध किए और राजनीतिक नियंत्रण प्राप्त करके आंतरिक और बाह्य व्यापार पर एकाधिकार किया साथ ही भारतीय उद्योगों का ह्रास काल भी प्रारंभ हुआ और भारत ब्रिटिश उद्योगों के उत्पादों का बाजार बन गया।

4.3.5 औद्योगिक और वित्तीय पूंजी

1757 ई. के पश्चात् कंपनी की बंगाल विजय ने यह निश्चित कर दिया कि अब कंपनी का उद्देश्य सिर्फ व्यापार करना ही नहीं बल्कि व्यापारिक, सैनिक और राजनैतिक विकास भी था। अधिक से अधिक धन लूटने की लालसा में वे बंगाल के नवाबों को बदलने लगे, लगातार 1757, 1760, 1764 में सत्ता परिवर्तन किया गया। इससे कंपनी के सैनिक एवं असैनिक अधिकारियों को नवाबों ने बड़े–बड़े उपहार दिए। जिससे कंपनी के अधिकारियों को बहुत लाभ हुआ और अब लाभ कमाने की होड़ सी लग गयी। एक

टिप्पणी

अंग्रेज इतिहासकार लिखता है कि 'अब बंगाल में खुला और बेशर्म लूट का काल प्रारंभ हो गया।'

आर.सी. दत्त का अनुमान है कि 1757 और 1765 ई. के बीच कंपनी के पदाधिकारियों ने लगभग 60 लाख पौंड जो कि बंगाल की वार्षिक आय का चार गुना थी, को सिर्फ बंगाल से पुरस्कार स्वरूप ही प्राप्त किया गया था।

इसके अलावा कंपनी के अधिकारी बंगाल से कर संग्रह करने के लिए जमींदारों को अनुमति के बदले उनसे धन लेते थे। इसी प्रकार कुटीर उद्योगों एवं हस्तशिल्पियों का शोषण बड़े पैमाने पर होने लगा। भारतीयों को व्यापार करने के लिए 'दस्तक' जैसे अनुमति पत्र कंपनी से खरीदने पड़ते थे। भारतीय उद्योगों की स्थिति दिनोंदिन खराब होने लगी क्योंकि कंपनी ने भारतीय कच्चे माल पर अपना अधिकार कर लिया था। जिसकी वजह से कुटीर उद्योगों के उद्योगपतियों को कच्चा माल खरीदना महंगा पड़ता था और धीरे–धीरे भारतीय उद्योग धंधे बंद होने लगे। एक समकालीन लेखक विलियम बोल्टस ने लिखा– "कंपनी के पदाधिकारी बुनकरों से जो धूर्तता बरतते हैं वह सोच से भी परे है।"

19वीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों में खरीदारी को स्वाभाविक रूप से बंद कर दिया गया और इसके अंतर्गत कंपनी ने 1820 के दशक में इंग्लैण्ड को कपास का निर्यात किया उनमें केवल कच्ची रेशम, शोरा या बारूद के लिए कच्चा माल, कृषि उत्पाद के रूप में नील और रेशम के वस्त्रों की बहुत कम मात्रा निर्यात की जाती थी। जहां तक इंग्लैण्ड के आयात का प्रश्न है, कंपनी ने 1824 ई. से इसको पूर्णतः बंद कर दिया, वह केवल सैनिक सामान का आयात करती थी और वह स्वयं उसका उपयोग करती थी, भारत और यूरोप के मध्य व्यापार कंपनी के हाथों से निकल कर व्यक्तिगत व्यापारियों के हाथों में चला गया।

वित्तीय पूंजीवाद– 1857 ई. के विद्रोह के परिणामस्वरूप भारतीय शासन ईस्ट इण्डिया कंपनी के हाथ से लेकर सीधे ब्रिटिश क्राउन के अधीन कर दिया गया। फिर भी भारतीयों के लिए जो नीति बनाई गई वह ब्रिटिश पार्लियामेंट में निर्धारित हुई। ब्रिटिश क्राउन अधिकृत भारतीय साम्राज्य की भूमिका में बदलाव आया। अब साम्राज्यवाद अपने नए रूप में दिखाई दिया और भारत में वित्तीय पूंजीवाद की शुरुआत हुई। स्वतंत्रता काल तक यह प्रक्रिया चलती रही। अब ब्रिटिश निवेशकों को भारत में उद्योगों की स्थापना में गारंटी पद्धति के तहत चारों तरफ से ब्रिटिश उद्योगपतियों को फायदा पहुंचाने के प्रयास किए गए। ब्रिटिश सरकार के जिन क्षेत्रों में ब्रिटिश पूंजी निवेशक जितना धन निवेश करते थे उतनी राशि उन्हें निश्चित मिलती थी, फिर चाहे वह फायदे में हो या नुकसान में। इसके अतिरिक्त जो भी लाभ होगा, वह उन निवेशकों के बीच वितरित होगा।

4.3.6 धन बहिर्गमन

धन निकासी से तात्पर्य है कि भारत की राष्ट्रीय संपदा अथवा कुल राष्ट्रीय उत्पादन का एक भाग इंग्लैण्ड को निर्यात किया जा रहा था जिसके बदले में भारत को कोई आर्थिक या भौतिक लाभ नहीं मिल रहा था। दूसरे शब्दों में भारत से धन के निष्कासन के माध्यम से परोक्ष रूप से भारत को ब्रिटिश साम्राज्यवाद के लिए 'खिराज' या 'नजराना' देने के लिए बाध्य किया जा रहा था। धन का निष्कासन या आर्थिक निष्कासन शब्द का उदय वाणिज्यिक सोच के अंतर्गत हुआ जो निर्यात अधिशेष के परिपेक्ष्य में विवेचित की गई।

टिप्पणी

यह शब्द 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में आया, जिसका अभिप्राय था भारत से इंग्लैण्ड की ओर धन की निकासी। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन सर्वप्रथम 'दादा भाई नौरोजी' ने अपनी पुस्तक 'पावर्टी एण्ड अनब्रिटिश रूल इन इण्डिया' में किया। नौरोजी ने अपने आरम्भिक तीन लेखों में इस सिद्धान्त पर प्रकाश डाला था।

नौरोजी के सिद्धान्त का समर्थन रमेशचन्द्र दत्त ने भी अपनी पुस्तक में किया है। रजनीपाम दत्त ने निकासी की पूरी प्रक्रिया समझाने के लिए उसे तीन चरणों में विभाजित किया। यह विभाजन उपनिवेशवादी भारतीय अर्थव्यवस्था की निरंतरता एवं परिवर्तन की जानकारी देने में भी सहायक रहा है। जो पौंड स्टर्लिंग बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल भारत सचिव के कार्यालय में जमा हुआ था, उसे भारत सरकार को स्थानांतरित कर दिया जाना चाहिए था लेकिन ऐसा नहीं हुआ और इसका समायोजन गृह व्यय के रूप में कर लिया गया अर्थात भारत में ब्रिटेन से कोई धन नहीं आया और भारतीय धन से ही भारतीय वस्तुओं को खरीद कर ब्रिटेन निर्यात कर दिया गया। इसे ही धन निष्कासन कहा गया है। चांदी पर आधारित भारतीय मुद्रा और सोने पर आधारित ब्रिटिश पौंड के विनिमय दर का निर्धारण ब्रिटिश सरकार हमेशा अपने पक्ष में करती थी जिससे उन्हें भारतीय वस्तुएं और भी अधिक सस्ते दर पर प्राप्त हो जाती थी। यह विनिमय दर भी निष्कासन का एक रूप था। इस प्रकार भारत से धन के निष्कासन का एक और रूप या जो भारत में ब्रिटिश अधिकारी तथा ब्रिटिश व्यापारी के माध्यम से होता था, वे निम्नलिखित रेखाचित्र से समझा जा सकता है–

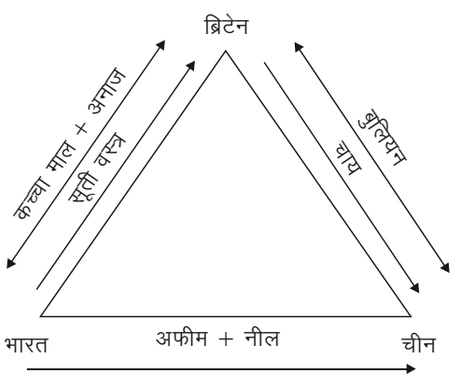

यदि भारत सरकार के पास जमा धन ब्रिटिश सरकार के पास जाता तो धन निष्कासन का एक सरल रूप होता लेकिन इस धन के एवज में ब्रिटिश सरकार भारत से कच्चा माल तथा अनाज आयातित करती थी जिससे निष्कासन की वास्तविक मात्रा बढ़ जाती थी। विडंबना यह भी थी कि इन वस्तुओं को जिस जहाज रानी कंपनियां, बैंकिंग कंपनियां, आयात–निर्यात फर्म, बीमा कंपनियों का प्रयोग किया जाता था, उन सब पर ब्रिटिश पूंजीपतियों का नियंत्रण था और मुनाफे भी उसी के खाते में जाते थे।

लंदन में ईस्ट इण्डिया एसोसिएशन की एक बैठक में 2 मई 1867 को पढ़े गए इंग्लैण्डस् डेट टू इण्डिया (England's Debt of India) नामक लेख में दादा भाई नौरोजी ने अपना मत प्रकट करते हुए कहा, "ब्रिटेन भारत पर अपने शासन की कीमत के रूप में भारत से धन ऐंठ रहा है और यह कि "भारत से अर्जित राजस्व में से लगभग एक चौथाई भाग बाहर चला जाता है और उसे इंग्लैण्ड के संसाधनों में शामिल किया जाता है और भारत के धन एवं संसाधनों को चूसा जा रहा है।" बाद में दादा भाई नौरोजी

द्वारा लिखे गए अन्य लेखों अर्थात् पॉवर्टी एण्ड अन ब्रिटिश रूल इन इण्डिया (1867), द वॉन्ट्स एण्ड मीन्स ऑफ इण्डिया (1870) और ऑन द कॉमर्स ऑफ इण्डिया (1871) का विषय लगातार ही भारत से 'नैतिक एवं भौतिक बर्हिगमन' रहा। 1867 से दादाभाई नौरोजी ने अपना जीवन पूर्ण रूप से बहिर्गमन के सिद्धान्त के प्रचार और बर्हिगमन जिसे, उन्होंने भारतीय ब्रिटिश शासन की मूलभूत बुराई घोषित किया गया था के विरुद्ध उन्होंने जोरदार मुहिम छेड़ने के लिए समर्पित कर दिया। 1880 में उन्होंने लिखा कि "आज का सर्वाधिक ज्वलन्त प्रश्न यह है कि भारत से धन का बर्हिगमन कैसे रोका जाए।" 1886 में उन्होंने कहा था कि "सारे प्रकरण का सार यह है कि वर्तमान अनिष्टकारी और अन्यायपूर्ण प्रशासनिक व्ययों के अंतर्गत ब्रिटिश शासन की उपकारशीलता एक प्रणयोन्माद की कल्पना मात्र है, जबकि सच्चाई यह है कि ब्रिटिश शासन भारत का खून चूसे ले रहा है।" 1905 में उन्होंने कहा था कि 'धन का बर्हिगमन' सभी बुराईयों की जड़ है और भारतीय निर्धनता का मुख्य कारण है।"

धन बहिर्गमन का वास्तविक स्वरूप व स्रोत

भारतीय दृष्टिकोण से 'बर्हिगमन' का अर्थ था, आयात की तुलना में अधिक निर्यात होना। अनेक भारतीयों ने बर्हिगमन के द्वारा देश से बाहर जाने वाली धनराशि का आकलन करने का प्रयास किया पर विभिन्न व्यक्तियों द्वारा बर्हिगमन की वार्षिक धनराशि का आकलन भिन्न–भिन्न था, क्योंकि विभिन्न व्यक्तियों ने गणना के विभिन्न तरीके अपनाए और आयात एवं निर्यात के बीच का अंतर निरंतर बढ़ता रहा। धन बर्हिगमन का सबसे महत्वपूर्ण घटक ब्रिटिश प्रशासनिक, सैनिक और रेलवे अधिकारियों के वेतन आय और बचत के एक भाग को भेजा जाना और भारत सरकार द्वारा अंग्रेज अधिकारियों की पेंशन तथा अवकाश भत्तों को इंग्लैण्ड में भुगतान करना था।

1858 के बाद 'भारत विषयक मंत्री' के इण्डिया आफिस के व्ययों के लिए भारत से इंग्लैण्ड धन भेजा जाना भी इसमें शामिल थे। बर्हिगमन की सबसे बड़ी मद गृह प्रभार था। कंपनी द्वारा 1833 में वाणिज्यिक गतिविधियों को पूर्णतः समाप्त करने के उपरांत कंपनी के शेयरधारकों को भारत के राजस्व में से 10.50% वार्षिक लाभांश देना पड़ा। इसलिए कंपनी को इन प्रभारों की अदायगी के लिए ऋण लेने पर बाध्य होना पड़ा, परिणामस्वरूप कंपनी के ऋण में भारी वृद्धि होने लगी। चूंकि कंपनी ने ऋण इंग्लैण्ड में लिए थे, इसलिए इस ऋण का भुगतान धन के बर्हिगमन का एक अन्य स्रोत बन गया।

गृह प्रभारों में शामिल अन्य मदें– सैन्य सामग्री की खरीद रेलवे पूंजी निवेश पर ब्याज, लंदन स्थित इंडिया ऑफिस के व्यवस्थागत व्यय, ऋणों पर ब्याज, कंपनी ने सेवानिवृत्त प्रशासकीय कर्मचारियों को इंग्लैण्ड में देय पेंशन एवं ग्रेच्युटी, सेना के अस्थायी खर्चे इत्यादि। परिणामस्वरूप भारत का ऋण 1858 में 700 लाख पौण्ड था वो 1939 में बढ़कर 8,840 हो गया। लॉरेस रॉसिंजर के अनुसार 1945 में भारत से 13,50 लाख पौण्ड का, विलियम डिग्बी के अनुसार 19वीं शताब्दी में 60,0800 लाख पौण्ड देश से बाहर गए। यह एक अनुमान मात्र ही आंकड़े हैं। रमेश चंद्र दत्त को यह कहना पड़ा– "एक कृतघ्न व्यक्ति भी यह कह सकता था कि जैसे–जैसे भारत से इंग्लैण्ड को जाने वाले धन के प्रवाह की मात्रा बढ़ी, वैसे ही उसके प्रतिपादनस्वरूप इंग्लैण्ड ने इस ऋण का भुगतान प्रचुर सहानुभूति और पछतावे के रूप में किया।"

टिप्पणी

धन बहिर्गमन का प्रभाव

उपरोक्त वर्णन से यह तो ज्ञात होता है कि किस प्रकार कंपनी ने अपने शासन द्वारा भारत का धन धीरे–धीरे निष्कासित किया गया। इस पर सर्वप्रथम ध्यान दादा भाई नौरोजी ने आकर्षित किया। इस धन निष्कासन का भारत पर बड़ा ही विपरीत प्रभाव पड़ा, जिसका वर्णन निम्नलिखित है–

(i) व्यापार में गिरावट– अंग्रेज व्यापारियों की तुलना में भारतीयों को अपने माल की कीमत घटानी पड़ी, जिससे भारतीय व्यापार का ह्रास हुआ। औपनिवेशिक सरकार ने भारत माल पर अनेक प्रतिबंध लगाए। परिणामतः भारत में निर्मित माल का इंग्लैण्ड में विक्रय संभव न रहा। भारत से केवल कच्चा माल भेजा जाता था तथा इंग्लैण्ड से तैयार माल भारत के बाजारों को पाटने लगा। अंततः उद्योगों में पूंजी निवेश को गहरा धक्का लगा। इन्हीं कारणों से ब्रिटिश काल में भारत का व्यापार पनप नहीं पाया।

(ii) कृषि की तबाही– भारत की सम्पत्ति खींचने का अन्य प्रभाव कृषि उत्पादनों में गिरावट थी। अधिक लगान के कारण बचत के आभाव में किसान अच्छे खाद–बीज का उपयोग नहीं कर पाते थे। कृषि उत्पादनों पर इसका सीधा प्रभाव पड़ा। गोपाल कृष्ण गोखले ने स्पष्ट रूप से कहा था कि "भूमि की उर्वरा शक्ति दिन पर दिन कम होती जा रही है। उत्पादित अनाज भी घटिया होता है। प्रति एकड़ उत्पादन जो पहले से ही संसार में कम था और घटता जा रहा था।"

(iii) कृषक वर्ग की दयनीय स्थिति– कृषकों के उत्पादन का 50% सरकार लगान के रूप में वसूल कर लेती थी, जिससे किसानों के पास संकट के लिए पूंजी शेष नहीं रहती थी और लोग घोर दरिद्रता के शिकार हो गए। यदि कहा जाए कि बंगाल में कुल वसूल किए गए करों का एक तिहाई भाग शुद्ध लाभ के रूप में देश से बाहर भेजा गया तो अनुचित नहीं होगा। परिणामस्वरूप भारत के किसानों की स्थिति खराब होती गई। अधिशेष के अभाव में अकाल की मार सहन नहीं कर पाते थे और लोग बड़ी संख्या में मौत का शिकार हुए।

(iv) औद्योगिक विकास की बाधायें– डी.ई. वाचा ने अनुभव किया कि भारत तब तक नए उद्योगों की स्थापना के संबंध में सोच नहीं सकता जब तक कि वह पूंजी की निकासी के अभिशाप से मुक्त नहीं हो जाता, क्योंकि पैसा–पैसे को खींचता है और भारत के लोग धन के आभाव से पीड़ित हैं।

रजनीपाम दत्त ने उल्लेख किया है कि "सभी विद्वान इस बात पर एक मत है कि 19वीं सदी को सभी पूर्ववर्ती सदस्यों से अलग करने वाली घटना 'औद्योगिक क्रान्ति' की शुरुआत 1760 ई. हुई। स्पष्ट है कि भारतीय धन से इंग्लैण्ड में समृद्धि आई और कारखाने खुले, दूसरी ओर भारत में निर्धनता फैली।"

(v) बुनकर व्यवसाय का उन्मूलन– ईस्ट इण्डिया कंपनी के अतिरिक्त 17वीं – 18वीं शताब्दी में फ्रांसीसी, पुर्तगाली आदि कंपनियां भी भारत से व्यापार कर रही थी। मुख्य रूप से ये कंपनियां सूती, रेशमी वस्त्र, नील व कुटीर उद्योग की सामग्री क्रय कर निर्यात करती थी। उस समय भारतीय बुनकरों को वस्त्र, नील एवं कुटीर उद्योग की सामग्री क्रय कर निर्यात करती थी। कुछ सूती कपड़े इतने महीन थे कि यूरोप के बुनकर उनका मुकाबला की स्थिति में नहीं थे, इसलिए कई देशों ने भारत के वस्त्र आयात पर प्रतिबंध लगाया।

टिप्पणी

(vi) अकाल का असर– 19वीं शताब्दी के अंतिम चरण के अकालों की संख्या पिछले 100 वर्षों में पड़ने वाले अकालों से चार गुना अधिक थी। 1775 से 1919 ई. के बीच भारत में 24 बड़े अकाल पड़े जिनमें 2 करोड़ 85 लाख लोग मारे गए।

इस प्रकार कंपनी के शासन व ब्रिटिश शासन ने जिस प्रकार से भारत को दीमक की तरह चूसा उससे भारत के प्रत्येक विकास को अवरुद्ध कर दिया और भारतीय समझ ही न सके।

धन बहिर्गमन संबंधी विमर्श

धन निष्कासन सभी विद्वानों ने स्वीकारा है, किंतु साम्राज्यवादी इतिहासकार इस सिद्धान्त को पूरी तरह खारिज करते हैं। राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने इसे भारत की गरीबी का एक प्रमुख कारण माना है। इसी धन निष्कासन के कारण गरीबी पनपी और ग्रामीण ऋणग्रस्तता का रास्ता प्रशस्त किया। दूसरे शब्दों में भारतीय गरीबी ब्रिटिश शासन की देन है न कि मुगलों की। राष्ट्रवादी इतिहासकारों का मानना है कि राष्ट्रीय धन का विदेशों में स्थानांतरण का एक महत्वपूर्ण एंव नकारात्मक प्रभाव रोजगार व अनाज पर भी पड़ा। परिणामस्वरूप भारत में औद्योगीकरण के लिए पूंजी का आभाव हो गया। यही कारण है कि भारतीय अर्थव्यवस्था की निर्भरता ब्रिटिश पूंजी पर बढ़ती चली गई।

राष्ट्रवादी चिंतक नौरोजी एवं आर.सी. दत्त व अन्य ने धन की निकासी की तीव्र आलोचना की और इसे उन्होंने भारत की दरिद्रीकरण का कारण माना। मारिसन जैसे ब्रिटिश पक्षधर धन की निकासी की स्थिति को अस्वीकार करते हैं। उनके द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया कि गृह व्यय की राशि बहुत अधिक नहीं थी और फिर यह रकम भारत के विकास के लिए आवश्यक थी। उन्होंने यह भी सिद्ध करने का प्रयास किया कि ब्रिटिश ने भारत में अच्छी सरकार दी तथा यहां यातायात और संचार व्यवस्था तथा उद्योगों का विकास किया और फिर ब्रिटिश ने बहुत ही कम ब्याज पर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा बाजार से एक बड़ी रकम भारत को उपलब्ध करवायी। दूसरी तरफ राष्ट्रवादी विद्वानों का कहना था कि भारत को वह पूंजी की जरूरत नहीं थी जो ब्रिटिश ने उस समय उसे उपलब्ध करायी। दूसरी ओर अगर भारत में स्वयं पूंजी संचय हुआ होता तो फिर उसे कर्ज लेने की जरूरत नहीं होती है। धन की वापसी की व्याख्या में राष्ट्रवादियों ने इस बात पर जोर दिया कि निकासी के कारण भारत ने न केवल वर्तमान में रकम खो दी, वरन् भारत उस लाभ से ही वंचित रह गया जो उस रकम को निवेशित करने से उसे प्राप्त हुआ।

मार्क्सवादी इतिहासकारों का कहना है कि राष्ट्रवादियों की अवधारणा को सिद्ध करना कठिन है क्योंकि प्रथम राष्ट्रवादियों ने निकासी को विशुद्धी पूंजी मान लिया तथा द्वितीय उस समय के भारतीय कुलीन तथा नवाब जो मुख्यतः इन संसाधनों पर आधिपत्य जमाए हुए थे वे कर अधिशेष का उचित प्रयोग नहीं कर पाए। अतः यह कहना कठिन है कि निकासी की धन राशि भारतीय कुलीन वर्ग द्वारा भी निवेश में ही प्रयोग की जाती। कुल मिलाकर राष्ट्रवादियों के आलोचना को मार्क्सवादियों ने एक सीमा बता दी लेकिन फिर भी मार्क्सवादी इस बात को मानते हैं कि धन की निकासी बहुत ज्यादा नहीं भी हुई किंतु फिर भी भारतीय अर्थव्यवस्था पर इसका सकारात्मक असर पड़ा है।

उपर्युक्त चर्चा से यह तो स्पष्ट है कि भारत में धन निकासी का सीधा प्रभाव उसकी अर्थव्यवस्था पर पड़ा। साथ ही ब्रिटिश व्यापार व रोजकोषीय नीति पर भी इसका सीधा प्रभाव पड़ा।

टिप्पणी

4.3.7 ब्रिटिश सामुद्रिक व्यापार

ब्रिटिश विदेश नीतियों ने सबसे ज्यादा प्रभावित भारत के धन की निकासी थी। भारतीय अर्थव्यवस्था, निःसंदेह मुख्य रूप से एक ग्रामीण अर्थव्यवस्था थी, लेकिन भारतीय कारीगरों ने यूरोपीय खरीदारों की मांगों को पूरा करने के लिए थोक में माल का उत्पादन किया।

उन्नीसवीं शताब्दी के पहले इंग्लैंड का भारत पर बहुत कम अधिकार था। 1750 से पूर्व इंग्लैंड में भी औद्योगिक क्रांति भी शुरू नहीं हुई थी। भारत की तरह ब्रिटिश भी कृषि प्रधान देश था। उसे अपने माल के लिए विदेशी बाजार की ज्यादा आवश्यकता नहीं थी। सिर्फ थोड़ी–बहुत चीजों को ही विदेशों में भेजा जाता था। भारत में जो विदेशी व्यापार उस वक्त होता था उससे भारत को कोई आर्थिक हानि भी नहीं हुई। 1765 में जब ईस्ट इंडिया कंपनी को मुगल बादशाह शाह आलम से बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त हुई, तब से ब्रिटिश सरकार (ईस्ट इंडिया कंपनी) इन प्रांतों से बंदोबस्त और मालगुजारी वसूल करने लगे।

सन् 1857 के पहले ही यूरोप में औद्योगिक क्रांति हो चुकी थी। इस क्रांति में ब्रिटिश सबका अगुआ था क्योंकि बहुत सी सुविधाएं अन्य देश के पास नहीं थी। इंग्लैंड ने भाप का इंजन बना लिया था तथा व्यापार में भारत के कारण ब्रिटिश की आय में भी बढ़ोत्तरी हो चुकी थी, उनके पास कुशल कारीगर थे। लोह व कोयला पर्याप्त मात्रा में था। इंग्लैंड के उत्तरी हिस्से में जहां कोयला व लोहा निकलता था वह कारखाने स्थापित होने लगे और शहरों का निर्माण होना भी प्रारंभ हो गया। मशीनों द्वारा बड़े पैमाने पर माल तैयार कर देशों में भेजे जाने लगा। इस नई व्यवस्था के कारण अन्य देशों को अपने तैयार माल के लिए बाजार की आवश्यकता पड़ने लगी। चूंकि इंग्लैंड के पास भारत एक उपनिवेश के रूप में था इसलिए राजनीतिक शक्ति के सहारे भारत अंग्रेजी माल का एक अच्छा बाजार बन गया।

अंग्रेजी शिक्षा व यूरोप के रहन–सहन का प्रभाव भारत पर पड़ने लगा। भारत एक सभ्य देश होने के कारण अंग्रेजों को अपने माल की खपत करने में बहुत अधिक कठिनाई नहीं हुई। सबसे ज्यादा इस नई नीति का प्रभाव भारत के वस्त्र उद्योग पर पड़ा। मशीन से तैयार वस्त्र का मुकाबला करघों से तैयार वस्त्र नहीं कर पाए। इसलिए धीरे–धीरे भारत के उद्योग नष्ट होने लगे। भारत के बंदरगाह कलकत्ता, बंबई और मद्रास भारत के बड़े–बड़े नगरों से जोड़ दिए गए। व्यापार की सुविधा के लिए तथा माल को दूर–दूर तक पहुंचाने के लिए सड़कें वे रलों का जाल बिछाना प्रारंभ कर दिया। इंग्लैंड का भारत के कच्चे माल की आवश्यकता थी। आंतरिक अर्थात भारतीय व्यापार की पूरी तरह उपेक्षा की गई।

ईस्ट इंडिया कंपनी भारत को कृषि प्रधान देश ही बनाए रखना चाहती थी जिससे भारत से उसको कच्चा माल मिलता रहे। और भारत में उनका तैयार माल बिकता रहे। जब कभी भारतीय सरकार ने देशी व्यवसाय को प्रोत्साहन देने की कोशिश की तो इंग्लैंड सरकार ने इसका विरोध किया और जब इंग्लैंड से तैयार माल पर सरकार ने टेक्स लगाने की कोशिश की तो उन्होंने इसका काफी विरोध किया कि भारतीय वस्त्र उद्योग पर भी चुंगी लगाई जाए।

ईस्ट इंडिया कंपनी तारत में अपने आर्थिक हितों को आगे बढ़ाने के महत्व को अच्छी तरह समझती थी। बीसवीं शताब्दी के पांचवें दशक में अंग्रेजों की काफी पूंजी

भारत में लगी थी ओर तीव्र गति से उस पूंजी में वृद्धि हो रही थी। अफीम के व्यापार को नियमित तााि अनुपत्रित (Licensed) करके केवल मुंबई बंदरगाह से ही निर्यात करने की आज्ञा दी जिससे कंपनी को निर्यात कर का भी हिस्सा मिलने लगा। भारतीय कच्चा माल जैसे– कपास, पटुआ और चाय इत्यादि बड़ी मात्रा में बाहर जाने लगा और उसके बदले तैयार माल भारत आकर बिकने लगे।

1813 में चार्टर एक्ट के नवीनीकरण के समय यह प्रभाव देखने को मिला और कंपनी की चाय तथा चीन के व्यापार के एकाधिकार को छोड़कर शेष सभी व्यापार अंग्रेजों के लिए खोल दिए गए। 1833 चार्टर एक्ट के अनुसार भारत और चीन व्यापारिक अधिकार कंपनी ने समाप्त कर दिए। यह खुला व्यापार एकतरफा था। भारतीय माल को इंग्लैंड आयात करने पर भारी मात्रा में कर देना पड़ता था। सूती और रेशमी कपड़ों के आयात पर इंग्लैंड कर लगाता था।

अपनी प्रगति जांचिए

4. सन् 1927 में लीग ऑफ नेशन ने कितने देशों के भुगतान संतुलन के प्रथम भाग को प्रकाशित किया?

   (क) 15 (ख) 17

   (ग) 19 (घ) 21

5. धन–निष्कासन का प्रतिपादन सर्वप्रथम किसने किया?

   (क) रमेश चंद्र दत्त (ख) गोपाल कृष्ण गोखले

   (ग) दादा भाई नौरोजी (घ) महादेव गोविंद रानाडे

6. सन् 1775 से 1919 ई. के बीच भारत में कितने अकाल पड़े?

   (क) 12 (ख) 24

   (ग) 36 (घ) 48

4.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (क)
2. (ख)
3. (घ)
4. (ख)
5. (ग)
6. (ख)

4.5 सारांश

ब्रिटिश काल में विभिन्न प्रकार के उद्योग का आर्विभाव हुआ था। औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप विभिन्न नवीन मशीनों द्वारा उद्योग आरम्भ हुए। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् भारत की गणना विश्व के 8 सर्वाधिक प्रधान उद्योगों में होने लगी। इस समय ज्वाइंट

टिप्पणी

स्टॉक कंपनियों की कुल पूंजी 424.2 करोड़ रुपये तक पहुंच गई थी। कुछ उद्योगों जैसे– चीनी, साबुन, सीमेंट के मामले में देश पूरी तरह आत्मनिर्भर था और जूट के क्षेत्र में उसने संसार की अधिकांश जूट मण्डियों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। यह तो स्पष्ट ही था कि भारत के सहारे ब्रिटेन का व्यापार गति पकड़ रहा था। 1851, 1860–70, तक नई कंपनियां खोली गई, जिनमें सूती मिलों की अधिकता थी। 1879 में सूती मिलों व अन्य मिलों को मिलाकर इनकी संख्या 56 तक पहुंच गई। उधर कुछ उद्योग ऐसे थे जिनको प्रोत्साहन नहीं मिला वे नष्ट हो गए, जैसे– लोहा, इस्पात, सूती वस्त्र, कागज, चीनी, दियासलाई आदि। भारत में विभिन्न उद्योगों के प्रारम्भ से उद्योगों की बाढ़ सी आ गई।

1916 में औद्योगिक आयोग (कमीशन) ने भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन देने की जोरदार सिफारिश की। सरकार ने प्रोत्साहन दिया और आश्वस्त किया कि युद्ध काल में भी प्रोत्साहन जारी रहेगा। सूत व जूट आदि कारखानों की शुरुआत हो चुकी थी, इसी बीच लोहा, कोयला, इस्पात आदि कारखानों का प्रारम्भ हो रहा था। 1850 का वर्ष एक विभाजक के तौर पर देखा जाता है क्योंकि यहीं से आधुनिक उद्योगों का आरम्भ काल माना जाता है। यही से कुछ बागान उद्योगों का कार्य भी शुरू हुआ जैसे– चाय, कॉफी, नील इत्यादि। चाय, भारत में चीन से लाई गई और भारत में इसकी इतनी प्रगति हुई कि वह चीन को पछाड़ कर शीर्ष स्थान पर पहुंच गया। भारतीय चाय का महत्वपूर्ण उपभोक्ता ब्रिटेन ही था और लंदन यूरोप की अग्रणी चाय मण्डी था। 85% चाय अकेले ब्रिटेन को ही निर्यात होती थी।

इसी प्रकार कॉफी भी भारत में 17वीं शताब्दी से उगाई जा रही थी, 1930 के वर्ष में 4000 एकड़ भूमि पर कॉफी की खेती की जाती थी। 1906 में 31,827 बागानों में 24,447 व्यक्ति स्थायी रूप से और 46,044 अस्थायी रूप से काम करते थे। साथ ही इनमें महिलाओं और बच्चों की संख्या काफी कम थी। बागान खेती में ही नील की खेती भी शामिल की जाती है। यूरोप में नील की बढ़ती मांग को देखते हुए कंपनी ने भारत में नील की खेती के रास्ते ढूंढ निकाले। भारत में नील का पारम्परिक स्रोत गुजरात, उत्तर प्रदेश, पंजाब और बंगाल थे।

सूत कातना भारत का पुराना काम था, भारत जैसा सूत विश्व में कहीं भी नहीं मिलता था। अब ब्रिटिश राज में सूती मिल उद्योग की भी शुरुआत हो गई थी। 1870 में बम्बई में वस्त्र उद्योग की प्रगति काफी बढ़ गयी। 19वीं शताब्दी का अंतिम वर्ष आर्थिक संकट के नाम से जाना जाता था। 1905 में 2.35 करोड़ का लाभ हुआ था तथा 1910 से 1914 तक वे संकटग्रस्त थी। ऐसे ही रासायनिक उद्योग व उर्वरक उद्योग भी थे। ये दोनों उद्योग भारत में नहीं थे जो बाद में भारत में प्रारंभ किए गए। चीनी, कागज व सीमेंट उद्योग भी इसी श्रेणी में है। इन उद्योगों के कार्यान्वयन के साथ–साथ अब भारतीय जागरूक हो रहे थे और उद्योगों व व्यापार में लगने वाली पूंजी के प्रति सचेत हो गए थे। पहले वे विदेशी पूंजी के पक्ष में थे किंतु जब उन्हें आभास हुआ कि ब्रिटिशर्स भारत में व्यापार के माध्यम से अपने देश को ही लाभान्वित कर रहे हैं तो सचेत हो गए। कुछ भारतीय पूंजीपतियों ने आगे बढ़ कर उद्योग प्रारम्भ किए। कुछ अन्य उद्योग भी फले–फूले जैसे रूई, जूट, लौह, इस्पात इत्यादि।

एक महत्वपूर्ण तथ्य भी सामने आता है जैसे श्रमिकों की समस्या क्योंकि श्रमिक या तो खेतिहर थे या फिर वे कारीगर जिनके कुटीर उद्योग इत्यादि नष्ट हो गए थे। ये श्रमिक किसी प्रकार के कानून नहीं जानते थे और न ही मालिक इनसे कोई सरोकार

टिप्पणी

रखते थे। वे अपने परिवारों से दूर बिना किसी छोटी–मोटी सुविधाओं के कष्टों भरा जीवन जी रहे थे। धीरे–धीरे श्रमिकों के आंदोलन होने लगे और यूनियन ट्रेड का निर्माण हुआ तथा समय के साथ–साथ नए नियमों का आविर्भाव एवं उनमें परिवर्तन भी हुआ।

इसी समय दादा भाई नौरोजी ने 'धन निकासी' की ओर ध्यान केन्द्रित किया, उनके इस विचार का साथ बहुत से राष्ट्रवादियों ने दिया। धन निष्कासन का एक दृष्टिकोण यह भी था कि आयात की तुलना में अधिक निर्यात होना, नौरोजी ने संपूर्ण जीवन इसमें लगा दिया, जो शतप्रतिशत सत्य भी था। अंग्रेज प्रशासनिक अधिकारियों, सैनिकों और रेलवे अधिकारियों के वेतन–भत्तों एवं पैंशन के भुगतान हेतु भारत की ब्रिटिश सरकार द्वारा आय और बचत का एक भाग इंग्लैंड भेजा जाता था। रमेश चन्द्र दत्त ने कहा– "एक कृतघ्न व्यक्ति भी यह कह सकता था कि जैसे–जैसे भारत से इंग्लैण्ड को जाने वाले धन के प्रवाह की मात्रा बढ़ी, वैसे ही उसके प्रतिपादन स्वरूप इंग्लैण्ड ने इस ऋण का भुगतान प्रचुर सहानुभूति और पछतावे के रूप में किया।"

4.6 मुख्य शब्दावली

- **उद्योग** : उद्योग वह आर्थिक गतिविधि है जो विशेष मशीनों की सहायता से बड़े पैमाने पर माल के उत्पादन में सहायक होते हैं।
- **पूंजीवाद** : पूंजीवाद वह अर्थव्यवस्था है जिसमें आर्थिक रूप से समस्त पहलुओं को व्यवस्थित करके रखा जाता है और पूंजीवादी वर्ग में प्रायः उन वर्गों को सम्मिलित किया जाता है जो अपनी नीतियों का निर्माण पूंजी द्वारा अधिक से अधिक लाभ कमाने की योजना के लिए करते हैं।
- **वित्तीय पूंजी** : वित्तीय पूंजी उद्यमियों और व्यवसायों द्वारा उपयोग किए जाने वाले धन के संदर्भ में मापा जाने वाला कोई भी आर्थिक संसाधन है जो उन्हें अपने उत्पादों को बनाने या अपनी सेवाएं प्रदान करने के लिए आवश्यक है।
- **विदेशी व्यापार** : विदेशी व्यापार से तात्पर्य उस व्यापार से है जिसके अंतर्गत दो या दो से अधिक देशों के बीच वस्तुओं और सेवाओं का विनिमय किया जाता है।
- **भुगतान संतुलन** : भुगतान संतुलन से आशय एक देश के समस्त आयातों एवं निर्यातों व अन्य सेवाओं के मूल्यों के संपूर्ण विवरण से होता है। इसका विवरण तैयार करते समय दोहरी प्रविष्टि प्रणाली अपनायी जाती है जिसमें शेष विश्व के साथ किसी देश के लेखे का विवरण होता है।
- **धन निष्कासन** : भारत में ब्रिटिश शासन के समय भारतीय उत्पाद का वह हिस्सा जो जनता के उपयोग के लिए उपलब्ध नहीं था तथा राजनीतिक कारणों से जिसका प्रवाह इंग्लैंड की ओर हो रहा था, जिसके बदले में भारत को कुछ भी प्राप्त नहीं होता था।

4.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. 'बागान' उद्योग से आप क्या समझते हैं?
2. उर्वरक उद्योग से क्या अभिप्राय है? संक्षेप में समझाइए।

टिप्पणी

3. विदेशी व्यापार से क्या अभिप्राय है? किन कारणों से प्रथम विश्व युद्ध के दौरान विदेशी व्यापार में कमियां आई थीं?
4. द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान भारत के विदेशी व्यापार की दिशा में कौन से परिवर्तन हुए?
5. निर्यात में धीमी गति से वृद्धि होने के प्रमुख कारण क्या थे?
6. विदेशी सामुद्रिक व्यापार पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. भारत में बागान उद्योग की शुरुआत कैसे हुई और कुछ बागान उद्योगों का वर्णन कीजिए।
2. मंदी काल में जूट उद्योग की स्थिति पर प्रकाश डालिए।
3. भारतीय पूंजी की समीक्षा कीजिए।
4. किन कारणों से विदेशी पूंजी की आलोचना की गई?
5. सन् 1914 से पूर्व आधुनिक उद्योगों की प्रकृति का विश्लेषण कीजिए।
6. भारतीय श्रमिकों की समस्याओं का उल्लेख कीजिए।
7. मजदूर आंदोलन के प्रकारों का वर्णन कीजिए।
8. धन–निष्कासन से आप क्या समझते हैं? इसका भारत पर क्या प्रभाव पड़ा? वर्णन कीजिए।

4.8 सहायक पाठ्य सामग्री

1. जथार, जी.बी., 'भारतीय अर्थशास्त्र', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
2. ड्यूवेट, केवल कृष्ण, 'भारतीय अर्थशास्त्र', डायरेक्टरेट ऑफ स्कूल डिवीजन, जालंधर।
3. वैश्य, एम.सी., 'आर्थिक विचारों का इतिहास', अर्थशास्त्र एवं लोक प्रशासन विभाग, जयपुर, रतन प्रकाशन मंदिर।
4. चंद्र, बिपिन, 'भारत में आर्थिक राष्ट्रवाद का उद्भव और विकास', अनामिका प्रकाशन।
5. चंद्रा, बिपिन, 'आधुनिक भारत में उपनिवेश्वाद और राष्ट्रवाद', अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली।
6. भारतीय अर्थव्यवस्था का विकास (कक्षा–11), एन.सी.ई.आर.टी., नई दिल्ली।
7. सिंह, वेद प्रकाश, 'भारत के प्रमुख उद्योग', आत्माराम एंड संस, दिल्ली।
8. 'The Economic History of India 1857-2010', Oxford University Press, New Delhi.

टिप्पणी

इकाई 5 राजकोषीय व्यवस्था, मूल्यों में उतार चढ़ाव और जनसंख्या

संरचना

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 राजकोषीय व्यवस्था
- 5.2.1 प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष कर विवर्तन
- 5.2.2 प्रशुल्क एवं उत्पाद शुल्क
- 5.2.3 मौद्रिक नीतियां
- 5.2.4 साख व्यवस्था

5.3 मूल्यों में उतार चढ़ाव
- 5.3.1 मूल्यों के उतार चढ़ाव में मुख्य रुझान
- 5.3.2 जमींदारों पर किराए का प्रभाव
- 5.3.3 राज्य के राजस्व और व्यापार पर प्रभाव

5.4 जनसंख्या
- 5.4.1 जनगणना पूर्व और पश्चात जनसंख्या वृद्धि के अनुमान
- 5.4.2 वि–शहरीकरण विवाद
- 5.4.3 जनसांख्यिकीय परिवर्तन में रुझान

5.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.6 सारांश
5.7 मुख्य शब्दावली
5.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.9 सहायक पाठ्य सामग्री

5.0 परिचय

किसी भी देश की राजकोषीय नीति का मुख्य उद्देश्य सैद्धान्तिक रूप से, क्रियात्मक वित्त प्रबंधन तथा कार्यशील वित्त प्रबंधन की व्यवस्था करना है, दूसरे शब्दों में आर्थिक विकास के लिए आवश्यक एवं पर्याप्त मात्रा में धन की व्यवस्था करना राजकोषीय नीति के उद्देश्य किसी राष्ट्र के विकास के लिए उसकी परिस्थितियों, विकास संबंधी आवश्यकताओं और विकास की अवस्था के आधार पर निर्धारित किए जाते हैं। अल्पविकसित और विकासशील देशों की राजकोषीय नीति अलग–अलग होती है। अल्पविकसित देशों में प्रति व्यक्ति वास्तविक आय के कम होने के कारण बचतें बहुत कम होती थी, जिनके फलस्वरूप विनियोग हेतु आवश्यक पूंजी का आभाव बना रहा।

सीमा शुल्क नीति किसी देश के उद्योगों को संरक्षण देने और फलस्वरूप उनके विकास में काफी सहायक सिद्ध होती है। सभी औद्योगिक राष्ट्रों ने समय समय पर अपने नवोदित उद्योगों को संरक्षण देने के लिए इसके अनुरूप सीमा शुल्क नीतियां तय की। अधिक आयात शुल्क लगाने से उस देश के उद्योगों का माल घरेलू मंडियों में महंगा बिकेगा और देसी उद्योग ज्यादा आसानी से राष्ट्रीय मंडियों में उससे प्रतियोगिता कर पाएगा। ब्रिटिश सरकार ने मुक्त व्यापार की नीति का अनुसरण किया क्योंकि उसे

टिप्पणी

किसी राष्ट्र की प्रतियोगिता का डर नहीं था अर्थात् इंग्लैण्ड व्यापार की तथाकथित स्वतंत्रता के लिए न दूसरे देशों को औद्योगिक माल पर आयात शुल्क लगाएगा और न इसलिए वे देश उसके माल पर आयात शुल्क लगाए।

भारत में प्राचीन काल से वस्तु विनिमय का सिद्धांत था। फिर धीरे–धीरे कुषाण, सातवाहन, मौर्यों के काल में सिक्के ढाले जाने लगे, ये तांबा, चांदी, सोने और सीसे, जिंक के भी होती है। ये सिक्के तत्कालीन काल की आर्थिक स्थिति जानने में बहुत सहायक रही है, क्योंकि अधिक मिलावट का अर्थ था कि आर्थिक व्यवस्था ठीक नहीं थी, इसी प्रकार गुप्त काल की मुद्राएं सोने की होती थी, जिससे ज्ञात होता है कि उस समय की आर्थिक स्थिति बहुत सुदृढ़ थी और सल्तनत व मुगल काल में आते–आते मुद्राओं में मिलावट का दौर बढ़ता गया। 19वीं शताब्दी आते आते चांदी की कीमत कम होने लगी। सरकार विदेशी मुद्राओं से भारतीय मुद्राओं की तुलना करने में लगी थी। कभी चांदी का मान अधिक होता तो कभी स्वर्ण का। उधर द्वितीय विश्व युद्ध व मंदी काल में इस पर अधिक प्रभाव पड़ा। इसका विस्तृत अध्ययन हम मौद्रिक नीतियां नामक अध्याय में करेंगे।

अनेक दृष्टिकोणों से अत्यधिक महत्वपूर्ण है। उसकी विभिन्नताओं से देश में आर्थिक दशाओं का पता चला और उससे हम उनकी विदेशी मूल्यों के साथ तुलना कर सकते हैं, उनसे सरकार को भूमिकर तथा अन्य करों का अनुमान लगाने में सहायता मिलती है और उसी परिणाम में उनको न्यूनाधिक किया जाता है। वह चलअर्थ के संकोच या विस्तार पर प्रकाश डालते हैं और सरकार की नियंत्रण नीति को ढालने में सहायता करते हैं। मूल्यों का अध्ययन एक जटिल समस्या रहा है। देश के विभिन्न भागों में उसके विस्तृत परिणाम तथा जीवन के व्यय में भारी अन्तर होने के कारण यह समस्या और भी जटिल है।

जनसंख्या वृद्धि का प्रभाव कई क्षेत्रों में देखा जा सकता है, कहीं–कहीं बेरोजगारी देखने को मिलती है। श्रम शक्ति में भी अब अधिक विभाजन देखने को मिलता है। इस श्रम विभाजन में कृषक श्रमिक, चाय बागान इत्यादि बढ़ोत्तरी, उद्योग खनिज इत्यादि में कम बढ़ोत्तरी और परिवहन संचार, सौदागरी आदि अति निम्न स्तर पर आ गए। इस प्रकार औपनिवेशिक काल में आर्थिक गति में सुधार नहीं हो पाया।

इस इकाई में राजकोषीय व्यवस्था, कर विवर्तन, मौद्रिक नीतियां, मूल्यों में उतार चढ़ाव तथा जनसंख्या के विभिन्न पक्षों को विस्तार से समझाया गया है।

5.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- राजकोषीय व्यवस्था से परिचित हो पाएंगे;
- प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष कराधान में परिवर्तन को समझ पाएंगे;
- प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष करों की विवेचना कर पाएंगे;
- मौद्रिक नीतियां और साख व्यवस्था का आकलन कर पाएंगे;
- मूल्यों के उतार चढ़ाव की समीक्षा कर पाएंगे;

- जनगणना पूर्व और जनगणना बाद के जनसंख्या वृद्धि के अनुमानों का विश्लेषण कर पाएंगे;
- वि–शहरीकरण विवाद की समीक्षा कर पाएंगे;
- जनसांख्यिक परिवर्तन के रुझानों से अवगत हो पाएंगे।

5.2 राजकोषीय व्यवस्था

राजकोषीय नीति के अभिप्राय साधारणतया, सरकार की आय, व्यय तथा ऋण से सम्बन्धित नीतियों से लगाया जाता है। प्रो. आर्थर स्मिथीज ने राजकोषीय नीति को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "राजकोषीय नीति वह नीति है जिसमें सरकार अपने व्यय तथा आगम के कार्यक्रम को राष्ट्रीय आय, उत्पादन तथा रोजगार पर वांछित प्रभाव डालने और अवांछित प्रभावों को रोकने के लिए प्रयुक्त करती है इस सम्बन्ध में श्रीमती हिक्स का कहना है कि "राजकोषीय नीति का सम्बन्ध उस पद्धति से है जिसमें लोक वित्त के विभिन्न अंग अपने प्राथमिक कर्त्तव्यों को पूरा करने के लिए सामूहिक रूप से आर्थिक नीति के उद्देश्यों को आगे बढ़ाने के लिए प्रयोग में लाए जाते हैं।"

उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार अर्थव्यवस्था में सर्वोच्च उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए राजकोषीय नीति व्यय, ऋण, कर, आय हीनार्थ प्रबंधन आदि की समुचित व्यवस्था बनाए रखती है। जैसे– आर्थिक विकास, कीमत की स्थिरता, रोजगार, करारोपण, सार्वजनिक आय–व्यय, सार्वजनिक ऋण आदि। इन सबकी व्यवस्था राजकोषीय नीति में की जाती है। राजकोषीय नीति के आधार पर सरकार करारोपण करती है। वह यह देखती है कि देश में लोगों की करदान क्षमता बढ़ रही है अथवा घट रही है। इन सब बातों का अनुमान लगाकर ही सरकार करों का निर्धारण करती है। व्यय नीति में भी वे निर्णय शामिल किए जाते हैं, जिनका अर्थव्यवस्था पर प्रभाव पड़ता है। ऋण नीति का सम्बन्ध व्यक्तियों के ऋणों के माध्यम से क्रय शक्ति को प्राप्त करने से होता है। राजकोषीय नीति आय, व्यय व ऋण के द्वारा सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति करती है। राजकोषीय नीति के अंतर्गत मुख्य रूप से चार बातों को सम्मिलित किया जाता है–

(i) सरकार की करारोपण नीति (Taxation Policy)

(ii) सरकार की व्यय नीति (Expenditure Policy)

(iii) सरकार की ऋण नीति (Public Debt Policy)

(iv) सरकार की बजट नीति (Budgetory Policy)

5.2.1 प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष कर विवर्तन

कर विवर्तन (Shifting of taxation) वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक व्यक्ति स्वयं पर लगाए गए कर भार को अन्य व्यक्तियों पर डाल देता है। कर का विवर्तन करना कानूनन अपराध नहीं है। कई लोग आय कम दर्शाकर, कर चुकाने से बच जाते हैं। इसे कर का अपवंचन कहते हैं। कर अपवंचन गैरकानूनी है।

मान लीजिए सरकार चावल पर कर लगाती है और चावल के उत्पादकों से कर राशि प्राप्त करती है। इस प्रकार का मौद्रिक भार प्रत्यक्षतः चावल के उत्पादकों पर पड़ता है। अब यदि उत्पादक कर का मौद्रिक भार किसी अन्य व्यक्ति पर (माना थोक

टिप्पणी

विक्रेता पर) चावल की कीमतों में वृद्धि करके डालता है और विवर्तन की यह प्रक्रिया थोक विक्रेता से अन्तिम उपभोक्ता तक जारी रहती है जो करापात उस उपभोक्ता पर पडेगा जो अन्तिम दशा में मौद्रिक भार उठायेगा। इसे परोक्ष मौद्रिक भार कहा जाता है। इस सम्बन्ध में डाल्टन ने अपने विचारों को इस प्रकार से परिभाषित किया है–

''करापात से साधारणतः यह अभिप्राय लिया जाता है कि कर का भुगतान कौन करता है। अधिक निश्चित रूप से कह सकते है कि कर का मौद्रिक बोझ उस पर पड़ता है जो प्रत्यक्ष रूप से कर का बोझ उठाते है।''

फिन्डले शिराज के अनुसार, "कर भार की समस्या का विश्लेषण यह निर्धारित करता है कि कर का भुगतान कौन करता है अर्थात् कर का मौद्रिक भार किस पर पड़ता है।"

कर विवर्तन की अवधारणा मुख्य रूप से कराघात एवं करापात के मध्य अन्तर से सम्बन्धित है। सामान्य रूप से कर विवर्तन से हमारा आशय कर प्रणाली के उस भाग से लगाया जाता है जिसके अन्तर्गत करदाता कर के भार को दूसरे व्यक्ति या आर्थिक इकाई पर टालने में सफल हो जाता है। करदाता कर के भार के कितने अंश को दूसरे पर टालने में सफल हो पाता है यह कर की प्रकृति तथा वस्तु की कीमत लोच पर निर्भर करता है। कर विवर्तन कराघात एवं कराभार (करापात) के बीच की एक कड़ी के रूप में देखा जा सकता है। कराघात के द्वारा सरकार कर संग्रहण के लिए एक व्यक्ति या इकाई को आधार बनाती है वही करापात को अलग–अलग रूप में प्रसरण करने के लिए करदाता को कुछ ऐसी व्यवस्थाओं का सहारा दिया जाता है जिससे वह कर को सरकार को जमा करने की प्रतिबद्धता तो पूरी करता है लेकिन करके अन्तिम रूप से उगाही को स्वयं वहन नहीं करता है। इसके लिए वह उस वस्तु या इकाइयों से सम्बन्धित व्यक्तियों पर विवर्तित कर देता है। इस प्रकार जब कराघात एवं करापात अलग–अलग दो व्यक्तियों एवं संस्थाओं पर होता है तब कराघात एवं करापात को अलग–लग सहन करने की क्रिया कर विवर्तन कहलाती है। कुछ करों की स्थिति में कर का विवर्तन सम्भव होता है तथा कुछ करों की स्थिति में करापात को दूसरों पर टाला नहीं जा सकता है।

करापात के प्रकार

प्रो. मसग्रेव के अनुसार करापात तीन प्रकार का हैः

1. **विशेष करापात** : जब कोई कर सरकारी खाते के व्यय पक्ष में बिना किसी परिवर्तन से लगाया जाता है।
2. **विभेदी करापात** : जब कोई कर किसी अन्य कर के विकल्प के रूप में लगाया जाता है।
3. **संतुलित बजट करापात** : जब कर की आय से सरकार अपने व्यय में वृद्धि करती है।

कराघात

कराघात से अभिप्राय कर के तत्काल भार से है। अतः कराघात कर का तत्काल परिणाम है जो उस व्यक्ति पर पड़ता है जिससे सरकार कर एकत्रित करती हैं अर्थात्

जो सर्वप्रथम कर का भुगतान करता है। यह आवश्यक नहीं है कि कर का कराघात और करापात एक ही व्यक्ति पर पड़े। कराघात उत्पादक पर पड़ता है जबकि करापात उपभोक्ता पर। जिस व्यक्ति को कर तुरंत भुगतान करना पड़ता है उस पर कराघात होता है। उदाहरणतः आयात कर सरकार को आयातकर्ता देगा उत्पादन कर उस व्यक्ति को देना पड़ता है जो उस वस्तु का उत्पादन करता है। कराघात उत्पादक की आय को कम नहीं करता, यद्यपि यह उस पर कुछ समय के लिए दबाव डालता है जबकि करापात स्थायी होता है। इसका अर्थ है कि करापात की अपेक्षा कराघात का अध्ययन कम महत्वपूर्ण है।

प्रो. जे.के. मेहता के अनुसार, "कराघात को तत्काल मुद्रा भार कहा जा सकता है। जो व्यक्ति सरकार को कर का भुगतान करता है वह कराघात सहन करता है।" कपड़े का उत्पादक सरकार को कर देता है। अतः वह कराधान वहन करता है। उत्पादक अपने कपड़े की कीमत में वृद्धि करता है ताकि कर का भार खरीदने वाले पर पड़े। अगर वह कीमत बढ़ाने में सफल रहता है तो इसका अर्थ है कि पूर्ण या आंशिक रूप से कर का विवर्तन हुआ है। यदि कीमत पूरी सीमा तक नहीं बढ़ पाती तो इसका अर्थ है कि करापात का कुछ भाग कपड़ा उत्पादक पर शेष रह गया है। लेकिन कराघात केवल उत्पादक पर ही पड़ेगा। क्योंकि सबसे पहले वही करके बोझ को सहन करता है।

कर लगाने का उद्देश्य केवल धन एकत्र करना ही नहीं, इसका उद्देश्य आर्थिक और सामाजिक न्याय प्राप्त करना भी है। समाज में धन का समान वितरण, उत्पादन तथा रोजगार में वृद्धि और देश के आर्थिक विकास के लिए कर भार की समस्या का अध्ययन करना आवश्यक है। इससे पता चलता है कि किस व्यक्ति पर कर का कितना भार पड़ेगा और यह बात निश्चित होने पर कोई भी कर अनुचित रूप से नहीं लगाना पड़ेगा।

कर विवर्तन के सिद्धांत

सामान्य रूप से कर विवर्तन को दो सिद्धांतों के आधार पर संभव बनाया गया है।

1. **केन्द्रीयकरण का सिद्धांत :** करापात का केन्द्रीयकरण सिद्धांत के अनुसार सरकारक द्वारा किये जाने वाले करारोपण का भार अन्ततः एक ही स्थान पर आकर केन्द्रित हो जाता है। देश में किसी भी वस्तु या सेवा पर किसी भी प्रकार का कर लगाया जाय उसका समस्त भार अन्ततः भूमि/कृषि पर ही पड़ता है। करों का विवर्तन भी इसी प्रकार क्रियाशील होता है कि अन्तिम करापात भूमि पर ही पड़ता है।
2. **कर–प्रसारण सिद्धांत :** इस सिद्धांत का प्रतिपादन फ्रांसीसी अर्थशास्त्री केनार्ड द्वारा किया गया। यह सिद्धांत केन्द्रीयकरण सिद्धांत के विपरीत तथ्य पर आधारित किया गया है। इस सिद्धांत के अनुसार करारोपण कहीं भी किया जाय परन्तु उसका प्रभाव अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों एवं भागों में फैल जाता है। अर्थात् करारोपण का भार समाज के प्रत्येक व्यक्ति को वहन करना होता है। सर हैमिल्टन के अनुसार, ''प्रसार के सिद्धांत में कदाचित आशावादी सिद्धांत से भी अधिक सच्चाई है, और वह यह कि करों की प्रवृत्ति फैलने तथा समान होने की होती है और वे निश्चितता तथा एकसारिता से लगाये जायें तो प्रसारित होकर

टिप्पणी

प्रत्येक सम्पत्ति पर ही अपना भार डालेंगे।'' कर का विवर्तन इस प्रकार होता है कि समय के साथ–साथ कर का भार सम्पूर्ण समाज में फैल जाता है।

कर विवर्तन के प्रकार

कर विवर्तन के प्रकारों के बारे में आप अच्छी तरह से अध्ययन कर सकेंगे–

1. अग्रग्रामी कर–विवर्तन
2. पश्चगामी कर–विवर्तन
3. अग्रोन्मुखी कर–विवर्तन

1. अग्रगामी कर–विवर्तन

अग्रगामी कर–विवर्तन से तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जिसके अन्तर्गत कर देने वाला व्यक्ति या संस्था कर का भार आगे वाले सम्बन्धित व्यक्ति पर टालने में सफल हो जाता है। उदाहरण के लिए आप बिक्री कर को लीजिए– माना सरकार द्वारा बिक्री कर लगा दिया गया तब उस कर को अदा तो वस्तु का विक्रेता करेगा लेकिन कर की धनराशि को वह अपनी जेब से नहीं करेगा। इस धनराशि के बराबर वह वस्तु की कीमत बढ़ा देगा तथा उसे क्रेता से बसूल लेगा जिसे सामान्य रूप से उस वस्तु का उपभोक्ता ही कहा जायेगा। इस प्रकार इस प्रकार के कर विवर्तन में विक्रेता करके भार को वस्तु की कीमत बढ़ाकर वस्तु के उपभोक्ता पर टाल दिया जाता है तथा इस करभार को उपभोक्ता आगे और नहीं टाल सकता। इस प्रकार अग्रगामी कर विवर्तन में कराघात विक्रेता पर तथा करापात वस्तु के उपभोक्ता पर पड़ता है।

2. पश्चगामी कर विवर्तन

पश्चगामी कर विवर्तन ठीक अग्रगामी कर विवर्तन की उल्टी प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत करदाता के भार को उस वस्तु या सेवा से सम्बन्धित पूर्ववर्ती व्यक्ति या इकाई पर टाला जाता है तथा कर का भार पूववर्ती व्यक्ति या इकाई द्वारा ही सहन करना पड़ता है। इस प्रकार जब कर भार को पीरछे की ओर टाला जाता है तब उसे पश्चगामी कर विवर्तन की संज्ञा दी जाती है। इस एक उदाहरण द्वारा आसानी से समझाया जा सकता है। सरकार द्वारा उत्पादन कर लगाने की स्थिति में कर के भार को दो रूपों में टाला जा सकता है। प्रथमतः वह उत्पादन कर को उत्पादन की कीमत बढ़ाकर क्रेता से वसूल ले तथा द्वितीयतः वह उस उत्पादन में प्रयुक्त कच्चे माल की कीमतों में कर की धनराशि के बराबर कमी कर दे ताकि कर का भार कच्चे माल की आपूर्ति कर्ता को वहन करना पड़े। इस प्रकार पश्चगामी कर विवर्तन द्वितीय स्थिति की ओर इंगित करता है। इस प्रकार के कर विवर्तन में करापात को पीछे की प्रिक्रा में शामिल करते हुए टाल दिया जाता है तथा उसी से परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से बसूल लिया जाता है।

3. अग्रोन्मुखी कर विवर्तन

यह कर विवर्तन की वह अवस्था है जिसके अन्तर्गत करापात को आगे की ओर विक्रेता तथा उपभोक्ता के पूर्व के मध्यस्थों पर टाला जाता है। इस प्रक्रिया में कर भार को एक से अधिक क्रेताओं तथा छोटे विक्रेताओं पर टाला जाता है। इस प्रकार यह कर विवर्तन उपभोक्ता से पूर्व तक का अग्रगामी कर विवर्तन है।

टिप्पणी

महत्वपूर्ण करों की स्थिति में कर विवर्तन

करापात एवं कर विवत्रन से सम्बन्धित विभिन्न महत्वपूर्ण तथ्यों का अध्ययन करने के बाद अब आप समझ सकेंगे कि कुछ महत्वपूर्ण करों की स्थिति में कर विवर्तन के द्वारा करापात की क्या स्थिति होती है। यहाँ पर कुछ महत्वपूर्ण करों के सम्बन्ध में कर विवर्तन एवं करापात की विवेचना करेंगे–

1. **आय कर** : कुछ अर्थशास्त्रियों का मानना है कि विशेष स्थितियों में आय कर का विवर्तन किया जा सकता है परन्तु सामान्यतः आय कर का विवर्तन नहीं किया जा सकता है। आय कर व्यक्तिगत आय पर लगाया जाता है तब उसके विवर्तन की कोई सम्भावना नहीं रहती है। इसके बाद व्यावसायिक आय कर की स्थिति में अर्थशास्त्री एक मत नही है। मुख्यतः दोनों प्रकार की आय कर की स्थिति में कर–विवर्तन को सम्भव नहीं बनाया जा सकता है।
2. **बिक्रीकर एवं उत्पादन कर** : बिक्रीकर तथा उत्पादन कर की स्थिति में कर के विवर्तन को सम्भव किया गया है। इसके साथ कर को विवर्तन की मात्रा वस्तु एवं सेवा की मांग व पूर्ति लोच के आधार पर तय की जाती है। कर लगने से वस्तु या सेवा की कीमत वृद्धि होती है जिसे उपभोक्ताओं से वसूलने का प्रयास किया जाता है। यदि मांग की कीमत लोच बेलोचदार है तो कर का विवर्तन उपभोक्ताओं की ओर होगा और करापात उपभोक्ताओं पर ही पड़ेगा। लोचदार मांग की स्थिति में करापात का विवर्तन पूर्ण रूप से उपभोक्ताओं पर नहीं किया जा सकता है। इसके विपरीत पूर्ति लोच लोचदार है कर का विवर्तन उपभोक्ता की ओर होगा तथा पूर्ति लोच बेलोचदार होने पर का विवर्तन नहीं किया जा सकता है।
3. **गृह कर** : गृह कर की स्थिति में कर का विवर्तन हो सकता है और नहीं भी हो सकता। यदि घर में गृह मालिक का परिवार ही निवास करता है तो कर का भार गृह स्वामी को ही वहन करना होगा तथा कर का विवर्तन नहीं किया जा सकता है। जब घर में मकान मालिक के साथ किराये दार भी रहते हैं तो कर का भार मकान मालिक व किरायेदार पर संयुक्त रूप से पड़ेगा क्योंकि कर भार का एक अंश किराये के रूप में वृद्धि कर दी जायेगी। ठीक इसके विपरीत यदि मकान में केवल किरायेदार ही निवास करते हैं तो गृह कर का पूर्ण विवर्तन कर दिया जायेगा तथा करापात किरायेदार पर ही पड़ेगा।
4. **सीमा शुल्क** : आयात एवं निर्यात किये जाने वाले माल एवं सेवाओं की कीमत लोच के आधार पर करों का विवर्तन किया जा सकता है। यदि आयात होने वाले सामान की मांग व पूर्ति बेलोचदार है तो कर का विवर्तन नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार निर्यात होने वाली वस्तु की मांगलोच बेलोचदार है तो कर का विवर्तन किया जा सकता है। यदि निर्यात की स्थानान्पन्न वस्तुएँ उपलब्ध हैं तो कर का भार निर्यातक को ही करना होगा।
5. **भूमि कर** : भूमि कर की स्थिति में कर का विवर्तन किया भी जा सकता है तथा नहीं भी किया जा सकता है। यदि कर की स्थिति में किसान अपनी फसल की कीमत बढ़ाने में सफल होता है तो कर का विवर्तन कृषि उत्पादन को खरीदने वालों पर किया जा सकता है। यदि कर को मात्रा का निर्धरण आर्थिक लगान पर लगाया जाता है तो कर का विवर्तन नहीं किया जा सकता है तथा कर का

टिप्पणी

भार भू–स्वामी को ही सहन करना होगा। इसके साथ कृषि उत्पादन की मांग की लोच के आधार कर का विवर्तन किया जा सकता है। यदि उत्पादन की मांग की लोच बेलोचदार है तो कर का विवर्तन आसानी से किया जा सकता है तथा उत्पादन की मांग लोच इकाई से अधिक है तो कर का भार किसानों को ही वहन करना होगा। कर का विवर्तन नहीं किया जा सकता है।

6. **सम्पत्ति कर** : सम्पत्ति कर की स्थिति में कर विवर्तन की स्थिति आसान नहीं है। सामान्य रूप से कर का भार सम्पत्ति मालिक को ही सहन करना पड़ता है। यदि सम्पत्ति का प्रत्यक्ष रूप से उपभोग किया जा सकता है तो सम्पत्ति कर का विवर्तन उपभोक्ताओं पर किया भी जा सकता है। इसके साथ यदि सम्पत्ति का प्रयोग उत्पादन कार्य में किया जाता है तो उत्पादन की मांग एवं पूर्ति की लोच के आधार पर कर का विवर्तन किया जा सकता है।
7. **लाभ कर** : लाभ कर की स्थिति में भी करों का भार व्यावसायिक निगमों के मालिकों को ही सहन करना पड़ता है। क्योंकि यह कर आय कर के ही समकक्ष रखा जाता है। अतः लाभ कर का विवर्तन करना सम्भव नहीं होता है।

प्रत्यक्ष कर

कर एक अनिवार्य अंशदान है जो करदाता को कर के बदले में प्रत्यक्ष लाभ का कोई आश्वासन नहीं दिया जाता है। जब किसी कर का करापात और करों का भार एक ही व्यक्ति पर पड़ता है, तो वह करें प्रत्यक्ष कर कहलाता है। प्रत्यक्ष कर कहलाता है। प्रत्यक्ष कर जिस व्यक्ति कर लगाए जाते हैं, उसका भुगतान उसी व्यक्ति द्वारा किया जाता है। करदाता उसका भार दूसरों पर नहीं टाल सकता है। करों का उपयोग सार्वजनिक हित में किया जाता है।

प्रत्यक्ष कर की परिभाषाएं

कर की प्रमुख परिभाषाएं निम्नलिखित हैं–

डा. डाल्टन "कर किसी सार्वजनिक सत्ता द्वारा लगाया हुआ एक अनिवार्य अंशदान है, चाहे इसके बदले में करदाता को उसकी सेवाएं प्रदान की गयी हो अथवा नहीं। यह कर किसी कानूनी अपराध की संज्ञा के रूप में नहीं लगाया जाता है।"

प्रो. टेलर– "वे अनिवार्य भुगतान जो सरकार को बिना किसी प्रत्यक्ष लाभ की आशा में करदाता द्वारा दिए जाते हैं कर हैं।"

फिण्डले शिराज कर सरकारी अधिकारी द्वारा वसूल किए जाने वाले वे अनिवार्य अंशदान हैं जो सार्वजनिक व्यय को पूरा करने के लिए वसूल किए जाते हैं और जिनका किसी विशेष लाभ से कोई सम्बन्ध नहीं होता।

अतः एक अच्छी कर प्रणाली के लिए आवश्यक है कि उसमें करारोपण के आधारभूत सिद्धांतों जैसे– समानता, निश्चितता, मितव्ययिता, सुविधा, लोच, उत्पादकता आदि गुणों का होना आवश्यक है।

प्रो. जॉन स्टुअर्ट मिल– "प्रत्यक्ष कर उन्हीं व्यक्तियों से लिया जाता है जिनसे उन्हें लेने का सरकार को उद्देश्य है।"

प्रो. डाल्टन– "प्रत्यक्ष कर का भुगतान वास्तव में वही व्यक्ति करता है जिस पर यह वैधानिक रूप से लगाया जाता है।"

प्रो. जे.के. मेहता– "प्रत्यक्ष कर वह कर है जो पूर्णरूपेण उस व्यक्ति द्वारा चुकाया जाता है जिस पर वह लगाया जाता है।"

जोजेफ हिक्स में उदासीनता वक्रों की सहायता से यह समझाने का प्रयास किया है कि एक समानुपातिक आय कर के लगाने पर उपभोक्ता एक वस्तु पर लगाए गए विशिष्ट कर की अपेक्षा एक ऊंचे उदासीनता वक्र पर रहता है। अतः इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष कर के द्वारा उपभोक्ता से विशिष्ट कर के बराबर धन अपेक्षाकृत कम त्याग के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। आय कर, उत्तराधिकार कर, निगम कर, मृत्यु कर, उपहार कर, कृषि आय कर आदि प्रत्यक्ष कर के उदाहरण हैं।

प्रत्यक्ष कर के गुण/लाभ

प्रत्यक्ष कर के गुणों का हम निम्नलिखित रूप से अध्ययन कर सकते हैं–

(i) नागरिक चेतना– प्रत्यक्ष कर नागरिक स्वयं जमा करता है तथा स्वयं ही उसका भार वहन करता है। इस कारण वह जानने का प्रयास करता है कि दिए गए कर का उपयोग सार्वजनिक हित के कार्यों में हो रहा है अथवा नहीं। इस प्रकार कर का भुगतान करने के पश्चात् व्यक्ति में आदेश नागरिकता एवं कर्त्तव्यपरायणता की भावना जागृत होती है।

(ii) समानता– प्रत्यक्ष कर प्रगतिशील होते हैं। ये कर धनी व्यक्तियों पर अधिक मात्रा में तथा निर्धन वर्ग पर कम मात्रा में लगाए जाते हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष कर आर्थिक असमानता समाप्त कर समाज में समानता लाने का प्रयास करते हैं।

(iii) न्यायपूर्ण– प्रत्यक्ष कर न्यायपूर्ण होते हैं क्योंकि ये कर व्यक्तियों की करदान क्षमता के आधार पर लगाए जाते हैं। इन करों का भरा धनी वर्ग पर अधिक तथा निर्धन पर कम पड़ती है। प्रत्यक्ष कर की दरें बहुधा प्रगतिशील होती है।

(iv) निश्चितता– प्रत्यक्ष करों में निश्चितता का गुण पाया जाता है क्योंकि इन करों को वसूल करने में राज्य को अधिक व्यय नहीं करना पड़ता है।

(v) उत्पादकता– प्रत्यक्ष कर उत्पादक होते हैं। करों की मात्रा में थोड़ी सी वृद्धि से ही अधिक आय प्राप्त हो जाती है जिसका उपयोग देश के आर्थिक विकास में किया जा सकता है।

(vi) मितव्ययी एवं लोचदार– प्रत्यक्ष करों में मितव्यता पाई जाती है क्योंकि इन करों को वसूल करने में राज्य को अधिक व्यय नहीं करना पड़ता है। प्रत्यक्ष कर का एक विशेष गुण भी है कि यह कर लोचदार होता है। सरकार इन करों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर सकती है।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि प्रत्यक्ष कर बहुत लाभकारी है, किंतु इसके साथ–साथ प्रत्यक्ष करों में कुछ दोष भी पाए जाते हैं।

प्रत्यक्ष करों के दोष– प्रत्यक्ष कर जहां लाभकारी सिद्ध हुए वहां इन करों में कुछ दोष भी देखने को मिलते हैं। जिनका विवरण निम्नलिखित है–

टिप्पणी

(i) प्रत्यक्ष करों की दरें सरकार स्वेच्छापूर्वक निर्धारित करती है। इन करों के निर्धारण में किसी प्रकार का वैधानिक आधार नहीं होता है। राज्य या सरकार द्वारा कभी–कभी उच्च करारोपण से उद्योग–धंधे बंद हो जाते हैं तथा उच्च करों की दर से प्रभावित होकर लोग अपनी आय में वृद्धि करना तथा उत्पादन कार्य बंद कर देते हैं।

(ii) प्रत्यक्ष कर असुविधाजनक व कष्टप्रद होते हैं। कर दाता को आय–व्यय का विवरण तैयार कर अधिकारी के सम्मुख रखना पड़ता है तथा उसे पूर्ण रूप से संतुष्ट करना पड़ता है। कर अधिकारी के संतुष्ट न होने पर करदाता को पर्याप्त असुविधा होती है।

(iii) प्रत्यक्ष करों में सबसे बड़ा अवगुण यह है कि व्यक्ति इन करों का भुगतान ईमानदारी के साथ नहीं करते हैं। समाज में अधिक आय वाले व्यक्ति या व्यापारी वर्ग झूठे हिसाब किताब बनाकर व अपनी आय कम प्रदर्शित करके करों से बचने का प्रयास करते हैं।

(iv) प्रत्यक्ष कर का भार सच्चे व ईमानदार व्यक्तियों पर अधिक पड़ता है क्योंकि बेईमान व्यक्ति झूठे हिसाब–किताब व रिश्वत द्वारा इन करों से बच जाते हैं। देखी अन्य लोग भी बचने का मार्ग ढूंढने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार से इन करों से बेईमानी व भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन मिलता है।

(v) प्रत्यक्ष कर सभी नागरिकों पर नहीं लगाए जाते हैं। एक निश्चित सीमा से कम आय वाले लोग इन करों से मुक्त होते हैं। नैतिक दृष्टि से यह उचित नहीं है। इस कर के कारण समाज धनी वर्ग एवं निर्धन वर्ग में विभक्त हो जाता है।

(vi) प्रत्यक्ष करों के सम्बन्ध में अधिकांश निर्णय अधिकारियों द्वारा लिए जाते हैं। निर्णयगत अधिकारीगण भ्रष्ट तरीके अपनाते हैं जिससे समाज में अफसरशाही का बोलबाला रहे।

(vii) प्रत्यक्ष करों से प्राप्त आय अधिकांशतः बहुत कम होती है। फलतः सार्वजनिक आय का थोड़ा सा अंश इन करों से प्राप्त होता है।

अतः निष्कर्ष रूप से यह कह सकते हैं कि प्रत्यक्ष करों के उपर्युक्त दोष प्रशासनिक कार्य प्रणाली के कारण है, सिद्धांतों के कारण नहीं। इन दोषों के बावजूद प्रत्यक्ष कर अत्यधिक लाभदायक माने जाते हैं।

अप्रत्यक्ष कर

अप्रत्यक्ष कर वे कर होते हैं जिनका करापात एक व्यक्ति पर तथा करापात का भुगतान या कर भार दूसरे व्यक्ति पर पड़ता है अर्थात् सरकार द्वारा कर जिस व्यक्ति पर लगाया जाता है, वह कर के भार को दूसरे व्यक्ति के ऊपर टाल देता है।

अप्रत्यक्ष कर/परोक्ष कर की परिभाषाएं

प्रो. डाल्टन– "परोक्ष कर एक व्यक्ति पर लगाया जाता है किंतु उसका भुगतान पूर्णतया या आंशिक रूप से किसी अन्य व्यक्ति द्वारा किया जाता है।"

प्रो. जे.एस.मिल– "परोक्ष कर किसी व्यक्ति से इस आशा से लिया जाता है कि वह इसे किसी दूसरे व्यक्ति से वसूल कर अपनी क्षतिपूर्ति करेगा।"

बिक्री कर, आयात–निर्यात कर, उत्पादन कर, मनोरंजन कर आदि अप्रत्यक्ष कर के उदाहरण हैं।

अप्रत्यक्ष करों के गुण– अप्रत्यक्ष करों के गुणों का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है–

(i) सामाजिक हित की दृष्टि से उत्तम– अप्रत्यक्ष कर सामाजिक लाभ की दृष्टि से उत्तम होते हैं क्योंकि सरकार करों की मात्रा में वृद्धि करके इस प्रकार की उपभोग वस्तुओं के प्रयोग को हतोत्साहित कर सकती है जिनका समाज पर कुप्रभाव पड़ता है, जैसे– शराब, गांजा, अफीम आदि मादक पदार्थों पर उच्च कर लगाकर इनके उपयोग को कम किया जा सकता है।

(ii) सुविधाजनक– अप्रत्यक्ष कर सुविधाजनक होते हैं, क्योंकि करदाता को कर का भुगतान करते समय इस बात का आभास नहीं होता कि वह कर का भुगतान कर रहा है। कर वस्तुओं एवं सेवाओं के मूल्य में ही सम्मिलित रहते हैं, अतः करदाता को इनका भार अनुभव नहीं होता है। सरकार के लिए भी ये सुविधाजनक रहते हैं, क्योंकि सरकार करों को उत्पादकों या व्यापारियों से प्रत्यक्ष रूप से सरलतापूर्वक प्राप्त कर लेती है।

(iii) न्यायपूर्ण– ये कर न्यायपूर्ण होते हैं, क्योंकि समाज का प्रत्येक व्यक्ति इन करों का भुगतान करता है। जो व्यक्ति अधिक वस्तुओं एवं सेवाओं का उपयोग करता, उसे अधिक कर देने पड़ते हैं। जो व्यक्ति वस्तुओं का कम प्रयोग करता है उसे कम कर देने पड़ते हैं। इस प्रकार ये कर प्रत्यक्ष कर की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ माने जाते हैं।

(iv) चोरी संभव नहीं– इन अप्रत्यक्ष करों की चोरी नहीं की जा सकती है क्योंकि ये कर वस्तुओं के मूल्य में सम्मिलित होते हैं। जब कोई उपभोक्ता वस्तुएं खरीदता है तो उसे ये कर आवश्यक रूप से देने पड़ते हैं। ये कर उत्पादकों एवं व्यापारियों द्वारा राजकोष में जमा किए जाते हैं।

(v) लोचदार– ये कर प्रत्यक्ष कर की अपेक्षा लचीला होता है। आवश्यक वस्तुओं पर कर थोड़ी सी वृद्धि करके सरकार अपनी आय में वृद्धि कर सकती है।

(vi) विस्तृत आधार– इनका आधार विस्तृत होता है क्योंकि इससे सरकार को अनेक स्रोतों से आय प्राप्त होती है। सरकार अनेक मदों पर थोड़ी–थोड़ी मात्रा में कर लगा कर, अधिक आय प्राप्त करने में सफल रहती है।

अप्रत्यक्ष कर के दोष– अप्रत्यक्ष करों के दोष निम्नलिखित हैं–

(1) **न्यायसंगत नहीं**– ये कर न्यायसंगत नहीं होते हैं। क्योंकि इन्हें प्राप्त करने के लिए आवश्यक वस्तुओं पर लगाये जाते हैं। जिस कारण इनका अधिकतम भार ग़रीबों पर पड़ता है।

(2) **अनिश्चितता**– इन करों से प्राप्त होने वाली आय अनिश्चित होती है। क्योंकि इनका ठीक ठाक पूर्वानुमान लगाना बड़ा कठिन होता है।

(3) **बेलोचता**– यदि इन करों को केवल विलासिता की वस्तुओं पर लगाया जाए तब भी इनमें लोचता का अभाव रहता है।

टिप्पणी

(4) **माँग का कम होना**– ऐसे कर वस्तुओं तथा सेवाओं पर ही लगा दिए जाते हैं इसलिए इससे वस्तुओं व सेवाओं की क़ीमत बढ़ जाती है। जिस कारण माँग में कमी आ जाती है। वस्तुओं की माँग में कमी आ जाने से बेरोज़गारी व आर्थिक अस्थिरता उत्पन्न होने लगती है।

(5) **अमितव्ययी**– इन करों के संग्रहण में बहुत ख़र्च होता है। जबकि इसके मुकाबले सरकार को इतनी आय प्राप्त नहीं हो पाती।

(6) **वितरण में असमानता**– चूँकि इन कारों का भार ग़रीबों पर अधिक पड़ता है। इसलिए इन करों से समाज में आय के वितरण की असमानता बढ़ जाती है।

(7) **नागरिक चैतन्यता का अभाव**– इन करों के भुगतान के समय करदाता को पता ही नहीं रहता कि वह कर अदा कर रहा है। इसीलिए इन करों से नागरिक चैतन्यता उत्पन्न नहीं होती हैं।

प्रत्यक्ष कर व अप्रत्यक्ष कर के मध्य सम्बन्ध

प्रत्यक्ष कर एवं परोक्ष करों का सम्बन्ध के विषय में विचारकों में मतभेद है। कुछ प्रत्यक्ष करों का समर्थन करते हैं कुछ अप्रत्यक्ष करों का। यह कहा जा सकता है कि ये एक दूसरे के विरोधी नहीं है, बल्कि एक दूसरे के पूरक हैं। किसी भी देश की अर्थव्यवस्था में इन दोनों प्रकार के करों में समन्वय होना नितान्त आवश्यक है।

प्रो. डाल्टन– "इस विचार के पक्ष में कि परोक्ष करों की तुलना में प्रत्यक्ष कर अधिक अच्छे हैं, कुछ व्यवहारिक बातों को छोड़कर कोई सैद्धान्तिक आधार नहीं है। आधुनिक समुदायों में अधिकांश प्रत्यक्ष करों का भुगतान निर्धनों की अपेक्षा धनिकों द्वारा अधिक होता है और अप्रत्यक्ष करों के सम्बन्ध में स्थिति इसके विपरीत है। यदि प्रत्यक्ष कर को सब व्यक्तियों पर समान व्यक्तिगत कर तक सीमित कर दिया जाए तथा केवल धनी व्यक्तियों द्वारा खरीदी जाने वाली वस्तुओं तक परोक्ष करारोपण सीमित कर दिया जाए। तो स्थिति पूर्णतः बदल जाएगी।"

प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष करों के मध्य सम्बन्ध में ग्लैडस्टन बताते हैं– "मैं प्रत्यक्ष व परोक्ष करों के विषय में इसके अतिरिक्त और कुछ सोच नहीं सकता कि मैं उनको दो आकर्षक बहनों के समान मान लें जो लंदन के सुंदर संसार से आई है। दोनों ही विपुल भाग्यशाली हैं। दोनों के माता–पिता एक हैं, मेरा विश्वास है कि दोनों माता–पिता आवश्यकता व आविष्कार है। इन दोनों में अंतर केवल इतना है जितना कि दो बहनों में होता है।

प्रत्यक्ष कर व परोक्ष कर एक दूसरे के पूरक हैं। प्रत्यक्ष करों के दोषों को परोक्ष करों के द्वारा तथा परोक्ष करों के दोषों को प्रत्यक्ष करों द्वारा दूर किया जा सकता है।

प्रो. डी. मार्को का मत है– "कि प्रत्यक्ष व परोक्ष कर एक दूसरे के पूरक हैं तथा प्रत्यक्ष करारोपण द्वारा उत्पन्न घर्षणात्मक प्रभाव को परोक्ष करों द्वारा दूर किया जा सकता है। मार्को का विचार है कि प्रत्यक्ष करों के भुगतान में कर दाता को तीव्र मानसिक कष्ट होता है, क्योंकि प्रत्यक्ष कर के रूप में जो धनराशि करदाता द्वारा दी जाती है उसका करदाता को प्रत्यक्ष लाभ प्राप्त नहीं होता है, इसलिए व करों की चोरी करने का प्रयास करता है परंतु अप्रत्यक्ष करों से कोई भी नहीं बच सका। उसे इन करों का भुगतान अवश्य ही करना पड़ेगा। इस प्रकार प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष कर एक दूसरे के

विरोधी न होकर पूरक हैं। प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार के करों का उद्देश्य सरकार को आय प्राप्त कराना है। अतः सरकार को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों प्रकार के करों से आय प्राप्त करनी चाहिए। दोनों प्रकार के करों द्वारा सरकार की आय का प्रवाह निरंतर बना रहता है जिसके माध्यम से राष्ट्र का आर्थिक विकास एवं जन कल्याणकारी कार्य सम्पन्न किए जाते हैं।

उपर्युक्त व्याख्या यह स्पष्ट कर रही है कि ये दोनों प्रकार के करों का उद्देश्य एवं कार्य समान है, अतः हम इन्हें एक दूसरे के विरोधी न कहकर पूरक कह सकते हैं।

प्रत्यक्ष व परोक्ष कर में अंतर

प्रत्यक्ष कर जिस व्यक्ति पर लगाया जाता है उसका भुगतान उसी व्यक्ति द्वारा किया जाता है। करदाता उसका भार दूसरों पर नहीं डाल सकता है। इस पर प्रो. डाल्टन का कहना "प्रत्यक्ष कर का भुगतान वास्तव में वही व्यक्ति करता है जिस पर वह वैधानिक रूप से लगाया जाता है।"

अप्रत्यक्ष कर वे कर होते हैं जिनका कराधान एक व्यक्ति पर तथा कराधान भुगतान या कर भार दूसरे व्यक्ति पर पड़ता है अर्थात् कर जिस व्यक्ति पर लगाया जाता है, वह कर के भार को दूसरे व्यक्ति के ऊपर लाद देता है। अप्रत्यक्ष कर के विषय में प्रो. डाल्टन का कहना है कि अप्रत्यक्ष कर एक व्यक्ति पर लगाया जाता है किंतु उसका भुगतान पूर्णतया या आंशिक रूप से किसी अन्य व्यक्ति द्वारा किया जाता है।

दोनों करों के मध्य में अंतर को हम निम्न तालिका द्वारा समझ सकते हैं–

प्रत्यक्ष कर	अप्रत्यक्ष कर / परोक्ष कर
(i) इन करों का भार प्रायः उच्च वर्ग पर पड़ता है।	(i) इन करों का भार अधिकांश रूप से मध्यम व निर्धन वर्ग पर पड़ता है।
(ii) प्रत्यक्ष करों के सम्बन्ध में करदाता को यह पता रहता है कि वह अपनी आय का कितना भाग कर के रूप में चुका रहा है।	(ii) परोक्ष करों के सम्बन्ध में करदाता को यह मालूम नहीं होता है कि वह अपनी आय का कितना भाग कर के रूप में दे रहा है।
(iii) प्रत्यक्ष कर जिस व्यक्ति पर लगाए जाते हैं, उसका भुगतान उसी व्यक्ति द्वारा किया जाता है। करदाता उसका भार दूसरों पर नहीं डाल सकता।	(iii) इसका भुगतान एक व्यक्ति द्वारा और भार दूसरे व्यक्ति द्वारा वहन किया जाता है।
(iv) ये कर आय और सम्पत्ति पर लगाए जाते हैं।	(iv) ये कर वस्तुओं और सेवाओं के क्रय–विक्रय पर लगाए जाते हैं।
(v) इनकी प्रगतिशील प्रकृति आय और धन के वितरण में समानता लाती है।	(v) इनकी प्रगतिशील प्रकृति आय और धन के वितरण की असमानताओं को बढ़ाती है।
(vi) जब किसी कर का कराघात और करों का भार एक ही	(vi) अप्रत्यक्ष कर में कराघात एक व्यक्ति पर तथा कर का भार दूसरे व्यक्ति पर

टिप्पणी

व्यक्ति पर पड़ता है तो वह प्रत्यक्ष कर कहलाता है।	पड़ता है अर्थात् कर जिस व्यक्ति पर लगाया जाता है, वह कर के भार को दूसरे व्यक्ति के ऊपर टाल देता है।
(vii) इनके भार का विर्तन नहीं हो सकता है।	(vii) इनके भार का पूर्ण या आंशिक विवर्तन हो सकता है।
(viii) प्रत्यक्ष कर परोक्ष करों के पूरक होता है।	(viii) परोक्ष कर प्रत्यक्ष करों के पूरक होते हैं
(ix) प्रत्यक्ष कर की मुख्य समस्या करों की चोरी है।	(ix) परोक्ष करों की मुख्य समस्या कर भार को दूसरों के ऊपर टालने की है।
(x) करों की मात्रा आय व सम्पत्ति पर निर्भर करती है।	(x) करों की मात्रा किसी उपभोक्ता के उपभोग मात्रा पर निर्भर करेगी।

जब कर नीति का प्रमुख उद्देश्य निजी और सार्वजनिक विनियोग को प्रोत्साहन देना होता है तो कर के ढांचे को पाश्चात्य अर्थव्यवस्थाओं के लिए विकसित किए गए कराधान के कुछ परम्परागत नियमों से थोड़े भिन्न सिद्धांतों की पूर्ति करनी होती है। जैसा कि श्रीमती हिक्स ने कहा है– "यह तो स्वाभाविक है कि विकास की आवश्यकताओं को पूरा करने वाले कर के ढांचे की रूपरेखा एक परम्परागत अल्पविकसित देश में हमारे जैसी काफी आधुनिक अर्थव्यवस्था की अपेक्षा बहुत भिन्न होगी।"

5.2.2 प्रशुल्क एवं उत्पाद शुल्क

प्रशुल्क नीति से हमारा अभिप्राय किसी देश के आयात व निर्यात पर लगाए जाने वाले करों के सम्बन्ध से है। प्रशुल्क नीति में सामान्यतः आयात करों की नीति होती है किंतु फिर भी कभी–कभी निर्यात कर भी लगाए जाते हैं। ये कर राज्य के लिए आय प्राप्त करने के उद्देश्य से लगाए जाते हैं या घरेलू उद्योगों की विदेशी प्रतियोगिता से रक्षा करने तथा उनका विकास करने के उद्देश्य से लगाया जाता है। जब किसी देश में आयात–निर्यात पर कोई कर नहीं लगाया जाता या केवल राज्य के लिए आय प्राप्त करने के लिए कर लगाए जाते हैं तो हम उस देश की प्रशुल्क नीति को मुक्त व्यापार की नीति कहते हैं और जब घरेलू उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से बचाकर उनका विकास करने के उद्देश्य से आयात करों का प्रयोग किया जाता है तो प्रशुल्क नीति को संरक्षण नीति की संज्ञा दी जाती है। 1896 में जोजफ चैम्बरलेन ने कहा था कि "साम्राज्य हमारा व्यापार ही है।" हालांकि कई बार औपनिवेशिक सरकार के बढ़ते खर्चों के दबाव में बजट और वित्त के घाटे से निपटने के लिए अस्थायी सीमा शुल्क जरूर लगाए लेकिन यह कोई स्थायी कदम नहीं था। यह राजस्व इकट्ठा करने के लिए किया जाता था और बाद में वित्तीय घाटा पूरा होने पर आयात–शुल्क भी हटा दिया जाता था। 20वीं सदी में राष्ट्रवादी आंदोलन के दबाव में तथा अन्य तात्कालिक कारणों से अंग्रेज सरकार की मुक्त व्यापार की नीति का अंत हो गया।

19वीं सदी के कर– इंग्लैण्ड ने औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् भारत में ब्रिटिश आर्थिक नीति के उद्देश्य भारत से सस्ता कच्चा माल प्राप्त करना और भारत के विस्तृत बाजार को ब्रिटिश उद्योगों के तैयार माल के लिए सुरक्षित रखना था। अतएव उन्होंने ब्रिटिश

परम्परा के अनुकूल भारत में भी मुक्त व्यापार की नीति को अपनाया। सन् 1882 से 1895 तक तो आयात–निर्यात करों का प्रयोग बिल्कुल नहीं किया गया लेकिन बाद में सरकार की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए 1894 में सूती माल पर 5% आयात लगाया गया। रेशमी कपड़ों पर 20%, ऊनी कपड़ों पर 30% की दर से आयात शुल्क इंग्लैण्ड में प्रवेश पाने के लिए देना पड़ता था। 1848 में इंग्लैण्ड से आने वाले औद्योगिक पदार्थों पर जिनमें सूती कपड़े भी शामिल थे। यही आयात शुल्क गैर ब्रिटिश आयातों पर दुगनी दर पर लगाया गया था। यह कदम ब्रिटिश सरकार का अपनी औपनिवेशिक मंडी पर नियंत्रण स्थापित करने का तरीका था। 1859 तक आयात शुल्क की यही दरें बनाए रखी। 1857–59 के बीच ब्रिटिश सरकार को 1857 के विद्रोह को दबाने के लिए सैन्य खर्चे करने पड़े थे। 1859 में सामान्य आयात शुल्क 5% से बढ़ा कर 10% कर दिया गया और आयात किए जा रहे सूत पर आयात शुल्क 3.5% से बढ़ाकर 5% कर 1860 में धागे और सूत पर भी आयात शुल्क की दरें बढ़ाकर 10% कर दी गयी, लेकिन 1862 तक आते–आते जब सरकार की वित्तीय स्थिति जब सुधरी तो पुनः सूती कपड़ों पर आयात शुल्क 5% तथा सूत पर 3.5% कर दिया गया।

लोहे और इस्पात के आयात पर आयात शुल्क 10% से कम करके 1% कर दिया। इस समय इंग्लैण्ड दुनिया को 3/4वां हिस्सा अकेले ही निर्यात कर रहा था और 1870–1885 तक इंग्लैण्ड लौह–इस्पात का सबसे बड़ा उत्पादन देश बन रहा था, इसलिए यह डर भी नहीं था दूसरे औद्योगीकृत राष्ट्र भारत की मंडियों पर कब्जा कायम करने की कोशिश करेंगे। 1870 के बाद उद्योगों की हालत सुधर रही थी। लेकिन इस समय लंकाशायर के उद्योगपतियों ने अपनी सूती कपड़ों पर लगाए जा रहे आयात शुल्क का विरोध करना शुरू किया। उनका तर्क था कि इससे पश्चिमी भारत विशेषकर बम्बई में अपने सूती कपड़ों पर लगाए जा रहे सूती मिल उद्योग को अनावश्यक संरक्षण मिला। 1874 में मैनचेस्टर चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स ने सैक्रेटरी ऑफ स्टेट, लार्ड सेलेसबरी का एक विज्ञापन दिया और इंग्लैण्ड से भारत को भेजे जा रहे सूती कपड़े पर आयात शुल्क हटाने की मांग की। सेक्रेटरी ऑफ स्टेट ने यह आश्वासन दिया कि धीरे–धीरे ये आयात कर हटा लिया जाएगा। 1877 में वायसराय नार्थब्रुक ने यह कह कर आयात शुल्क को हटाना टाल दिया कि इस समय वित्तीय मजबूरियां अधिक हैं। किंतु 1878 में लार्ड लिटन ने मोटे किस्म के सूती वस्त्रों पर ये आयात शुल्क समाप्त कर दिए। इससे भारतीय सूती मिलों पर बुरा असर पड़ा। 1882 में लार्ड रिपन ने 'मुक्त व्यापार' की नीति को लागू करने की घोषणा की, नमक तथा शराब को छोड़कर उन्होंने विदेशों से होने वाले आयतित माल पर आयात शुल्क बिल्कुल हटा दिया। जिससे ब्रिटिश सरकार को भारत में 12,19000 पाउंड का नुकसान हुआ। किंतु यह नुकसान ब्रिटिश उद्योगपतियों के हित में था, इसलिए यह नुकसान सह लिया गया।

1894 में सरकार के बजट में 3.5 करोड़ रुपये का घाटा हुआ, इस बजट के घाटे की पूर्ति करने के लिए राजस्व प्राप्ति के लिए सरकार ने 5% की दर से एक सामान्य आयात शुल्क सभी आयातों के ऊपर लगा दिया। लंकाशायर के पूंजीपतियों के हितों को ध्यान में रखते हुए सरकार ने 5% का एक उत्पादन शुल्क भी भारतीय सूती कपड़ों के उत्पादन पर साथ ही साथ लगा दी। 1896 में लंकाशायर के दबाव में आकर सरकार

टिप्पणी

ने सूती कपड़ों के आयात पर शुल्क घटा कर 3.5% करना पड़ा। भारतीय राष्ट्रवादी नेताओं ने देसी सूती मिलों पर लगाए गए उत्पादन शुल्क की तीखी आलोचना की।

आर.सी. दत्त ने कहा– 'इससे भारतीय सूती कपड़ों के निर्माताओं को चीन और जापान के साथ प्रतियोगिता करने में कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

सरकार ने 1896 में लंकाशायर से आयातित कपड़े पर लगाए गए आयात शुल्क के समतुल्य 3.5% कर दिया और स्पिनिंग मिलों से सूत उत्पादन पर शुल्क खत्म कर दिया इसके बाद प्रथम विश्व युद्ध तक सीमा शुल्क की नीति में कोई बदलाव नहीं लाया गया।

प्रथम विश्व युद्ध के समय और बाद में प्रशुल्क नीति

प्रथम विश्व युद्ध में कुछ ऐसे परिवर्तन हुए जिन्होंने सरकार को भारत के लिए संरक्षण नीति स्वीकार करने के लिए तैयार कर लिया। ये परिवर्तन निम्न प्रकार से थे–

(i) बढ़ती हुई आर्थिक आवश्यकता को पूरा करने के लिए प्रथम महायुद्ध के समय सरकार ने आयात कर 5% से 7½% कर दिया, लेकिन साथ में उत्पादन कर नहीं बढ़ाया। वैसे भी युद्ध के समय भारत में आयात कर घट गया। इस प्रकार भारतीय उद्योगों को पनपने का अवसर मिला किंतु पर्याप्त रूप से औद्योगिक विकास न होने के कारण युद्ध संचालन में कठिनाईयों होती थी और उन्हें स्वतंत्र व्यापार नीति की कमियां दिखाई देने लगी।

(ii) 1917 में मॉटेग्यू ने भारत को धीरे–धीरे स्वशासन प्रदान करने की प्रसिद्ध घोषणा की। स्वशासन के अंतर्गत स्वतंत्र व्यापार नीति अपनाने का अधिकार भी होता है। अतएव राजकोषीय स्वतंत्रता की परंपरा प्रारंभ की गई, जिसके अधीन केंद्रीय विधान सभा और गर्वनर जनरल की परिषद में सहमति होने पर भारत सचिव का प्रशुल्क सम्बन्धी मामलों में हस्तक्षेप बंद हो गया।

(iii) जब भारत में स्वदेशी आंदोलन बढ़ने लगा और अंग्रेजों की मुक्त व्यापार नीति की बड़ी निंदा होने लगी। जर्मनी, जापान आदि देशों ने संरक्षण की नीति का लाभ उठाकर अपनी औद्योगिक शक्ति काफी बढ़ा ली। इसलिए भारत सरकार पर भी मुक्त व्यापार नीति छोड़ने के लिए दबाव डाला जाने लगा।

उत्पाद शुल्क

वो शुल्क है जो देश में बने उत्पादों पर वसूला जाता है। देश में उत्पादित वस्तुओं पर जो कर लगता है, उसे उत्पाद शुल्क कर कहा जाता है।

"उत्पाद शुल्क" एक अप्रत्यक्ष कर है जो भारत में विनिर्माण की जाने वाली उन वस्तुओं पर लगाया जाता है जो घरेलू खपत के लिए होती हैं। कर 'विनिर्माण' पर लगाया जाता है और जैसे ही वस्तुओं का विनिर्माण हो जाता है केन्द्रीय उत्पाद शुल्क देय हो जाता है। यह विनिर्माण पर लगाया गया कर है जो विनिर्माता द्वारा अदा किया जाता है, जो अपना कर भार ग्राहकों पर डाल देते हैं। उत्पाद शुल्क योग्य वस्तुएं शब्द का अर्थ है वे वस्तुएं जिन्हें केन्द्रीय उत्पाद प्रशुल्क अधिनियम, 1985, से संलग्न पहली अनुसूची और दूसरी अनुसूची में उत्पाद शुल्क योग्य वस्तुओं के रूप में निर्दिष्ट किया गया है जिनमें नमक भी शामिल है।

उत्पाद शुल्क के प्रकार

उत्पाद शुल्क निम्न प्रकार के होते हैं–

- **बेसिक उत्पाद शुल्क** : बेसिक उत्पाद शुल्क वह शुल्क है जो केंद्रीय उत्पाद प्रशुल्क अधिनियम, 1985 से संलग्न पहली अनुसूची के तहत, इस अनुसूची में उल्लिखित दरों पर लगाया जाता है।
- **एडिशनल उत्पाद शुल्क** : एडिशनल उत्पाद शुल्क अतिरिक्त उत्पाद शुल्क (कपड़ा और कपड़ा वस्तुएं) अधिनियम, 1978 की धारा 3 के अधीन आता है।
- **स्पेशल उत्पाद शुल्क** : स्पेशल उत्पाद शुल्क ऐसा शुल्क होता है जोकि केंद्रीय उत्पाद प्रशुल्क अधिनियम, 1985 की दूसरी अनुसूची के अधीन आता है। यह उक्त अनुसूची में वर्णित दरों पर लगाया जाता है।
- **अतिरिक्त उत्पाद–शुल्क (कपड़ा और कपड़े की वस्तुएं)** : यह शुल्क अतिरिक्त उत्पाद–शुल्क (कपड़ा और कपड़े की वस्तुएं), 1978 की धारा 3 के तहत लगाया जाता है। यह कपड़े को विनिर्दिष्ट वस्तुओं पर देय आधारिक उत्पाद–शुल्क के पन्द्रह प्रतिशत की दर पर लगाया जाता है।

अतिरिक्त उत्पाद–शुल्क (विशेष महत्व की वस्तुएं) : यह शुल्क अतिरिक्त उत्पाद शुल्क (विशेष महत्व की वस्तुएं), 1957 के तहत इसकी पहली अनुसूची में उल्लिखित विनिर्दिष्ट वस्तुओं पर लगाया जाता है।

राष्ट्रीय आपदा प्रतिकारी शुल्क : इसे सामान्यतः एनसीसीडी के नाम से जाना जाता है। यह शुल्क वित्त अधिनियम, 2001 की धारा 136 के अनुसार निर्दिष्ट वस्तुओं पर अधिभार के तौर पर लगाया जाता है।

प्रकीर्ण अधिनियम के तहत लगाए जाने वाले उत्पाद–शुल्क और उप कर दृ कुछ विनिर्दिष्ट वस्तुओं पर उपर्युक्त शुल्कों के अलावा, निर्धारित दर पर उत्पाद शुल्क और उप कर भी लगाए जाएं।

उत्पाद शुल्क योग्य वस्तुओं पर लगाए जाने वाले किसी अन्य उत्पाद शुल्कों के अलावा इन वस्तुओं पर केंद्रीय उत्पाद शुल्क अधिनियम,1944 अथवा इस समय प्रवृत्त किसी अन्य नियम कानून के तहत शिक्षा कर लगाया जाता है।

राजकोषीय विभाग– 7 अक्टूबर, 1921 को सर इब्राहीम रहिमतुल्ला की अध्यक्षता में एक राजकोषीय विभाग की स्थापना इस उद्देश्य से की गयी कि उद्योग–धन्धों के विकास के लिए आवश्यक संरक्षण नीति लागू की जाए। इस आयोग का प्रमुख कार्य यह था कि सभी के हितों को ध्यान में रखकर भारत सरकार की प्रशुल्क नीति की जांच करे। साम्राज्यान्तर्गत अधिमान के सिद्धांत को अपनाने की आवश्यकता पर भी विचार करे और सिफारिशें करे। अपनी जांच के पश्चात् इस आयोग ने यह निष्कर्ष निकाला कि भारत देश के आकार, जनसंख्या व प्राकृतिक साधनों को देखते हुए औद्योगिक विकास बहुत कम हुआ। इस आयोग के अनुसार भारत के लिए विवेचनात्मक संरक्षण की नीति सर्वश्रेष्ठ है अर्थात् संरक्षण केवल उन उद्योगों को दिए जाने चाहिए जो कुछ शर्तों को पूरा करते हो। इसके लिए आयोग ने त्रि–सूत्री कसौटी तैयार की थी, जो निम्नलिखित है–

(i) उद्योग ऐसा हो जो या तो संरक्षण के बिना बिल्कुल भी न पनप सके या उतनी तेजी से न पनप सके जितने से इसका राष्ट्रीय हित में पनपना आवश्यक है।

(ii) संरक्षण चाहने वाले उद्योग को पर्याप्त प्राकृतिक साधन सुलभ होना चाहिए जैसे– पर्याप्त कच्चा माल, सस्ती शक्ति, पर्याप्त मात्रा में श्रम की पूर्ति और एक विस्तृत घरेलू बाजार। इन साधनों का सापेक्ष महत्व भिन्न–भिन्न उद्योगों में एक सा नहीं होगा लेकिन इनके महत्व को अच्छी तरह देखना होगा।

(iii) उद्योग ऐसा हो जो भविष्य में बिना संरक्षण के विदेशी प्रतिस्पर्द्धा का मुकाबला करे। इसका अभिप्राय यह हुआ कि संरक्षण स्थायी रूप से नहीं दिया जा सकेगा बल्कि अस्थायी रूप से दिया जाएगा।

विवेचनात्मक संरक्षण नीति की आलोचना

व्यवहार में यह नीति अनुदार व अनुचित प्रमाणित हुई। त्रि–सूत्री फार्मूला में सैद्धांतिक अस्पष्टता, विरोध व त्रुटियां बतलाई गई हैं। इस आलोचनाएं इस प्रकार हैं–

(i) पहली शर्त यह थी कि उद्योग ऐसा हो जो संरक्षण के बिना पनप न सके या तेजी से न बढ़ सके। किंतु यह शर्त वही उद्योग पूरी करेगा जिसको प्राकृतिक सुविधाएं नहीं हैं। अतः ऐसा उद्योग मिलना कठिन है जो एक साथ दोनों शर्तो को पूरा कर सके।

दूसरी शर्त प्राकृतिक सुविधाओं की थी, जो उस परिस्थिति में आवश्यक होता है जबकि उद्योग को कोई असुविधा हो संरक्षण से दूर हो जाए।

तीसरी शर्त के सम्बन्ध में कहा गया कि यह एक प्रकार की भविष्यवाणी है कि अमुक उद्योग भविष्य में अपने पैरों पर खड़ा हो ही जाएगा। इस शर्त को भी व्यवहार में लागू करना कठिन हो जाता है।

उपर्युक्त आलोचनायें पूर्णतः सही नहीं हैं। आलोचकों ने औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए देशों की समस्या को समझने की कोशिश नहीं की, क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि पिछड़े हुए देश में प्राकृतिक सुविधाएं होने पर भी यह आवश्यक नहीं है कि एक उद्योग अपने आप पनप सके। उस देश में औद्योगिक संगठन पिछड़ा हो सकता है। अतः संरक्षण मिलने पर ही प्राकृतिक सुविधाओं का लाभ उठाया जा सकेगा अन्यथा नहीं।

(ii) समस्त विश्लेषण के अनुसार यह स्पष्ट है कि शर्तों में कोई बड़ी सैद्धान्तिक कमी नहीं थी लेकिन व्यवहार में शर्तों का कड़ाई से एवं अनुदारतापूर्वक पालन किया जाना अनुचित था। यदि उद्योग को संरक्षण के लिए चुनते समय मोटे तौर पर विचार किया गया होता तो कोई हानि नहीं थी।

(iii) आयोग ने संरक्षण को आर्थिक विकास पर प्रभाव डालने के साधन के रूप में नहीं देखा, बल्कि कुछ उद्योगों को विदेशी प्रतिस्पर्द्धा से बचाने के साधन के रूप में देखा। यही नहीं बल्कि इसने उद्योगों के विकास के लिए विशेषतया आयात कर लगाने पर ही बल दिया। इसके अलावा संरक्षण प्राप्त उद्योगों की गतिविधि व प्रगति की जांच आदि की समुचित व्यवस्था नहीं की गई।

(iv) सरकार ने अस्थायी प्रशुल्क बोर्ड स्थापित किए जिससे प्रशुल्क नीति में नियमित्ता और समानता नहीं आ सकी और अनुभवों का लाभ नहीं हो सका। संरक्षण के

टिप्पणी

लिए प्रार्थना पत्र भारत सरकार के उद्योग विभाग को देना पड़ता था जिसे वह प्रारम्भिक जांच के आधार पर बिना प्रशुल्क बोर्ड के सामने रखे ही अस्वीकृत कर सकते थे।

(v) कुछ मामलों में तो आय के लिए लगाए गए आयात करों की ही रक्षा के लिए लगाए गए करों में बदल दिया गया। ऐसा करने में पूर्ण सफलता नहीं मिली।

विवेचनात्मक संरक्षण नीति की सफलताएं– उपर्युक्त आलोचनाएं स्पष्ट है किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि यह पूर्णतः विफल थी। यह प्रारंभिक प्रशुल्क नीति थी जिसका उपयोग विदेशी सरकार कर रही थी, यदि इन बातों को ध्यान में रखे तो कुछ सफलताएं स्वीकृत है–

(i) मंदी का प्रभाव कम– मंदी काल में संरक्षित उद्योग अपना विकास करने में सक्षम है और उन्होंने मंदी काल में भी अपना उत्पादन किया।

(ii) औद्योगिक उन्नति– 1924 में इस्पात उद्योग, 1927 में सूती वस्त्र उद्योग, 1930 में चीनी उद्योग, 1925 में कागज, 1932 में माचिस उद्योग ने काफी प्रगति की थी। 1947, 1950, 1947 में संरक्षण समाप्त कर दिया गया। चीनी उद्योगों को छोड़कर शेष उद्योगों की उत्पादन लागत भी काफी कम हो गयी, परंतु इसी नीति के अधीन सीमेंट, कांच और कोयला जैसे कई उद्योगों को संरक्षण नहीं दिया गया। सरकार ने आयात करों के रूप में संरक्षण दिया और लोहा तथा इस्पात उद्योग को छोड़कर अन्य उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करना स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार तटकर संरक्षण का कार्य बहुत संकुचित हो गया।

(iii) सहायक उद्योगों का विकास– लोहे के उद्योग ने अपने उद्योग जैसे– टिन प्लेट, तार, इंजीनियरिंग, कृषि औजार आदि के पनपने का अवसर दिया। कागज उद्योग के कारण उद्योग उन्नत हुआ। सूती कपड़े के उद्योग के कारण स्टार्च उद्योग को प्रोत्साहन मिला आदि।

इस प्रकार संरक्षण नीति जो दोनों महायुद्धों के मध्य में भी चलती रही और अपने सीमित क्षेत्र में पर्याप्त सफल रहे। नवम्बर, 1945 को अंतरिम प्रशुल्क बोर्ड किया गय, जो मात्र 2 वर्ष के लिए नियुक्त था और पहले बोर्ड की तुलना में अब ज्यादा अधिकार थे।

5.2.3 मौद्रिक नीतियां

इस काल में भारत को रजत मान, सुवर्ण विनिमय मान सुवर्ण बुलियन मान और स्टलिंग विनिमय मान का अनुभव हो चुका है। इस सम्पूर्ण काल में भारतीय जनसाधारण की ओर से करेंसी के रूप में स्वर्ण मुद्रा के परिचालन के साथ पूर्ण विस्तृत मान की गुप्त रूप से मांग रही है। कभी–कभी सरकारी अफसर भी इसका समर्थन करते थे। मध्यकाल में उत्तरी भारत में चांदी के रुपये और सोने की मुहरों की मुद्रा का चलन था और दक्षिण में सोना मुख्य मुद्रा थी। इसके अतिरिक्त ईस्ट इण्डिया कंपनी का प्रादुर्भाव होने तक, देश के विभिन्न भागों में अनेक प्रकार की मुद्राओं का प्रचलन था। साथ ही साथ व्यापार के हित में उनकी इच्छा थी कि एक सांक्षी मुद्रा के तरीकों को जारी किया जाए और उसी के फलस्वरूप 1835 का एक्ट स्वीकार किया। उसी काल में स्वर्ण में चांदी की कीमत गिर जाने से 1874 के बाद रजत मान की कार्य प्रणाली में कठिनाइयां पैदा होने लगी। चूंकि रुपया पूर्व रजत मुद्रा में उदारतापूर्वक टकसालों में घड़ा जाता

टिप्पणी

था, इस कारण स्वर्ण के बदले में इसका मूल्य चांदी की स्वर्ण कीमत में गिरावट के साथ ही गिर गया। 1880 में अंत होने वाले औसत पांच वर्षों में चांदी की कीमत 53 पैसे प्रति औंस से गिरकर 1893 में 39 पैसे प्रति औंस हो गई और उसी काल में रुपयों का विनिमय दर 20.5 पैसे से गिर कर 14.9 रह गया।

चांदी की कीमत गिर जाने का आंशिक कारण यह था कि तो उसकी पूर्ति अधिक थी और दूसरे उसकी मांग में संकुचन हो गया था, अतिरिक्त कारण यह था कि सोने का उत्पाद कम था और दूसरी ओर यूरोपीयन देशों ने चांदी की जगह सोने की मुद्रा को अपनाया और इस कारण इस धातु की मांग बढ़ गई थी। चांदी की कीमत गिर जाने के भीषण परिणाम हुए। आयात निर्यात को क्षति पहुंची क्योंकि स्टालिंग में आयात का मूल्य चुकाने के लिए चांदी के रुपये अधिक परिमाण में दरकार होते थे। भारत स्थित यूरोपीय अधिकारी इंग्लैण्ड में अपने स्टलिंग के भुगतानों में हुई क्षति को पूरा करने के लिए रियायतें मांगते थे किंतु सबसे बड़ी समस्या जो भुगतानों के सम्बन्ध में उत्पन्न हुई थी, वह थी घरेलू भुगतान की समस्या। जो भारत को इंग्लैण्ड को चुकाने होते थे।

1893 में लार्ड हैरशैल की अध्यक्षता में एक कमेटी गठित की गई जिसमें यह सिफारिश की गई कि सोने और चांदी की मुफ्त में घड़ने वाली टकसाले बंद की जाए। 1893 में मुद्रा टंकन कानून द्वारा यह तय किया गया कि रजत (चांदी) मान का अंत हो जाए।

स्वर्ण मुद्रा मान– हैरशैल कमेटी ने यह रिपोर्ट दी थी कि "रुपये की मुफ्त मुद्रा बनाने की टकसालों का अंत करने के साथ ही घोषणा होनी चाहिए कि यद्यपि टकसालें जनता के लिए बंद है, तथापि सरकार सोने के विनिमय में रुपए के घड़ने के लिए उन टकसालों का प्रयोग करेंगी और उनका अनुपात 1 शिलिंग 4 पैसे प्रति रुपये होगा और सरकारी खजाने सार्वजनिक दायित्वों के निमित्त उसी कीमत पर सोना वसूल करेंगे। चूंकि रुपये की अधिकता थी, इसलिए 1 शिलिंग 4 पैसे की कीमत तक पहुंचने में उसे समय लगा। 23 जनवरी, 1895 को भारतीय विनिमय 1 शिलिंग 31/32 पैसा हुआ और इसके बाद बढ़ता हुआ 1 शि. 4 पै. के कानूनी अनुपात तक पहुंच गया। 1818 में एक एक्ट पास किया गया जिसके द्वारा करेंसी नोटों को जारी करने का अधिकार दिया गया, ये करेंसी नोट उस सोने के बदले में चालू होते थे जो राज्य सचिव इंग्लैण्ड में वसूल करता और उसकी दर एक रुपये के बदले 7.53344 ग्रेन विशुद्ध सोना था। यह सोना भारतीय कागज मुद्रा के संरक्षण के रूप में अंशतः बैंक ऑफ इंडिया में रखा जाना था।

करेन्सी सुधार– 1893–98 में करेन्सी सुधार का उद्देश्य यह था कि–

(i) भारत के लोगों को सहज ही सोने के प्रयोग से परिचित कराना।

(ii) स्वर्ण कीमत में रुपये के मूल्य को और अधिक घटने से रोकना।

(iii) रुपये पौंड पावना के अनुपात को 1 शि. 4 पै. प्रति रुपये पर स्थिर करना।

फाउलर कमेटी– इस कमेटी का मानना था कि चांदी के सिक्कों की टकसाल पुनः जारी की जाए किंतु इस मांग को रद्द कर दिया गया। लैस्ली प्रोबीन और लिण्डसे ने एक योजना प्रस्तावित की, इसी योजना के तहत आगे चलकर भारतीय मुद्रा की प्रगति हुई। इन योजना का लक्ष्य सोने की बचत करना था। किंतु कमेटी ने इसे खारिज

कर दिया। कमेटी ने इन योजनाओं के स्थान पर स्वर्ण चलअर्थ के साथ भारत में अंतिम रूप से स्वर्णमान की स्थापना की। इसके लिए निम्नलिखित प्रस्ताव किए गए–

(i) भारतीय टकसालों को बिना किसी प्रतिबंध के सोने की सावरेनो को प्रकार ढालने के लिए स्वतंत्रता दी जाए जिस प्रकार शाही टकसाल में आस्ट्रेलिया की तीन शाखाओं को स्वतंत्रता दी गई।

(ii) ब्रिटिश स्वर्ण मुद्रा तथा अर्द्ध–स्वर्ण मुद्रा को भारत में विधिग्राह्य तथा प्रचलित मुद्रा बना दिया जाए।

(iii) रुपए की मुद्रा ढालने पर कुछ प्रतिबंध लगाकर उसको असीमित विधिग्राह्य बना दिया जाए।

(iv) विनिमय दर को स्थायी रूप से एक शिलिंग 4 पेंस की दर पर स्थिर कर दी जाए।

(v) जब भी विनिमय दर स्वर्ण निर्यात बिंदु से नीचे जाने लगे तो रुपये के बदले में सुरक्षित कोष में से सोना स्वतंत्रतापूर्वक दिया जाए।

(vi) रुपए के सिक्के ढालने से होने वाले लाभ को एक पृथक निधि में रखकर उस निधि का नाम स्वर्णमान सुरक्षा कोष रखा जाए।

(vii) रुपए के नए सिक्कों को ढालना तब तक के लिए बंद कर दिया जाए, जब तक बाजार में पड़े हुए सोने का भाव उचित अनुपात में ऊपर न चढ़ जाए।

प्रारम्भ में तो इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया गया किंतु ब्रिटिश कोष द्वारा परिभाषिक कठिनाईयां उपस्थित करने के कारण इस योजना को छोड़ना पड़ा।

हिल्टन यंग कमीशन– 25 अगस्त, 1925 को भारत सरकार ने हिल्टन यंग कमीशन को नियुक्त किया। इस कमीशन स्वर्ण विनिमय मान की जांच करके भारत के लिए उपयुक्त मुद्रा प्रणाली के लिए सुझाव देना, भारतीय मुद्रा पद्धति तथा भारतीय बैंकिंग से किस प्रकार सम्बन्ध स्थापित करना है, यह बताना था। इस कमीशन ने निम्न तीन प्रकार के सुझाव दिए–

(i) भारत के लिए उपयुक्त मुद्रा प्रणाली

(ii) विनिमय दर

(iii) एक केंद्रीय बैंक की स्थापना

भारत के लिए उपयुक्त मुद्रा प्रणाली

इस कमीशन ने विनिमय मान की जांच करके यह बताया कि भारतवर्ष में इस मान के कार्य करने के ढंग से निम्नलिखित दोष पाए जाते थे–

(i) कहने के लिए इस पद्धति में रुपए और सोने में सम्बन्ध था पर व्यवहार में ऐसा नहीं था।

(ii) यह मुद्रा पद्धति सरल नहीं थी।

(iii) इसको संचालन में बहुत अधिक सरकार हस्तक्षेप की आवश्यकता थी।

(iv) इस विधि अधिक जटिल होने के कारण यह पढ़े–लिखों की भी समझ से परे थी।

(v) इसमें दो स्थानों पर स्वर्णकोष रखना पड़ता था– एक इंग्लैण्ड में स्वर्णकोष रखना दूसरा भारतवर्ष में कागजी द्रव्य कोष रखना।

टिप्पणी

(vi) इस मान का ठीक प्रकार से चलना चांदी के मूल्य पर निर्भर था। जब तक चांदी के दाम 43 पैसे औंस से कम रहे, यह कार्य करता रहा, जब चांदी के दाम उससे ऊपर चले गए तो वह न चल सका।

(vii) जिस उद्देश्य के लिए स्वर्णकोष रखा गया था। उसके लिए खर्च नहीं किया गया, वरन् उसे दूसरे कामों के लिए भी खर्च कर दिया गया।

(viii) इस मान के द्वारा लंदन के मुद्रा बाजार को ही लाभ मिलता, भारतीय मुद्रा बाजारों को इसमें कोई लाभ नहीं था।

(ix) जनता को इस मुद्रा पद्धति में कोई विश्वास नहीं था।

कमीशन ने बताया कि भारतवर्ष के लिए स्वर्ण धातु मान श्रेष्ठ होगा क्योंकि यह मान बहुत ही सरल था, स्वयं संचालित था और इसके अंतर्गत विनिमय दरों का स्थायी रखना संभव था। कमीशन ने सलाह दी कि सोने के सिक्के वैधानिक ग्राह्य न रहे परंतु चांदी के रुपये और कागज के नोट ही कानून ग्राह्य रहे और उनके बदले एक निश्चित मात्रा में अर्थात् 400 औंस शुद्ध सोना खरीदने तथा बेचने का उत्तरदायित्व सरकार पर रखा जाए।

विनिमय दर– कमीशन ने यह सलाह दी कि रुपए की विनिमय दर 1 शि. 6 पै. होनी चाहिए क्योंकि इसी के अनुसार वस्तुओं के मूल्य, मजदूरों की मजदूरियां, व्यापारियों के लेन–देन, किसानों का लगान और सरकारी ठेके निश्चित हुए हैं और इसमें परिवर्तन करने से किसानों को आर्थिक संकट होगा। इसके विपरीत 1 शि. 4 पै. दर भारत के लिए बिल्कुल उपयुक्त न होगी क्योंकि यह अस्वाभाविक दर है, इसका नियंत्रण करना विशेषकर ऐसे समय में कठिन होगा जबकि व्यापारिक संतुलन भारतवर्ष के प्रतिकूल हो। इस दर के अनुसार मूल्य स्तर तथा मजदूरियों का सामंजस्य न होगा। इस कारण भारत सरकार को भी आर्थिक संकट का सामना करना पड़ेगा। बजट में संतुलन न होने से भारत वर्ष को विदेशों में साख गिर जाएगी और इसलिए भारतवर्ष को विदेशों से ऋण लेने में कठिनाई का सामना करना पड़ेगा।

केन्द्रीय बैंक– कमीशन की यह तीसरी सिफारिश थी कि भारतीय मुद्रा बाजार का नियंत्रण करने के लिए केंद्रीय बैंक की स्थापना की जाए। इस बैंक को रुपये की विनिमय दर को ठीक रखने का भार सौंप देना चाहिए तथा इसको नोट छापने का भी अधिकार देना चाहिए। यह बैंक हिस्सेदारी का बैंक होना चाहिए।

द्वितीय विश्व युद्ध और भारतीय मुद्रा

1939 में द्वितीय विश्व युद्ध प्रारम्भ हुआ, इंग्लैण्ड के युद्ध में शामिल होने के कारण भारत में युद्ध की तैयारियां भी प्रारम्भ हुई। साथ ही भारत की मुद्रा विनिमय पर भी गहरा प्रभाव पड़ा। युद्ध के कारण भारत में बहुत अधिक मात्रा में नोट छापने पड़े। 1938 में देश में 82.36 करोड़ रुपए के नोट थे जो बढ़कर 1946 को 123173 करोड़ रुपए के हो गए। इतने अधिक नोट छपने के कारण देश में सभी वस्तुओं के मूल्य बढ़ गए क्योंकि नोट तो बहुत वेग से छपते रहें परंतु उत्पादन पहले की अपेक्षा बहुत ही कम बढ़ा। इतने अधिक नोट का छपना इसलिए संभव हुआ है कि रिजर्व बैंक के सुरक्षित कोष में भारी परिवर्तन किए गए।

1940 में फ्रांस के हार जाने के पश्चात् लोगों का विश्वास सरकार बहुत कम हो गया इसलिए उन्होंने नोटों को रुपए में बदलना प्रारम्भ किया तथा डाकखाने व बैंक से

अपने रुपए निकालने प्रारम्भ किए। इस कारण रिजर्व बैंक के पास रुपयों की बड़ी कमी हो गई। इसी समय में रोजगार में बड़ी कमी हो गई और इस कमी को सरकार ने नए सांकेतिक सिक्के जारी किए। 1949 में दो रुपए का नोट भी जारी किया गया। सरकार ने युद्ध काल में जो सिक्के जारी किए उनमें चांदी की मात्रा को घटा दिया। युद्ध का प्रभाव भारतीय राजस्व पर भी पड़ा। इसके कारण नए–नए कर लगाए गए तथा भिन्न–भिन्न प्रकार के युद्ध ऋण लिए गए।

परन्तु जब इन साधनों से सरकार की आवश्यकता पूरी नहीं हुई तो उसने रिजर्व बैंक द्वारा स्टर्लिंग सिक्योरिटीज के आधार पर कागजी नोट छपवाए। युद्ध व्यय के बढ़ने के कारण बजट का घाटा भी बढ़ता चला गया। इस घाटे को पूरा करने के लिए ही नोट छापे गए। युद्ध काल में भारतवर्ष ने इंग्लैण्ड तथा दूसरे देशों को इतना माल बेचा कि उससे भारत ने प्रायः सब स्टर्लिंग ऋण चुका दिया और अंत में इंग्लैण्ड भारत वर्ष का ऋणी हो गया।

विनिमय नियंत्रण विभाग की स्थापना– युद्ध काल में रिजर्व बैंक की देख–रेख में एक विनिमय नियंत्रण विभाग की स्थापना की। इस विभाग के द्वारा विदेशी विनिमय, स्वर्ण तथा स्वर्ण सिक्योरिटीज के खरीदने बेचने पर पाबंदी लगा दी गयी। भारत में कुछ गिने चुने लोगों को ही विदेशी विनिमय, स्वर्ण तथा स्वर्ण सिक्योरिटीज के व्यापार करने का अधिकार दिया गया। विदेशी विनिमय को लोक युद्ध से पहले के ऋणों को चुकाने के लिए अथवा यात्रा करने के लिए अथवा अपने निजी कामों के लिए रिजर्व बैंक की अनुमति ले सकते थे।

8 अप्रैल, 1947 को श्री लियाकत अली ने एक बिल पेश किया जिसके द्वारा रिजर्व बैंक को यह आज्ञा दी गई कि वह स्टर्लिंग के अतिरिक्त और दूसरी मुद्राओं को भी खरीद सकता है, इस प्रकार रुपया एक स्वतंत्र मुद्रा कोष के साथ 414514 ग्रेन शुद्ध सोने की दर से सम्बन्धित कर दिया गया। इस प्रकार भारत में अन्तर्राष्ट्रीय मान स्थापित हो गया। परंतु इस सम्बन्ध के स्थापित होते हुए भी हमारा रुपया सब देशों की मुद्राओं में स्वतंत्रतापूर्वक नहीं बदला जा सकता क्योंकि अन्तवर्ती समय के लिए कोष ने भारतवर्ष को विदेशी विनिमय पर नियंत्रण करने की आज्ञा दी हुई है। भारतवर्ष अब भी विदेशी विनिमय पर नियंत्रण करता है।

17 सितंबर, 1949 को इंग्लैण्ड ने स्टर्लिंग का अवमूल्यन किया। इसके साथ–साथ और बहुत से देशों ने भी अपनी–अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन किया। भारत ने भी 19 सितंबर को रुपए का बाह्य मूल्य सोने तथा डालर के रूप में 30.5% घटा दिया। इस प्रकार रुपया जो पहले 30.2 सेन्टस के बराबर था, अवमूल्यन के पश्चात् 21 सेन्ट्स के बराबर रह गया। अवमूल्यन से भारत को बहुत अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा क्योंकि जो खाद्य सामग्री अथवा मशीनें संयुक्त राष्ट्र से भारत आई उनके दाम 44% बढ़ गए। इसके अतिरिक्त मुद्रा कोष तथा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से जो ऋण भारत ने लिया उसका भार भारत के ऊपर और अधिक बढ़ गया। अवमूल्यन से भारत में वस्तुओं के मूल्य बहुत अधिक बढ़ गये और उपभोक्ताओं को बड़े संकट का सामना करना पड़ा। इन्हीं सब बातों के कारण भारत वर्ष से इस बात की मांग है कि रुपए का पुनर्मूल्यन होना चाहिए। परंतु भारत सरकार अभी तक यह बात मानने को तैयार नहीं है कि अवमूल्यन से भारतवर्ष को हानि हुई है। इसलिए वह रुपए का पूनर्मूल्यन करने को तैयार नहीं है।

5.2.4 साख व्यवस्था

साख का सामान्य शब्दों में अर्थ है– ऋण। साख अर्थव्यवस्था के लिए बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे अर्थव्यवस्था में निवेश के लिये धन उपलब्ध होता है, जिससे उत्पादन में बढ़ोतरी होती है और अर्थव्व्यवस्था में सुधार होता है।

प्रारम्भ से ही भारत में कृषि की दशा अत्यन्त शोचनीय रही जबकि भारत एक कृषि प्रधान देश रहा है। इस कारण यह आवश्यक था कि रिजर्व बैंक खेती के लिए सस्ते ऋण थे तथा समय–समय पर खेती सम्बन्धी आर्थिक समस्याओं पर सलाह दें। इस दृष्टि से बैंक के अंतर्गत एक कृषि साख विभाग खोला गया। इस विभाग का कार्य कृषि साख की उचित व्यवस्था करना, कृषि सम्बन्धी समस्याओं को हल करना, समय–समय पर केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकार, राज्य सहकारी बैंकों तथा अन्य कृषि समस्याओं को मंत्रणा देना, उनका मार्ग दर्शन करना तथा सहकारी आंदोलन को संगठित करना है।

रिजर्व बैंक को कृषि सम्बन्धी निम्नलिखित सुविधायें देने का अधिकार है–

(i) यह बैंक भूमि बन्धक बैंकों के ऋण पत्रों के आधार पर भी ऋण दे सकता है, परंतु ऐसे ऋण तभी दिए जा सकते हैं जबकि ऋण पत्र ट्रस्टी धरोहर घोषित कर दिए गए हैं।

(ii) यह सरकारी धरोहर की जमानत पर अधिक से अधिक 90 दिन के लिए राज्य सहकारी बैंकों तथा केन्द्रीय भूमि बंधक बैंकों को जो राज्य सहकारी बैंक घोषित कर दिए गए हैं, ऋण दे सकता है।

(iii) यह राज्य सहकारी बैंकों के खेती सम्बन्धी बिलों को भी जितनी अवधि 15 मास से अधिक न हो, पुर्नबट्टे पर मोल ले सकता है।

(iv) रिजर्व बैंक संशोधन अधिनियम के अनुसार दो कोष स्थापित किए जाएंगे–

(क) राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष

(ख) राष्ट्रीय कृषि साख (स्थायित्व) कोष

(क) **राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष**– इस कोष की सहायता से रिजर्व बैंक राज्य सरकारों को दीर्घकालीन ऋण देना होगा, जो इन ऋणों को उद्योग सहकारी साख संस्थाओं की पूंजी सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने में करेंगी। इसके लिए आवश्यक होगा कि जिस सहकारी संस्था को सहायता दी जाए वह केवल ग्रामीण साख से सम्बन्धित हो।

(ख) **राष्ट्रीय कृषि साख (स्थायित्व) कोष**– इसका उपयोग रिजर्व बैंक राज्य सहकारी बैंकों की सहायता के लिए करेगा। राज्य सहकारी बैंकों को यह सहायता प्राकृतिक संकटों जैसे– अकाल, बाढ़ आदि के समय और अल्पकालीन ऋण सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करने के लिए दी जाएगी। यह उपाय बहुत ही महत्वपूर्ण है, क्योंकि ऐसी स्थिति में कुछ या अधिकांश ऋण की वापसी स्थगित हो सकेगी। यह अवश्य है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर किसान इतना मजबूर हो सकता है कि बिल्कुल अदायगी न कर सकें।

आरम्भ से ही अब तक रिजर्व बैंक ने खेती की आर्थिक सहायता बहुत ही कमी है। 1947–48 से पूर्व इसने प्रान्तीय सहकारी बैंकों को बहुत कम ऋण दिए थे और अब भी ऋण की मात्रा 50 करोड़ रुपए से अधिक नहीं है। इस प्रकार रिजर्व बैंक के स्थापित होने पर कृषि साख समस्या उतनी ही जटिल है जितनी कि वह पहले थी।

अपनी प्रगति जांचिए

1. निम्न में से कौन–सा कर प्रत्यक्ष कर के अंतर्गत आता है?
   (क) आय कर (ख) निगम कर
   (ग) मृत्यु एवं उपहार कर (घ) उपर्युक्त सभी
2. भारत ने हिल्टन यंग कमीशन को कब नियुक्त किया?
   (क) 10 अगस्त, 1925 (ख) 15 अगस्त, 1925
   (ग) 25 अगस्त, 1925 (घ) 30 अगस्त, 1935

5.3 मूल्यों में उतार चढ़ाव

भारत औपेनिवेशिक काल में एक कृषि आश्रित अर्थव्यवस्था के रूप में विकसित हुआ। कृषि उत्पादन एक ऐसी स्वतंत्र क्रिया थी जो भारत में मौसम की परिस्थितियों पर निर्भर करती थी। यही कारण था कि भारत में मूल्यों की गति में अस्थिरता के लक्षण दिखाई देते थे। कभी–कभी मूल्यों में 20–30% वृद्धि हो जाना एक सामान्य बात दिखाई पड़ती है। सामान्यतः इसके बाद उतनी ही तेजी से मूल्यों में गिरावट आ जाती थी। मूल्यों में इस तरह का उतार–चढ़ाव मुनाफे में भी इसी तरह की अस्थिरता को जन्म देता है और यह स्थिति निवेश को बुरी तरह प्रभावित करती है। भारतीय मुद्रा प्रणाली में आंतरिक व्यापार में भुगतान के साधन जुटाने के लिए ज्यादा स्थान नहीं था। हालांकि आंतरिक व्यापार केवल विदेशी मात्रा और मांग से संचालित नहीं होता था, बल्कि फसलों के उत्पादन पर भी निर्भर करता था। औपनिवेशिक मुद्रा प्रणाली में इतना लचीलापन नहीं था कि फसलों के सामान्य से अच्छी या बुरी होने पर यह आंतरिक व्यापार की जरूरतों के अनुसार, अपनी आपूर्ति का समायोजन कर सकें। इसी से कृषि उत्पाद के ज्यादा लेन–देन के लिए ज्यादा मुद्रा की जरूरत होती थी लेकिन विदेशी व्यापार की स्थिति के कारण मुद्रा का संकुचन हो सकता था। एक बुरी फसल के समय, मुद्रा की आंतरिक व्यापार में कम मांग हो सकती थी, लेकिन वास्तव में उस समय मुद्रा का संकुचन हो सकता था। एक बुरी फसल के समय मुद्रा की आंतरिक व्यापार में कम मांग हो सकती थी लेकिन वास्तव में उस मुद्रा की आपूर्ति का विस्तार हो सकता है।

5.3.1 मूल्यों के उतार चढ़ाव में मुख्य रुझान

भारत में सड़कों तथा रेलों के निर्माण से पूर्व मूल्यों का नियंत्रण प्रथाओं द्वारा किया जाता था। एक वर्ष से दूसरे वर्ष में तथा एक स्थान से दूसरे स्थान में भारी विभिन्नताएं थी। उन दिनों वस्तुओं का एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाना कठिन एवं व्यवसाय साध्य था।

टिप्पणी

अतएव स्थानीय उत्पादन की दशाएं ही मूल्यों का नियंत्रण करती थी। प्रायः ऐसा होता था कि एक जिले में अन्न अत्यधिक होता था और उसके पास के ही दूसरे जिले में अकाल पड़ जाता था।

1861 से 1893 तक भारत में मूल्य

इस काल में कीमतों का सामान्य चढ़ाव उतार निम्न प्रकार है–

चढ़ती हुई कीमतें 1861–1865– अमेरिकी गृह युद्ध के कारण कपास की कमी हो गई। इस प्रकार चढ़ी कीमतों के कारण भारत में बहुत सा स्वर्ण आया और चांदी के सिक्कों का टंकन हुआ जिससे कीमतें बढ़ गई। इस प्रकार भारत के मूल्य स्तर पर प्रथम बार बाह्य कारणों का प्रभाव स्पष्ट हुआ।

गिरती कीमती 1866–1883– इस काल में दुर्भिक्ष के कारण खाद्यान्नों के मूल्यों में हुई आकस्मिक वृद्धि के अतिरिक्त इस काल की कीमतें गिरती रही। मूल्य में ये गिरावट 1874 में पाश्चात्य देशों की कीमतें की निम्नगामी प्रवृत्ति का प्रतिरूप मात्र था। स्वर्ण के उत्पादन में शिथिलता, रजत प्रमाप के देशों द्वारा स्वर्ण प्रमाप अपनाना, चांदी का स्वतंत्र टंकन बंद होने से रजत करेन्सी के प्रसार में रुकावट, बैंकिंग का शिथिल विकास, भाड़े में कमी हो जाने से व्यापार का प्रसार और उत्पादन विधि में सुधार आदि इसके कारण थे।

बढ़ती कीमतें 1883–93– पश्चिम के स्वर्ण प्रमाप देशों की अपेक्षा भारत में गिरती हुई कीमतें शीघ्रता से रुक गई। इसका कारण रुपए का अवमूल्यन था। यह स्वीकार करना होगा कि हालांकि स्वर्ण की तुलना में चांदी का मूल्य 1874 से ही घटने लगा, किंतु उत्पादन में सामान्य वृद्धि के कारण रुपए का अवमूल्यन था। यह स्वीकार करना होगा कि स्वर्ण की तुलना में चांदी का मूल्य 1874 से ही घटने लगा था, किंतु उत्पादन में सामान्य वृद्धि के कारण 1883 तक कीमतें गिरती रही। 1885 के बाद जब रजत का उत्पादन वस्तुओं के उत्पादन से निश्चित रूप से बढ़ गया तो कीमतें बढ़ने लगीं। 1893 से 1899 के अल्प मध्यान्तर को छोड़कर 1920 तक ऐसा ही रहा।

मूल्य जांच समिति (1893–1913)– गत शताब्दी में धीरे–धीरे चढ़ने वाले मूल्य 1893 में कुछ स्थिर हो गए। इससे पूर्व खाद्यान्नों के मूल्य अकाल के समय ही चढ़ते थे, किंतु अच्छी वर्षा होने पर गिर जाते थे, अब वह बिना गिरे हुए बराबर चढ़ते ही जाते थे और देश में "बिना अकाल के ही अकाल जैसे मूल्य बने रहते थे।" मिस्टर गोखले ने सरकार का ध्यान इस असाधारण परिस्थिति की ओर आकर्षित किया था। उन्होंने मूल्य चढ़ने का कारण रुपयों के सिक्कों का अधिक ढलना बताया था। इस प्रकार की आकस्मिक मुद्रास्फीति के फलस्वरूप मूल्यों का चढ़ना अनिवार्य था। अतएव सरकार ने मिस्टर के एल. दत्ता को मूल्यों के इस असाधारण चढ़ने के कारणों की जांच करने के लिए नियुक्त किया और 1914 में उनकी रिपोर्ट द्वारा यह अनुमान लगाया गया कि मूल्यों में तेजी आने का कारण भारत में चढ़ने वाले मूल्यों की कुछ अन्य देशों के मूल्यों से तुलना करके यह बताया कि भारत के मूल्य अन्य देशों से अधिक थे।

विश्व मूल्य में तेजी के कारण– दत्ता कमेटी द्वारा यह अनुमान लगाया कि विश्व भर में साधारण स्थिति थी तथा अन्य कारण निम्नलिखित बताए हैं–

(i) कृषि पदार्थों की बढ़ती हुई मांग की तुलना में उन वस्तुओं का कम मिलना।

(ii) स्वर्ण तथा चल अर्थ का देश में पहले से अधिक परिमाण में उपलब्ध होना।

(iii) बैंकिंग तथा उद्यान लेने की सुविधाओं का विकास और बाजार के चलन में मुद्रा का बढ़ जाना।

(iv) रूस–जापान तथा बोअर युद्धों के कारण माल का विशाल परिमाण में विनाश।

भारत में मूल्य चढ़ने के कारण– मि. दत्ता ने भारत में मूल्य चढ़ने के कुछ विशेष कारण बताए हैं–

(i) कुसमय वर्षा के कारण खाद्यान्नों के उत्पादन में कमी, खाद्य फसलों के बदले खाद्येतर फसलों का बोया जाना तथा घटिया भूमि में खेती करना।

(ii) जनसंख्या के बढ़ जाने तथा वस्तुओं के मान के बढ़ जाने के कारण मुख्य वस्तुओं की मांग बढ़ जाना।

(iii) रेलों तथा जहाजों के यातायात साधनों का विकास तथा माल के किरायों में कमी।

(iv) बैंकिंग एवं साख का विस्तार।

सरकार इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं थी कि मूल्य चढ़ने के कारण अन्तर्देशीय थे। उनका कहना था कि इन वर्षों में नहरों से सिंचाई किए जाने वाले प्रदेश का क्षेत्रफल लगभग दुगुना हो गया था, अतएव खाद्य वस्तुओं की फसलों में कमी नहीं हो सकती थी, उनका कहना था कि भारत में मूल्य बढ़ने के कारण विश्व स्थिति तथा साख में वृद्धि थी। तथ्य यह था कि 1893 में रुपए को सांकेतिक मुद्रा बना दिया गया था और उसका गलाना बंद हो गया था। इसके अतिरिक्त सरकार भी बराबर रुपए ढाल रही थी। सन् 1900 से 1908 तक 100 करोड़ रुपए बाजार में आ गए। मूल्य वृद्धि का मुख्य कारण यही था। मुद्रा परिमाण सिद्धांत अपने रूप प्रमाणित कर रहा था।

प्रथम विश्व युद्ध के दौरान मूल्यों में भारी बढ़त

इस समय विश्व युद्ध की स्थिति में मूल्यों की अभूतपूर्व बढ़त के निम्नलिखित कारण थे–

1. **चल अर्थ में वृद्धि**– 1914 में भारत में चलने वाली नोटों की संख्या 237 करोड़ थी। यह संख्या 1916 में 265 करोड़ तथा 1919 में 362 करोड़ हो गई। इस समय चल अर्थ के अतिरिक्त साख का भी विस्तार हुआ, क्योंकि बैंक अपने ग्राहकों को युद्ध ऋण के सर्टिफिकेट तथा कोष–पत्रों के विरुद्ध ऋण देते थे।
2. सरकार द्वारा आयातों और निर्यातों पर पाबंदी लगा देने से वस्तुओं में भारी कमी हो गई, जिससे तेजी आई।
3. पक्के माल का आयात युद्ध पूर्वकाल के स्तर पर नहीं किया जा सकता था। युद्ध के द्वारा किए हुए विनाश तथा शस्त्रों का उत्पादन बढ़ जाने से मजदूरों की कमी के कारण आयातों का देश में आना संभव हो गया।
4. समुद्र के ऊपर अणु रक्षा बढ़ जाने के कारण बीमे की किश्तों के साथ–साथ माल किराए की दर से बढ़ गई। जिसके परिणामस्वरूप मूल्य गया।

1920 के आस–पास विश्व मूल्यों की तेजी अब नीचे गिरने लगी। इस समय देशों ने मुद्रासंकोच की नीति को अपनाया था, जिससे मूल्य अब और भी अधिक कम हो गया। भारत, ब्रिटेन, अमेरिका तथा अन्य देशों के मूल्य एक दूसरे के साथ–साथ क्रमशः गिरने लगे। 1929 में बाल स्ट्रीट न्यूयार्क में शेयरों तथा प्रतिभूतियों के दाम गिरे, जिससे

टिप्पणी

मूल्यों में और भी गिरावट आई। रुपया पौंड के साथ एक शिलिंग 6 पैंस की दर पर बंधा हुआ था। यदि अनुपात 1 शिलिंग 4 पैंस का होता तो भारत को मूल्यों तथा निर्यात में 12% का लाभ होगा। देश में राजनीतिक गड़बड़ियों के कारण भी मूल्यों में स्थिरता न आ सकी। कृषि प्रधान देश होने के कारण भारत को अधिक हानि हुई, क्योंकि पक्के माल की अपेक्षा कृषि पदार्थों के मूल्य अधिक गिरे। 1931 में तो मूल्य 1923 स्तर की अपेक्षा से भी नीचे आ गए।

मूल्य गिरने का प्रभाव– मूल्यों के गिरने से बड़ी हानि सामाजिक अन्याय बढ़ने का खतरा अधिक होता है। मूल्यों के गिरने से भारतीय किसानों की दशा अत्यन्त विषम हो गई। भारतीय जनता में उनकी बड़ी भारी संख्या है। मंदी के समय उसकी आय घट गई, किंतु भूमि इत्यादि कर तो ज्यों ही बने रहे। ठेके का आधार होने के कारण भूमि का लगान नहीं घटा। पहले लिए हुए उधार का ब्याज भी नहीं बदल सकता था। इसलिए वे अपने उत्तरदायित्वों को पूर्ण नहीं कर सकता और इसे उसकी दशा में और अधिक गिरावट हो गई। बड़े जमींदारों की स्थिति भी कोई खास अच्छी नहीं थी।

इसी प्रकार का हाल व्यापारियों का भी था। व्यापारी लाभ पर माल बेच नहीं सकता था। ग्राहक कम हो जाने से उसकी दुकान में एक ही माल बहुत दिनों तक पड़ा रहता था। इसका प्रभाव निर्माता पर पड़ता था। इस समय यदि लाभ में थे तो वे सरकारी कर्मचारी, किंतु वे जनसंख्या में कम थे। इधर सरकार को कुछ कर लगाने पड़े और कुछ घटाने, जिससे स्थिति में कुछ संतुलन स्थापित किया जा सके। जैसे– चुंगी कर, आबकारी कर, आय कर तथा रेलवे की आय सभी में कमी हुई। जिससे सरकार की स्थिति अत्यंत कठिन हो गई। फिर सभी क्षेत्रों में कर बढ़ा दिए गए। वेतनों में कटौती की गई। देश से स्वर्ण का निर्यात होने से विदेशी विनिमय को कुछ सहायता मिली और उसने सरकार की विदेशों में साख की रक्षा की।

द्वितीय विश्व युद्ध के समय मूल्यों के रुझान

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान सट्टे के कारण मौलिक वस्तुओं तथा बने हुए माल दोनों के ही मूल्य चढ़ गए। क्योंकि माल की कोई कमी नहीं थी। 1941 से पूर्व मूल्य पहले शान्त थे, फिर उनमें तेजी देखी गई। 1941 में मूल्य एक बार फिर चढ़ने लगे।

इस मूल्य बढ़ने का कारण ब्रिटेन ने ग्राहक के रूप में भारत के बाजारों में प्रवेश किया, इससे भारत के चलार्थ में वृद्धि हुई और दूसरी ओर उपलब्ध माल लेने से एक ओर तो भारत के चलार्थ में वृद्धि हुई और दूसरी ओर उपलब्ध माल के परिणाम में कमी आ गई और इसके परिणामस्वरूप मूल्य चढ़ गए। स्थिति और भी गंभीर तब हो गई जब 1941 में जापान धुरी शक्तियों की ओर से युद्ध में कूदा, जिससे भारत अब युद्ध के और समीप आ गया, परिणामस्वरूप 1942 में वस्तुओं के मूल्य अब आकाश छू रहे थे, 1943 में स्थिति और भी बदतर हो गई। निर्धनों का हाल बहुत बुरा था। 1943 में जब मूल्य अधिक चढ़ गए थे और देश में मुद्रा का प्रसार हो गया तो सरकार ने मूल्यों को रोकने का प्रयत्न किया और स्थिति और खराब तब हुई जब भारत को बर्मा से खाद्यान्न मिलने बंद हो गए। ऐसी स्थिति में बंगाल का अकाल और अधिक भयावह था। अकाल के अनेकों महामारियां हैजा, चेचक, मलेरिया भी फैलने लगी जिससे स्थिति अत्यधिक भयावह हो गई। इसका सर्वाधिक शिकार केवल ग्रामीण वर्ग का निर्धन ही थी, क्योंकि खाद्यान्न खरीदने हेतु उसके पास धन ही नहीं था।

टिप्पणी

निम्नलिखित तालिका द्वारा युद्धकालीन वर्षों में थोक मूल्यों के मूल्य सूचक अंक

वर्ष	कृषि पदार्थ	कच्चा माल	मौलिक पदार्थ	पक्का माल या तैयार किया हुआ माल	साधारण मूल्य सूचक अंक
1939–40	127.5	118.8	124.2	131.5	125.6
1940–41	108.6	120.5	113.4	119.8	114.8
1941–42	124.2	146.9	132.5	154.5	137.0
1942–43	166.2	165.9	166.0	190.4	171.0
1943–44	268.4	185.0	232.5	258.3	244.2
1945–46	272.8	210.1	246.4	240.0	245.0

युद्ध की स्थिति में ब्रिटेन सरकार ने अपनी अथवा मित्र राष्ट्रों की ओर से उन वर्षों में माल और सेवाएं भारत में मोल ले ली थी, उसी से नोटों का प्रसार उन दिनों अधिक बढ़ गया था। वह भारत के माल का मूल्य माल के रूप में चुकाने में असमर्थ थे। इस सम्पत्ति में ब्रिटिश बजट के घाटे को पूरा करने में सहायता दी और ब्रिटिश मूल्यों को चढ़ने से रोके रखा था। इधर भारत भी कुछ वर्षों से खाद्यान्नों के विषय में आत्मनिर्भर नहीं था। वह बर्मा, मलाया, थाईलैंड से 15 लाख टन से लेकर 25 लाख टन तक चावल मंगवाने पड़े। जापान द्वारा इन देशों पर कब्जा किए जाने के कारण भारत के खाद्यान्नों में भी कमी हो गई। भारत में औसत खाद्य पूर्ति में कमी पड़ जाने से उसको इराक, सीलोन, दक्षिणी अफ्रीका को खाद्यान्नों का निर्यात करना पड़ता था। इससे उसका खाद्यान्नों का घाटा और बढ़ गया और उसमें अकाल की स्थिति उत्पन्न होने लगी। 1942–43 में भारत के समुद्री व्यापार के परिणाम में भी भारी कमी आ गई। विदेशी माल के आयात में 1938–39 के आधार वर्ष की अपेक्षा 37.6% की कमी आ गई। आयातों में इतनी भारी गिरावट से उपभोक्ता काल में और कमी आ गई।

सट्टा एक ऐसा कार्य है जो साधारण समय में भी मूल्य को गति प्रदान करता है और युद्ध काल में सट्टे का जोर बढ़ जाता है। सट्टा हर हाल में अपराध है, फिर चाहे वह सरकार द्वारा हो या बनिए, साहूकार, जमींदार व बैंकों द्वारा किया जाए। इस प्रकार के संग्रह से ही वस्तुएं आम जनता की पहुंच से दूर हो जाता है। इसी कारण से युद्ध काल में मूल्यों में तेजी आई थी। युद्ध काल में सैनिक तथा सैनिकों संबंधी सामग्री थी। रेलों द्वारा कार्यरत था। पेट्रोल, रबड़ के टायरों तथा मोटर लारियों के विदेशों से कम आने के कारण सड़क यातायात में भी बाधाएं पड़ी। अतएव बचत के क्षेत्रों से घाटे के क्षेत्रों को आवश्यक माल पर्याप्त परिमाण में ले जाना संभव नहीं रहा।

सभी युद्धरत राष्ट्रों ने मूल्यों पर भारी नियंत्रण लगा दिए क्योंकि युद्ध व्यय के लिए आवश्यक अतिरिक्त चल अर्थ के अस्तित्व का मूल्य अनुभव न करे। इसके अतिरिक्त फालतू मुद्रा को खपाने के लिए युद्ध ऋण जारी किए गए।

टिप्पणी

1945 में युद्ध की समाप्ति पर भारत की अर्थव्यवस्था पर से बोझ कम नहीं हुआ। थोक मूल्यों में कोई कमी नहीं हुई। वरन् इसके विपरीत उनमें कुछ और वृद्धि हुई। मूल्य सूचक अंक 245 से ऊपर बढ़ता ही रहा। यह निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है–

वर्ष	कृषि पदार्थ	कच्चा माल	मौलिक वस्तुएं	निर्मित वस्तुएं	साधारण मूल्य सूचक अंक
1946–47	311	245	280	209	275
1947–48	357	254	313	288	308
					(बीच में छोड़ दिया गया)

वर्ष	खाद्य वस्तुएं	औद्योगिक कच्चा माल	अर्द्ध निर्मित	निर्मित वस्तुएं	विभिन्न	साधारण मूल्य सूचक अंक
1947–48	306	378	262		456	308
1948–49	383	445	327	346	525	376
1949–50	391	472	332	347	571	385
1950–51	416	523	349	354	707	410
अगस्त 1949	411	461	331	349	542	389
जून 1950	403	491	336	348	692	396
दिसंबर 1950	424	543	351	350	718	413
दिसंबर 1951	399	474	373	402	752	434

युद्ध समाप्त होने पर मूल्य सूचक अंक 245 था। वस्तुओं की पूर्ति के कम होने तथा उसकी अपेक्षा उनकी मांग अधिक जनसंख्या के साथ–साथ बढ़ती जाने के कारण मूल्य बराबर तेजी से बढ़ते रहे। उदाहरण 1946–47 में वह 30 अंक बढ़कर 275 हो गए, 1947–48 में 33 अंक बढ़कर 308 हो गए और 1948–49 में 68 अंक बढ़ गए। यहां तक कि मूल्यह्रास से ठीक पूर्व अगस्त 1949 में वह 389 हो गए।

भारत सरकार ने देश के आंतरिक एवं बाह्य व्यापार के सम्बन्ध में तथा माल के उत्पादन पूर्ति और वितरण के सम्बन्ध में 15 अगस्त, 1950 के एक वर्ष तक के समय के लिए कानून बनाने के अधिकार अपने हाथ में ले लिया। अतएव कुछ वस्तुओं का नियंत्रण करने के लिए वस्तुओं की पूर्ति तथा मूल्यों का अध्यादेश निकाला गया। दूसरे वस्तुओं के अंतर्देशीय तथा बहिर्देशीय मूल्यों में अधिक विषमता को दूर करने के लिए अन्य निर्यात कर भी लगाए गए अथवा वर्तमान करों को बढ़ा दिया गया। इन उपायों से मूल्य कुछ स्थिर हो गए। किंतु जब चीन ने कोरिया युद्ध में हस्तक्षेप किया तो मूल्य फिर चढ़ने लगे और 1951 में 458 तक जा पहुंचा।

5.3.2 जमींदारों पर किराए का प्रभाव

भारत में कल्याणकारी शासन के रूप में कई अन्य देशों की तरह किराए पर नियंत्रण का उपयोग किया गया। जवाहर लाल नेहरू राष्ट्रीय शहरी नवीनीकरण मिशन ने 'किराया नियंत्रण' को एक विवादास्पद मुद्दा बना लिया। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद भारत में 'किराया नियंत्रण' को भयंकर संकट के रूप में प्रस्तुत किया गया। ऊंचे मूल्यों का सभी व्यक्तियों पर एक सा प्रभाव नहीं पड़ा। जितनी आय कम होगी, परिवार बड़ा होगा, उतना ही कठिनाईयां बढ़ेगी, किंतु निर्धनों को जीवनपयोगी आवश्यकताओं से वंचित होना पड़ता है। भारत में अधिकांश जनता के निर्धन होने के कारण कष्ट भी साथ ही साथ आगे बढ़े। युद्ध के बाद उत्पादन घट गया। वास्तव में व्यापारी द्वारा प्राप्त किए जाने वाले प्रत्येक रुपया माल के रूप में अपने मूल्य से कम हैं। मुद्रास्फीति धन तथा निर्धनता के बड़े–बड़े विरोधों का निर्माण करते हैं, कुछ थोड़े से समृद्ध होते हैं किंतु अधिकांश व्यक्ति प्रसन्न नहीं होते हैं। मूल्य चढ़ने से औद्योगिक सटोरियो, व्यापारी, ठेकेदार, दुकानदार और बड़े जमींदार सभी को लाभ होता है। उनको हानि तभी होती है जब सरकार उनके कार्यों पर नियंत्रण तथा लाभों पर कर लगाती है। इसी दौर में जमींदारों तथा किराएदारों का एक नया एक्ट सामने आया, जिसे किराया नियंत्रण अधिनियम (रेंट कंट्रोल एक्ट) कहा जाता है।

किराया नियंत्रण (रेंट कंट्रोल एक्ट) क्या है? घर को किराए पर देना रेंट कंट्रोल एक्ट के अंतर्गत आता है। जब कोई मकान मालिक अपना घर किराए पर देता है या कोई किराए के घर में रहता है तो ऐसी गतिविधियां रेंट कंट्रोल एक्ट के दायरे में आता है। हर राज्य का अपना रेंट कंट्रोल एक्ट है, जैसे– महाराष्ट्र में रेंट कंट्रोल एक्ट 1999 है, तो दिल्ली में रेंट कंट्रोल एक्ट 1958 है, चेन्नई में तमिलनाडु बिल्डिंग्स एक्ट 1901 है। किराया नियंत्रण अधिनियम (रेंट कंट्रोल एक्ट) का मुख्य काम किराएदारी और मकान मालिकों के मध्य के विवादों को सुलझाना है।

किराया नियंत्रण अधिनियम (रेंट कंट्रोल एक्ट) की मुख्य बातें

किराया नियंत्रण अधिनियम (रेट कंट्रोल एक्ट) किराएदारों को सुरक्षा देता है और मकान मालिकों को किराएदारों को निकालने पर रोक लगा दी है। ये उन सभी विवादों को दूर करता है, जिन पर मकान मालिक और किराएदार के बीच लड़ाई होने की संभावना होती है। रेंट कंट्रोल एक्ट की मुख्य बातें हैं–

(i) यह किराए पर दी गई प्रॉपर्टीज पर विभिन्न प्रकार के कानून लागू करता है ताकि किराएदार सुरक्षित किराए का घर हासिल कर सके।

(ii) यह निष्पक्ष और मानकीकृत किराए की रेंज तय करता है और ज्यादातर परिस्थितियों में किराएदारों से ज्यादा किराया वसूला नहीं जा सकता।

(iii) यह किराएदारों को भेदभाव और उनके मकान मालिकों द्वारा अनुचित तरीके से बेदखल होने से बचाता है।

(iv) किराए पर लिए जाने वाले घर के रखरखाव के संदर्भ में मकान मालिकों की जिम्मेदारियों और दायित्वों को उनके किराएदारों के लिए परिभाषित करता है।

(v) जो किराएदार किराया नहीं देता या प्रॉपर्टी का मिसयूज करता है, इसके लिए कानून मालिक के अधिकारों को परिभाषित करता है।

एक्ट में एक बात साफ कर दी गई थी कि बिना कारण के किराएदारों को परिसर से नहीं निकाला जा सकता। किराएदारों को बेदखल होने से रोकने के लिए कानून में कई प्रावधान हैं। इसी प्रकार कानून में यह भी लिखा है कि कोई मकान मालिक बिना किसी पर्याप्त कारण के किराएदार द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली सेवा की आपूर्ति को काटा या रोका नहीं जा सकता। कानूनन ये अनिवार्य कर दिया गया कि मकान मालिकों द्वारा किराएदारों को भुगतान की गई राशि की पक्की रसीद देनी होगी अगर किराएदार की मौत हो जाती है तो परिवार के किसी भी सदस्य के नाम से रसीद देनी होगी। अगर मकान मालिक रसीद नहीं देता है तो यह अपराध माना जाएगा।

आजादी से पूर्व किराया नियंत्रण

भारत में किराए पर नियंत्रण द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् किराए आवासों के छद्म संकट हो रोकने के लिए पेश किया गया। विधायकों द्वारा किराएदारों के लिए योग्य परिस्थितियों में खाली पड़े घरों की आवश्यकता के लिए अनुमति दी गई। हालांकि एक अस्थायी उपाय के रूप में पेश किया गया किराया नियंत्रण कानून किसी भी तरह से नीतिगत निर्णय के रूप में जारी रहा था। इन विधानों की मांग करने वाली स्थिति बदल गई। संशोधनों की गति सामाजिक–आर्थिक जनसांख्यिकी में परिवर्तन के साथ नहीं रखी गई है। शाश्वत रूप से यह महसूस किया गया कि आवास की कमी अभी भी मौजूद है।

तथ्य है कि किराया नियंत्रण की आर्थिक और सामाजिक रूप से अक्षम होने के आधार पर आलोचना की गई। किराया नियंत्रण राज्यों की विधायी क्षमता के दायरे में ही आता है। इसलिए राज्यों को इस संदर्भ में स्वयं ही सुधार करना होगा। इस प्रकार राज्यों को अपने ऊपर इस भार के फलस्वरूप सुधार लागू कर सकती है। इस किराए नियंत्रण सुधार को हम तीन चरणों में विभाजित कर सकते हैं। आजादी से पूर्व विधायी कानून को हम पहली पीढ़ी का कानून कह सकते हैं अर्थात् किराए नियंत्रण कानून का यह प्राथमिक अवस्था थी। किराए नियंत्रण सम्बन्धी जो कानून आज़ादी के बाद बनाए गए वे संरक्षित किराएदारी के अधिकार कहे जाते हैं, जो द्वितीय पीढ़ी का कानून है, क्योंकि किराए नियंत्रण कानून के संदर्भ में यह दूसरा कानून है। मॉडल रेंट कानून, 1992 के बाद लागू कानून इस विषय पर तीसरी पीढ़ी के कानूनों के युग को चिन्हित करता है। न्याय की शृंखला में यह स्वीकार किया गया कि किराए नियंत्रण कानून के दूसरे पड़ाव में किराए नियंत्रण कानून, किराएदारों के पक्ष में पहले से अधिक पक्षपाती व्याख्या की है। स्थिति की गंभीरता थी कि दूसरी पीढ़ी के कानून में 'पक्षपातपूर्ण' प्रावधानों को शून्य और अप्रभावी घोषित किया गया है। कानून की स्थिति यह थी कि कानून को अधिनियम के उद्देश्यों को बढ़ावा देना है और अधिनियम की विषय वस्तु तक ही सीमित नहीं रहना है, राज्यों के कानूनों के सुधार का आधार बनने वाले मॉडल किराया नियंत्रण कानून के अलावा केवल चार राज्यों में आंशिक रूप से अनुकूलित किया गया था। यह भारत के विधि आयोग द्वारा 129वीं रिपोर्ट में स्वीकार किया गया कि अदालतों के समक्ष विवादों की अधिकतम संख्या बेदखली से संबंधित है।

किराया नियंत्रण कानून का पहला पड़ाव– द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् लोगों ने 'किराया नियंत्रण' को वैश्विक रूप से लागू होते हुए देखा था। इन कानूनों ने यह पूरी तरह से स्पष्ट किया कि उनके उद्देश्य अस्थायी तौर पर लागू किए गए हैं। चूंकि

टिप्पणी

ये कानून पहले पढ़ाव पर थे, जो किराए के मानक का निर्धारण सम्पत्ति के निर्माण और बाजार मूल्य की लागत पर आधारित था। किराएदारों को नियंत्रित करने की कट ऑफ तारीख 1940 से स्थापित की गई थी।

इन धाराओं से उन कानूनों को संरक्षित किया गया जिसमें उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके साथ रहने वाले परिवार के सदस्य को हस्तान्तरित हो जाएगा सम्पत्ति के प्रकार के आधार पर किराया नियंत्रण अपनाया जाएगा। इस प्रकार वाणिज्यिक क्षेत्रों की योग्यता को कम करने के लिए यह अन्य क्षेत्रों में भी लागू किया गया। इस समस्त विधान (कानून) का उद्देश्य जमींदार और किराएदार के बीच समानता स्थापित करना ही थी। इस सम्बन्ध में किराएदारी का सुरक्षित कार्यकाल और मानक किराए का भुगतान करने का अधिकार ही महत्वपूर्ण पहल थी। इसमें एक प्रावधान यह भी था कि किराएदारों को वैधानिक रूप से किसी अन्य व्यक्ति को पट्टा देने या परिसर को कब्जे में लेने से प्रतिबंधित किया था। वह धारा जो एक विशिष्ट अवधि के लिए लाया गया था, इसकी सफलता में योगदान के लिए यह अधिनियम लागू किया गया था। इसके पश्चात् एक बार जब यह कानून का जोर समाप्त हो गया तब किराएदारों ने परिसरों को पेईंग गेस्ट या केयर टेकर जैसे इंतजाम अपनाने लगे। जो धन किराएदारों के हस्तांतरण के लिए प्राप्त किया गया था, उसे सतर्कतापूर्वक जमींदारों को हिस्सा देते हुए उनके मध्य वितरित किया गया। 1948 में बॉम्बे में भूमि अनुरोध अधिनियम पारित किया गया। जिसमें सार्वजनिक उद्देश्यों के लिए भूमि और मकान किए गए और मकान मालिकों को सरकार को किराएदारों से रिक्त मकानों के लिए सूचित करना था और न खाली मकानों पर कब्जे से साफ तौर पर इंकार कर दिया गया। इस प्रकार की स्थिति ने किराए के मकानों की बाजारी के लिए भारत में काला बाजारी प्रारंभ कर दी।

जब किराया नियंत्रण कानून अपने अपने दूसरे पड़ाव पर पहुंचा अर्थात् आजादी के पश्चात् भारतीय राज्यों ने सामाजिक आर्थिक जनसांख्यकीय में भारी बदलाव देखा था। आज न्यायपालिका के सामने जो समस्या है। वह कड़े कानून की अनुपस्थिति है जो किराए के विवादों की एक बड़ी आपूर्ति से प्रभावित है।

किराया नियंत्रण के लिए तर्क– द्वितीय विश्व युद्ध भारत में शहरी आवासीय क्षेत्रों पर दोहरा दबाव लेकर आया। सेना की बढ़ती मांगों ने मौजूदा आवास और युद्ध के समय वस्तुओं की पूर्ति में कमी ने इस दबाव को और बढ़ा दिया। विशुद्ध रूप से एक अस्थायी, इसलिए ब्रिटिश सरकार ने किराए और आवास के नियंत्रण से संबंधित कानून पेश किया। लेकिन तब से विभिन्न राज्यों की सरकारों ने विशेष स्थिति जैसे भारत विभाजन से लोगों का पलायन और फिर औद्योगीकरण से प्रभावित स्थिति से निपटने के लिए किराए के नियमों को बढ़ाया गया। इसलिए विशेष परिस्थितियों से निपटने के लिए 'किराया नियंत्रण' एक स्थायी विशेषता बन गया। मोटे तौर पर कहा जाए कि द्वितीय विश्व युद्ध के समय राज्य विविधताओं के साथ रेंट एक्ट थोपा गया और इस दशक में निम्नलिखित प्रावधान अपनाए गए–

(i) खाली भवनों को किराए पर और पट्टे पर दोनों पर नियंत्रण करना।

(ii) उचित मानक किराया तय करना।

(iii) किराएदारों द्वारा अपनी मनमानी करने से जमींदारों की सुरक्षा करना।

टिप्पणी

(iv) रखरखाव के सम्बन्धों में मालिकों का दायित्व निर्धारित करना।

(v) अधिकारों का मालिकों द्वारा दुरुपयोग करने के मामलों के कानून निर्धारित करना।

(vi) वह प्रक्रिया जिसके द्वारा मालिक परिसर पर अधिकार प्राप्त करने पर ध्यान देगा।

किराया नियंत्रण का प्रभाव– उपरोक्त समस्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि यह कानून किराएदारों के प्रति पक्षपात था किंतु इससे पूर्व जमींदारों व मालिकों ने किराएदारों के प्रति अनेक प्रकार से उनको प्रताड़ित किया था। फिर भी इसका प्रभाव सभी पर पड़ा, जो निम्नलिखित है–

(i) नए आवास में निवेश पर न केवल अप्रचलित किराए कानून बल्कि पुराने स्टॉक के रखरखाव और विस्तार पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। एन.सी.यू. के अत्यधिक दबाव देने पर और इस एक्ट का सबसे ज्यादा दिखाई देने वाला प्रभाव था, हमारे शहरों की पुरानी इमारतों की खस्ताहाल स्थितियां, क्योंकि किराए अवरुद्ध थे और मालिकों को मरम्मत व रखरखाव करने में मुश्किल हो रही थी। जबकि किराए के अधिनियमों ने किराएदारों को दिए जाने वाले किराए की राशि और किराएदारों की सुरक्षा के संदर्भ में संरक्षित किया है और वे जिस भवन व इमारत में निवास करते हैं उसकी गुणवत्ता की दृष्टि से सुरक्षा में सीधा योगदान देते हैं।

(ii) किराया नियंत्रण पर एक अन्य प्रभाव एन.सी.यू. द्वारा था, जिसमें एन.सी.यू. किराए हेतु आवासीय निर्माण में पर्याप्त कमी कर रही थी। सभी नए आवास निरपवाद रूप से बिक्री के लिए विकसित है। इतना ही नहीं अब से राजकीय आवासीय बोर्ड किराए हेतु मकानों का निर्माण नहीं करेगी। इसका साक्ष्य है कि मकानों को किराए के बजाय खाली रखा जा रहा है। यहां तक कि मालिक खुद अपनी सम्पत्ति पर अधिकार नहीं कर सकता है। ज्यादातर मकान मालिकों की यह धारणा बन गई थी कि एक बार किराए पर मकान देने के बाद वह वापिस मालिकों को नहीं मिलेगा। जिससे वहां की समानांतर अर्थव्यवस्था का उदय हुआ है, जैसे किराए का अग्रिम भुगतान इत्यादि। इस प्रकार किराए का बाजार पूरी तरह समाप्त हो गया।

(iii) इससे आवास में कमी होने लगी। अन्य वस्तुओं व आवासों की आपूर्ति व बढ़ती मांग के मध्य की इस खाई को दूर करने के लिए 'किराया नियंत्रण' जिम्मेदारी में कोई छोटा मानक नहीं था।

इस प्रकार स्पष्ट है कि हालांकि किराए पर नियंत्रण शुरू में घर की सुविधाओं की कमी का मुकाबला करने के लिए एक उपाय के रूप में लागू किया गया था, इसकी निरंतरता ने दोषपूर्ण कानून और आर्थिक गतिविधियों के क्षेत्र में अनावश्यक सरकारी हस्तक्षेप के कारण एक कृत्रिम विरोध पैदा कर दिया है। इससे जमींदारों जो केवल इसी पर पूरी तरह आश्रित थे, आर्थिक समस्याओं का सामना करना पड़ा।

5.3.3 राज्य के राजस्व और व्यापार पर प्रभाव

औपनिवेशिक काल से पूर्व हमारी अर्थव्यवस्था कृषि–प्रधान थी। परंतु ब्रिटिश सरकार ने हमारी इस व्यवस्था को पूरी तरह से नष्ट कर दिया। अंग्रेजों ने अपने लाभ के लिए

टिप्पणी

भू–राजस्व का निर्धारण और संग्रहण को अपने लाभ के लिए नये तरीकों को अपनाया। प्लासी और बक्सर के युद्ध के बाद अंग्रेजों को बंगाल–बिहार–उड़ीसा की दीवानी प्राप्त होते ही गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग ने 1772 ई. में बंगाल में द्वैध शासन व्यवस्था को समाप्त कर फार्मिंग सिस्टम से भू–राजस्व की वसूली करना प्रारंभ की, इस सिस्टम में जो ज्यादा बोली लगाता था उसको जमीन का मालिकाना हक मिल जाता था। इस व्यवस्था से किसानों पर शोषण बढ़ गया। 1793 में कार्नवालिस स्थायी बंदोबस्त शुरू किया, इसके द्वारा जमींदारों को भू–क्षेत्र का पूरा मालिक मान लिया गया। इस व्यवस्था के अंतर्गत जमींदार भू–राजस्व की वसूली करता था 1/10 अथवा 1/11 भाग अपने पास रखकर शेष राशी कंपनी को जमा करता था। जमींदार मनमर्जी से लगान वसूलते थे। किसान जमींदारों की दया के पात्र बन कर रह गए।

ब्रिटिश सरकार ने 80 प्रतिशत भाग पर महालवारी बंदोबस्त लागू किया। इसमें लगान कर अनुमान पर लागू किया गया। इस व्यवस्था से भारत की आर्थिक स्थिति बिगड़ती चली गई।

1818 के चार्टर एक्ट द्वारा ब्रिटिश नागरिकों को भारत में व्यापार करने की सुविधा प्राप्त हुई जिससे भारत में ब्रिटिश द्वारा मशीनों का आगमन शुरू हो गया और वहां से सस्ता सामान भारत आने लगा। ऐसी स्थिति में भारतीय उत्पादों के लिए यूरोपीय बाजारों में प्रतियोगिता व प्रवेश दोनों ही बहुत कठिन हो गए। इस कारण भारतीय व्यापार के लिए यूरोपीय बाजार पूर्ण बंद हो गए। भारत में रेल के विकास ने यूरोपीय उत्पादों को पूर्ण भारत में पहुंचाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। भारत की परंपरागत हस्तशिल्प उद्योग का ह्रास हुआ क्योंकि ब्रिटिश सामान से बाजार भरा होने के कारण भारतीय हस्त उद्योग उसका मुकाबला नहीं कर सका।

अनौद्योगीकरण का एक और नकारात्मक प्रभाव ये था कि भारत के शहरों का पतन हो रहा था। भारतीय शिल्पियों ने गांवों की तरफ जाना प्रारंभ कर दिया था। अंग्रेजी के शोषण नीति के कारण बहुत से परंपरांगत व्यवसायों को भारतीय शिल्पकारियों ने छोड़ दिया और गांवों में जाकर खेती का कार्य करना शुरू किया। इससे भूमि पर दबाव पड़ा। ब्रिटिश सरकार की कृषि विरोधी नीतियों के कारण इस पर पहले से ही संकट था और भूमि पर अधिक दबाव से गांवों की अर्थव्यवस्था बुरी तरह डगमगा गई।

अंग्रेजों की रुचि ज्यादा से ज्यादा लगान प्राप्त करने की थी। भूमि की स्थायी बंदोबस्त व्यवस्था लागू करने से अंग्रेजों की आय तो निश्चित हो गई, लेकिन जमींदार जो किसानों से लगान लेते थे, वह निश्चित नहीं थे। वह हर वक्त बदलते रहते थे। जमींदार किसानों पर बहुत अधिक लगान वसूलते थे। लगान न दे पाने के कारण किसानों को अपने पुश्तैनी भूमि से हाथ धोना पड़ता था। अंग्रेज और जमींदार दोनों ही कृषि के लिए खेती की उर्वरता बढ़ाने के लिए न तो कोई प्रयास करते थे और न ही धन खर्च करते थे। किसानों को अपनी भूमि बचाने के लिए बाजार से ऋण लेने शुरू कर दिया और उस ऋण को उतारने के लिए अपना अनाज सस्ते दामों पर बेचने पर मजबूर होते थे। ये ऋणदाता एक तीसरे वर्ग के रूप में किसानों के ऊपर अपना प्रभुत्व स्थापित करने से किसानों के ऊपर सरकार, जमींदार व सूदखोरों का बोझ पड़ने से तथा अकाल व अन्य प्राकृतिक आपदाओं के कारण किसानों की समस्याएं बढ़ने लगी और कृषि व्यवस्था पर इसका विपरीत प्रभाव पड़ने लगा।

19वीं शताब्दी में भारतीय कृषि का वाणिज्यीकरण होने से अब कुछ विशेष फसलों का उत्पादन अंतर्राष्ट्रीय बाजार के लिए होने लगा, जैसे– गन्ना, कपास, मूंगफली, तंबाकू, पटसन, तिलहन, फलों और सब्जियों जैसे फसलों का उत्पादन बढ़ गया क्योंकि ये फसलें लाभदायक सिद्ध हो रही थी। चाय, कॉफी, रबर एवं नील इत्यादि में तो कृषि का वाणिज्यीकरण अपने चरमोत्कर्ष में पहुंच गया। भारतीय किसानों के लिए कृषि का वाणिज्यीकरण करना उनकी मजबूरी थी, क्योंकि भूमिकर की अधिकता के कारण उन्हें साहुकारों से कर्ज लेना पड़ता था, जिनकी ब्याज की दरें बहुत अधिक होती थी। इस कर्ज अर्थात ब्याज को चुकाने के लिए उन्हें अपनी फसलों को सस्ते दामों पर बेचनी पड़ती थी। कृषि का वाणिज्यीकरण होने से भारतीय कृषि व्यवस्था की कीमत पर यूरोपीय बाजार का उतार–चढ़ाव का भी प्रभाव पड़ने लगा। इस प्रकार कृषि के वाणिज्यीकरण से न तो किसानों को कोई लाभ प्राप्त हुआ और न ही खेती को कोई लाभ प्राप्त हुआ।

भारतीय उत्पाद का वह हिस्सा जो जनता के उपयोग के लिए नहीं था तथा राजनीतिक कारणों से जो इंग्लैंड की ओर उनका उपयोग हो रहा था। उसे हम आर्थिक निकास कह सकते हैं। इस आर्थिक निकास में अंग्रेजी शासन सैनिकों के वेतन, भत्ते भारत द्वारा लिए गए विदेशी ऋणों के ब्याज तथा विदेशी बैंकों और बीमा लाभांश। भारतीय धन के इंग्लैंड को निकास से भारत में धन का संग्रह नहीं हो पाता था। क्योंकि इस पूंजी को ब्रिटिश व्यापार में लगा देते थे। इस व्यवस्था से उन्हें लाभ प्राप्त होता था और इसी से भारत में शोषण बढ़ता जा रहा था। इसके विपरीत भारत में अकाल, सूखा, बाढ़ इत्यादि ने किसानों की स्थिति को और अधिक बिगागड़ दिया था। अकाल में पशु की मौत, धन की कमी, संसाधनों का अभाव के कारण खेती भी नहीं कर पा रहे थे।

इस सब स्थितियों ने एक बुद्धिजीवियों के वर्ग का उदय किया। 19वीं शताब्दी के शुरू में तो इन बुद्धिजीवियों ने अंग्रेजों की नीतियों का समर्थन किया क्योंकि इनका मानना था कि इस अंग्रेजी सरकार की आधुनिक तनकीकियों व आर्थिक व्यवस्था से भारत देश का आधुनिकीकरण हो रहा है। लेकिन 1860 के बाद राष्ट्रीय नेताओं को ब्रिटिश सरकार की आर्थिक शोषण नीतियों का ज्ञान आभाव हुआ कि ये सरकार भारत को लूटने में लगी है, तो राष्ट्रीय नेताओं ने अंग्रेजी की इस नीतियों और आर्थिक शोषण को जनता के सामने रखा। राष्ट्रीय आलोचकों ने अंग्रेजी सरकार अर्थात ब्रिटिश सरकार पर आरोप लआए कि उनके द्वारा अपनाई गई नीतियां पूर्णरूप से भेदभावपूर्ण व असमान है, आर्थिक रूप से ये नीतियां भारत में करों के बोझ से जनता को दबा रही है।

इस कारण स्पष्ट है कि ब्रिटिश सरकार ने भारतीय अर्थव्यवस्था के अंतर्गत अपनी आवश्यकता के अनुसार भारत की व्यापारिक नीतियों का निर्धारण किया हुआ था। इसका परिणाम भारत की कृषि, उद्योग पर पड़ा।

इस प्रकार भारत के ब्रिटिश शासन में फायदे और नुकसान दोनों ही हुए। अंग्रेजों ने भारत में एक ऐसी व्यापार–प्रक्रिया थोपी जिसने भारत का शोघण कर उसे गरीब बना दिया और विकास की संभावनाओं को नष्ट कर दिया।

अपनी प्रगति जांचिए

3. दिल्ली में किराया नियंत्रण अधिनियम कब बना?

(क) सन् 1948 (ख) सन् 1958

(ग) सन् 1968 (घ) सन् 1978

4. ब्रिटिश सरकार ने कितने प्रतिशत पर महालवाड़ी बंदोबस्त लागू किया?

(क) 30 प्रतिशत (ख) 40 प्रतिशत

(ग) 45 प्रतिशत (घ) 50 प्रतिशत

5.4 जनसंख्या

भारत में हमेशा से ही बहुत से आक्रमणकारी आते रहे, जो भारतीयों की विविधता से आश्चर्यचकित थे। इसी शृंखला में ब्रिटिशर्स को भी काफी बाद में यह बात समझ आ गई कि भारत में बेहतर प्रशासन के लिए यहां की विविधता को समझना अत्यन्त आवश्यक है। ब्रिटिश अपनी औपनिवेशिक भावना में अधिक ठोस थे। तब ब्रिटिश सरकार को लगा कि देश के समुचित प्रशासन के लए यह आवश्यक है कि भारत की सामाजिक संरचना को समझे, जो उनके धार्मिक विश्वासों और उनकी रचनाओं के अलावा उनके रीति–रिवाजों और लोगों को समझें। वे विश्व व्यापार की रुचि के अनुसार यहां के पारम्परिक कौशलों का दोहन कर उन शिल्पकारों को अपने प्रयोग में लाना चाहते हैं। विशेषकर सुदूर पूर्व और एशिया में डच, फ्रांसीसी, पुर्तगालियों से प्रतिस्पर्धा सुरूप भी ऐसा करने में तत्पर थे। इसने उन्हें 'मूल निवासी' के पारम्परिक व्यवसाय, शिल्प, मेले, त्यौहारों का अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया। अतः यह कहा जा सकता है कि अंग्रेजों द्वारा संसाधन मानचित्र करने के लिए अपनाए गए विभिन्न कदमों के बीच, भौतिक और मानव दोनों, जनगणना का संचालन करते हुए यह एक महाकाव्य था। 1865 में तत्कालीन सरकार ने इस सिद्धांत से सहमति जताई थी कि 1871 में सामान्य जनसंख्या को लिया जाएगा। यह आधुनिक जनगणना है जिसे 1872 की शताब्दी के रूप में जाना जाता था। तब से प्रत्येक जनगणना दूसरे से बेहतर होती गयी। ये परिवर्तन प्रशासन और नीति निर्माताओं की समय विशेष मांग के साथ मेल खाते हैं। नीति निर्धारण के लिए नीति निर्माता जनगणना के आंकड़ों पर अत्यधिक निर्भर हैं।

5.4.1 जनगणना पूर्व और पश्चात जनसंख्या वृद्धि के अनुमान

जनगणना 10 वर्षों के अंतराल पर देश के सभी व्यक्तियों से सम्बन्धित जन सांख्यिकीय, सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक डेटा एकत्र करने, उनका विश्लेषण और प्रसार करने की प्रक्रिया है। जनसंख्या जनगणना का संचालन निर्विवाद रूप से भारत जैसे देश में शांति के समय का सबसे बड़ा प्रशासनिक अभ्यास है, जहां भौतिक विशेषताओं की बड़ी विविधता मौजूद है। घरों द्वारा जनगणना के माध्यम से एकत्र की गई जानकारी का खजाना, घरेलू सामाजिक–अर्थव्यवस्था के लिए सुविधाएं उपलब्ध हैं और जनसंख्या की सांस्कृतिक विशेषताएं भारतीय जनगणना को योजनाकारों, अनुसंधान

टिप्पणी

विद्वानों, प्रशासकों और अन्य डेटा उपयोगकर्ता का सबसे अमीर स्रोत बनाती है। भारतीय जनगणना की योजना और निष्पादन चुनौतीपूर्ण और आकर्षक है। भारतीय जनगणना भारत के लोगों की विभिन्न विशेषताओं पर विभिन्न सांख्यिकीय जानकारी का सबसे बड़ा एकल स्रोत है। भारत में पहली जनगणना वर्ष 1972 में भारतीय गैर–समकालिक रूप से विभिन्न भागों में की गई थी। यह जनसांख्यिकीय, अर्थशास्त्र, नृविज्ञान, समाजशास्त्र, सांख्यिकीय और अन्य विषयों में विद्वानों और शोधकर्त्ताओं के लिए डेटा का शानदार स्रोत रहा है। भारत को समझने और अध्ययन करने के लिए जो उपकरण बन गए हैं, जो कि सौहार्दपूर्ण जनगणना द्वारा लोगों की समृद्ध विविधता को सही मायने में सामने लाते हैं। यह भारत में 19वीं और 20वीं शताब्दी से सम्बन्धित सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक मुद्दों पर सामग्री का सबसे महत्वपूर्ण स्रोत है।

भारत दुनिया के उन गिने चुने देशों में से एक है, जिसके पास हर दस साल के बाद जनगणना करने का गौरवपूर्ण इतिहास है। भारतीय जनगणना के पीछे बहुत लम्बा इतिहास है। आरम्भिक भारतीय साहित्य 'ऋग्वेद' से पता चलता है कि किसी प्रकार की जनसंख्या गणना को बनाए रखा जाना है। 321–296 ईसा पूर्व के आसपास लिखे गए कौटिल्य के अर्थशास्त्र ने कराधान के उद्देश्य के लिए राज्य नीति के उपाय के रूप में जनगणना पर जोर दिया। मुगल बादशाह अकबर के शासन के दौरान प्रशासनिक पुस्तक आइने–ए–अकबरी में जनसंख्या, स्वास्थ्य, उद्योग, धन और कई अन्य विशेषताओं से सम्बन्धित जानकारी शामिल है। प्राचीन रोम में, कराधान के उद्देश्य से भी जनगणना की गई है।

जनगणना का इतिहास 1800 में इंग्लैण्ड में प्रारम्भ हुआ था। लेकिन उस समय निर्भरता की जनसंख्या ज्ञात नहीं थी। जेम्स प्रिंसेप के दिए गए दिशा–निर्देशों के अनुसार 1824 में इलाहाबाद के शहर में और बनारस शहर में 1827–28 में आयोजित की गई थी। भारतीय शहर की पहली पूर्ण जनगणना 1830 में हेन्री वाल्टर द्वारा ढाका में की गई थी। भारत में दूसरी जनगणना 1836–37 में सेंट जार्ज द्वारा की गई थी। भारत सरकार ने स्थानीय प्रशासन को 1849 की आबादी के पांच साल के वापसी के समय का आदेश दिया। परिणामस्वरूप लोगों के आवधिक स्टॉक की एक प्रणाली का उद्घाटन मद्रास में किया था जो कि शाही जनगणना के आदेश तक जारी थी। ये स्टॉक क्रमशः 1851 से 52, 1856–57, 1861–62 और 1866–67 के दौरान लिया गया था। उत्तर पश्चिमी प्रान्त में वर्ष 1852 में 31 दिसंबर 1852 की रात को सभी लोगों की संख्या के आधार पर जनगणना आयोजित की गई और 1866–77 की द्विवार्षिक जनगणना 1871 की शाही जनगणना में विलय कर दी गई थी।

भारत सरकार के प्रशासन ने इस सिद्धांत पर सहमति व्यक्त की थी कि 1871 में एक सामान्य जनसंख्या जनगणना की जाएगी, लेकिन जनगणना 1866–67 में देश के अधिकांश भाग में प्रमुखों की वास्तविक गणना द्वारा की गई थी, जिसे 1872 की जनगणना के रूप में जाना जाता है। इस जनगणना में उन सभी क्षेत्रों को शामिल नहीं किया गया था जिन पर अंग्रेजों का नियंत्रण था। 1881 की जनगणना 17 फरवरी को डब्ल्यू.सी. पॉलडेन द्वारा की गई, जो भारत के चुनाव आयुक्त थे और यह चुनाव आधुनिक तुल्यकालिक जनगणना की दिशा में एक महान कदम था। इस जनगणना में न केवल पूर्णत पर बल्कि जनसांख्यिकीय, आर्थिक, सामाजिक विशेषताओं के वर्गीकरण पर भी जोर दिया गया। जनगणना ने पूरे ब्रिटिश भारत (केवल कश्मीर

टिप्पणी

को छोड़कर) को लिया जिसमें भारत सरकार के साथ राजनीतिक संबंध में सामंती राज्य भी शामिल है।

भारत में पुर्तगाली औपनिवेशिक प्रभुत्व की एक जनगणना भी उसी समय शुरू हुई थी। वे राज्य थे– बंगाल, उत्तर पश्चिमी प्रान्त, बाम्बे, मद्रास, पंजाब, असम, बारूच, कुर्ग और अजमेर के अलावा, राजपूताना के संबंधित राज्य, मध्य भारत और निज़ाम का प्रभुत्व, मायसोर, बड़ौदा, त्रावणकोर और कोचीन थे। तब से हर 10 वर्ष बाद जनगणना की जाती है। इस प्रकार स्वाभाविक रूप से पूछ सकते हैं कि प्रारम्भिक गिनती को पूरा करने के लिए कानून क्यों आवश्यक माना गया था। सैद्धांतिक रूप से एक विधायी अधिनियम इस कार्रवाई के लिए कड़ाई से आवश्यक नहीं था।

अभी तक इस प्रेरणा पर विचार किया गया था, मुख्य प्रेरणा व्यक्तिगत रूप से जनगणना दोनों को लागू करने और प्रवर्तनीय कर्त्तव्यों और दायित्वों के कानूनी ढांचे के भीतर की गई। यह सभी विशेष रूप से निचले स्तर के जनगणना कर्मचारियों के रूप में आवश्यक था, एक नियम के रूप में, गैर अधिकारी थे और पारंपरिक अनुशासन के तहत नहीं थे। जनगणना का कार्य स्वैच्छिक था।

युद्ध के समय जनगणना– भारत की छठी आम जनगणना 26 फरवरी, 1931 को शुरू हुई थी। इस जनगणना द्वारा पूर्ण लिए गए क्षेत्र 1921 की जनगणना के लगभग समान थे। 1931 की जनगणना भी सविनय अवज्ञा आंदोलन के साथ मेल खाती है। 1930 की जनगणना अनुसूची में 1921 की जनगणना के 16 प्रश्नों के बजाय 18 प्रश्न हैं। जोड़े गए दो नए प्रश्न थे– (क) कमाने वाला या आश्रित (ख) मातृभाषा (जो 1881 में ही पूछा गया था)। दूसरी भाषा के बारे में जानकारी प्राप्त करने के लिए यह प्रश्न कि अन्य भाषा आम है का उपयोग बरकरार रखा गया था। फिर से सम्प्रदाय को धर्म से जोड़ा गया और निकटतम जन्मदिन के संबंध में उम्र का पता लगाया गया। 1941 की जनगणना युद्ध की प्रतिकूल स्थिति के तहत प्रारम्भ हुई। फरवरी, 1940 तक सरकार इस बात पर आश्वस्त नहीं थी कि जनगणना होनी है या नहीं। बाद में तालिकाओं के निर्माण के लिए एक ठोस कार्यक्रम बनाया गया था और बाद में टेबल बनाने के लिए हल किया गया था। इस जनगणना में एक रात की गणना का विचार त्याग दिया गया। 1941 की जनगणना में प्रमुख नवीन विचार यादृच्छिक नमूना का उपयोग करना था और प्रत्येक 50वीं पर्ची को जनगणना में नमूने की वैधता को सूचीबद्ध करने के लिए चिन्हित किया गया। जनगणना अनुसूची के स्थान पर एक व्यक्तिगत पर्ची निकाली गई, जिसमें 22 प्रश्न हैं। प्रश्नों के गठन को काफी हद तक संशोधित किया गया था। 1941 की जनगणना के नए प्रश्न निम्नलिखित हैं–

(i) विवाहित महिलाओं द्वारा जन्म लेने वाले बच्चों की संख्या।

(ii) पहले बच्चे के जन्म के समय महिला की उम्र।

(iii) क्या आप नौकरी करते हैं (क) वेतनधारी सहायक है, (ख) घर के सदस्य, यदि हां तो कितने?

(iv) क्या आप रोजगार की तलाश में हैं (बेरोजगारों के लिए) और आप इसकी तलाश में कितने समय से हैं?

(v) अभी तक आप की शैक्षिक योग्यता क्या है?

टिप्पणी

इसके अलावा साक्षरता का सवाल अलग–अलग तरीके से पूछा गया था, "क्या आप दोनों पढ़ या लिख सकते हैं? यदि हां, तो आप किस लिपि को लिखते हैं? क्या आप केवल पढ़ सकते हैं? पराधीन भारत की यह अंतिम जनगणना थी। निम्न तालिका में वर्ष 1872 से 1941 के बाद से प्रत्येक जनगणना में पूछे गए वर्ष, संदर्भ अवधि और प्रश्न की संख्या को दर्शाया गया है–

क्रम संख्या	जनगणना का वर्ष	संदर्भ अवधि	पूछे गए प्रश्नों की संख्या	निर्धारित अनुसूची
1.	1872	–	17	घर का पंजीकरण
2.	1881	17 फरवरी	12	जनगणना अनुसूची
3.	1891	26 फरवरी	14	जनगणना अनुसूची
4.	1901	1 मार्च	16	जनगणना अनुसूची
5.	1911	10 मार्च	16	जनगणना अनुसूची
6.	1921	18 मार्च	16	जनगणना अनुसूची
7.	1931	26 फरवरी	18	जनगणना अनुसूची
8.	1941	1 मार्च	22	व्यक्तिगत पर्चियां

स्वाधीन भारत की जनगणना– 1941 की जनगणना के बाद भारत 1947 में स्वतंत्र हो गया। स्वास्थ्य के क्षेत्र में युद्ध के बाद के विकास की योजना बनाने के लिए गठित भोर समिति ने जनसंख्या के क्षेत्र की व्यापक समीक्षा की और केंद्र में एक रजिस्टर जनरल की नियुक्ति की सिफारिश की और प्रांतीय स्तर पर जनसंख्या के आंकड़ों की गुणवत्ता में सुधार के लिए एक अधीक्षक नियुक्त किया जाएगा। भोर समिति ने यह भी सिफारिश की कि जनसंख्या समस्या केंद्रीय अध्ययन का विषय होना चाहिए। तदनुसार, 1948 में जनगणना अधिनियम लागू हो गया। स्वतंत्रता के बाद की जनगणना इस अधिनियम के प्रावधानों के अनुसार की गई।

स्वतंत्र भारत की पहली जनगणना 1951 में की गई थी, जो निरंतर श्रृंखला में सातवीं जनगणना थी। जनगणना की गणना अवधि 9 से 28 फरवरी, 1951 थी। तीन दिवसीय पुनर्निरीक्षण दौरा, 1 मार्च से अपडेट की जाने लगी। एक व्यक्ति पर्ची को रद्द कर दिया गया जिनमें 13 प्रश्न थे। विशेष रूप से नाम, संबंध, जन्मस्थान, लिंग, आयु, आर्थिक स्थिति, आजीविका के प्रमुख और सहायक साधन प्रत्येक व्यक्ति के लिए प्राप्त किए गए थे। इस प्रकार स्वतंत्र भारत में प्रत्येक दस वर्षों बाद जनगणना की जाने लगी उसे उससे सम्बन्धित नवीन सुधार व कानून भी बनाए जाने लगे।

भारत की जनसंख्या वृद्धि : 1901 से 2001

जनसंख्या के संदर्भ में चीन भारत से आगे है। विश्व यानी पृथ्वी का मात्र 2.4% हिस्सा ही भारत है, किंतु विश्व की जनसंख्या का 16.7 प्रतिशत भारत में है। भौगोलिक क्षेत्रों के सम्बन्ध में रूस, चीन, कनाडा, ब्राजील, अमेरिका, आस्ट्रेलिया, भारत से काफी बड़े हैं जबकि भारत विश्व में सातवां सबसे बड़ा देश है। चीन के पास विश्व की 7% जमीन

है और विश्व की जनसंख्या का 20% है। 2001 की जनगणना के अनुसार भारत की जनसंख्या 102.7 करोड़ थी, जिसमें 53.1 करोड़ पुरुष और 49.6 करोड़ महिलाओं की जनसंख्या थी। इस प्रकार भारत चीन के बाद 100 करोड़ के पार दुनिया का दूसरा देश था।

1921 में जनसंख्या की कमी हो रही थी, इसे छोड़कर 1901 से भारत की जनसंख्या बढ़ती जा रही थी। यह 1901 में 23.8 करोड़ और 1951 में 36.1 करोड़ से बढ़कर 2001 में 102.7 करोड़ हो गया, जैसे कि आगे एक तालिका–2 में दिखाया गया है। यह तालिका यह बताती है कि 1901 से 1951 के पहले 50 वर्षों के दौरान जनसंख्या में 12.3 करोड़ की वृद्धि हुई जबकि अगले 60 वर्षों में 1951 से 2001 के दौरान यह पांच गुना से अधिक बढ़ गई, यानी 66.6 करोड़। हम भारत की जनसंख्या वृद्धि को चार भागों में विभाजित कर सकते हैं–

(i) 1901–1921 के मध्य जनसंख्या केवल 1.29 करोड़ ही बढ़ी थी। अगर हम इस दशकों को बीच से बांटते हैं तो 1901–11 के दशक की जनसंख्या वृद्धि मात्र 5.75% थी, चूंकि जनसंख्या की प्राकृतिक वृद्धि दर कम थी, किंतु दूसरा दशक 1910–21 में जनसंख्या की वृद्धि दर कम हो गई, जो (–)0.3% था। यह अकाल और महामारी की वजह से उच्च मृत्यु दर (47.2) के कारण था जैसे कि प्लेग, हैजा, मलेरिया, जिसने मानव जीवन को प्रभावित किया था। वर्ष 1921 इसी कारण से महान विभाजन के वर्ष के रूप में जाना जाता है।

भारत की जनसंख्या का आकार व वृद्धि 1901 से 2001

जनगणना वर्ष	कुल (करोड़ में) %	औसत वार्षिक घातीय वर्ष	दशकीय वृद्धि वृद्धि दर (%)
1901	23.84	–	–
1911	25.10	0.56	5.75
1921	25.13	(–)0.03	(–)0.31
1931	27.89	1.04	11.00
1941	31.86	1.33	14.22
1951	36.10	1.25	13.31
1961	43.92	1.96	21.51
1971	54.82	2.20	24.80
1981	68.33	2.22	24.66
1991	84.63	2.14	23.85
2001	102.70	1.93	21.34

(ii) 1921 से 1951 तक जनसंख्या में लगातार वृद्धि हुई। इस वर्ष के दौरान जनसंख्या 1931 में बढ़कर 2.8 करोड़, 1941 में 4 करोड़ और 1951 में बढ़कर 5 करोड़ हो गई। लगातार बढ़ती जनसंख्या का मुख्य कारण इस अवधि में मृत्यु दर में 36.3 से 27.4 और जन्म दर में 46.4 से 39.9 की गिरावट थी।

टिप्पणी

(iii) 1951–81 का वर्ष जनसंख्या वृद्धि का दौर था। 1901 से 1951 से पिछले 50 वर्षों के दौरान लगभग 12 करोड़ की तुलना में 32.5 करोड़ जनसंख्या में वृद्धि हुई। 1981 में जनसंख्या की औसत वार्षिक वृद्धि दर 1.25% से बढ़कर 2.2% हो गई। मृत्यु दर 22.8 से 15% तक गिरावट होने का प्रमुख कारण बेहतर स्वास्थ्य सुविधायें थी। जबकि जन्म दर धीरे–धीरे 41.7 से घटकर 37.2 हो गई। इससे देश में जनसंख्या विस्फोट हुआ।

(iv) 1981 से 2001 के मध्य जनसंख्या वृद्धि का एक निश्चित गिरावट का रुझान दिखाई देता है। 20 वर्षों के दौरान कुल जनसंख्या में 34.37 करोड़ की वृद्धि हुई। लेकिन औसत वार्षिक दर 2001 में घटकर 1.93% हो गई, जबकि 1981 में 2.2 हो गई थी। हालांकि जनसंख्या विस्फोट की प्रवृत्ति अभी भी बनी हुई है।

इस प्रकार उपरोक्त आंकड़े प्रदर्शित करते हैं कि धीरे–धीरे जनसंख्या में वृद्धि हो रही थी, यदि महामारियां न फैलती तो जनसंख्या के आंकड़े कुछ और ही होते। इस जनसंख्या वृद्धि का असर भी दिखाई दे रहा था उस समय भारत में आजादी को संग्राम अपने जोरों पर था। अकाल, महायुद्ध, महामंदी इत्यादि बहुत कुछ घटित हो रहा था, जिसका प्रभाव भी जनसंख्या पर पड़ रहा था।

जनसंख्या वृद्धि का प्रभाव

अंग्रेजी राज के शुरू में भी भारत की जनसंख्या काफी थी हालांकि उसका सही–सही अनुमान लगा पाना बेहद मुश्किल काम है। जनसंख्या का सीधा सम्बन्ध आर्थिक विकास की प्रक्रिया से भी है। अगर देखा जाए तो जनसंख्या एक उत्पादक साधन के रूप में और एक बोझ के रूप में भी साबित हो सकती है। अगर लोगों की औसत उत्पादकता की संख्या के साथ बढ़े जाने से अन्य उत्पादन के साधनों का पहले से ज्यादा कुशल तरीके से इस्तेमाल करने में मदद मिलने लगे तो जनसंख्या एक उत्पादक साधन बन सकती है, किंतु यदि उत्पादन के दूसरे साधनों का पहले ही आभाव हो और अगर जनसंख्या के साथ–साथ श्रम की उत्पादकता न बढ़ रही हो तो जनसंख्या वृद्धि अर्थशास्त्र के लिए बोझ भी बन सकती है।

जनसंख्या का विकास मुख्यता निम्नलिखित तीन कारकों से प्रभावित होता है–

(i) छोटे या बड़े परिवार की आर्थिक तर्क संगतता।

(ii) बड़े या छोटे परिवार को अपनाने के पीछे सामाजिक–सांस्कृतिक संदर्भ और

(iii) किसी व्यवस्था में स्वास्थ्य सेवाओं तथा पोषण का स्तर।

जनसंख्या के लम्बी अवधि के रुझान इन्हीं कारकों से तय होते हैं। जनसांख्यिकीय संक्रमण के सिद्धांत के अनुसार पूर्व–आधुनिक या औद्योगिक काल में अकाल तथा महामारियों के कारण जनसंख्या तेजी से नहीं बढ़ पाती थी क्योंकि मृत्यु दर की अधिकता उसे नीचे खींच लाती थी। प्रथम विश्व युद्ध के बाद भारत में बेहतर स्वास्थ्य सेवाओं के कारण मृत्यु दर काफी तेजी से कम होती है लेकिन जन्म दर में कोई कमी नहीं आती। सामाजिक सांस्कृतिक जीवन मूल्यों के प्रभाव के कारण तथा जन शिक्षा के अभाव में प्रजनन की दरें ज्यादा बनी रहती हैं, जिसके कारण जनसंख्या की तेज वृद्धि दर सार्वजनिक सेवाओं प्राकृतिक संसाधनों की प्रति उपलब्धता तथा संसाधनों के उपयोग करने की विधियों को भी प्रभावित करता है।

टिप्पणी

1. आर्थिक प्रभाव

मालथस सिद्धांत के अनुसार जनसंख्या बढ़ने से प्रतिव्यक्ति खाद्य–सामग्री की उपलब्धता कम होने से अकाल तथा महामारियों के रूप में इसका परिणाम सामने आएगा। जिससे जनसंख्या का स्तर वापस कम हो जाएगा। दूसरे अन्य कई आर्थिक परिवर्तनों के कारण मालथस का यह सिद्धांत फेल हो गया। अगर किसी भी देश में जनसंख्या बढ़ने से प्रति व्यक्ति खाद्यान्न उपलब्धि कम हो जाती है तब भी यातायात के खर्चे कम हो जाने से तथा विदेश व्यापार के विस्तार के कारण विश्व स्तर पर खाद्यान्नों के वितरण की स्थिति सुधर जाने से अन्न का आपूर्ति कम नहीं हुई। दूसरे खाद्य पदार्थों की उपलब्धता कम होने पर भी जनसंख्या इससे समायोजन कर लेती है। जनसंख्या वृद्धि से मजदूरी दरें कम हो सकती हैं तथा भूमि को उत्पादकता पर भी बुरा असर पड़ सकता है। भारत में भी 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही कृषि और भूमि की उत्पादकता कम रही थी, इसके साथ मजदूरी की दरें भी कम हो रही थी। पूर्वी भारत से 1901 के बाद से ही जनसंख्या का घनत्व अपेक्षाकृत ज्यादा था। 19वीं सदी में सिंचाई के विस्तार से कृषि का विस्तार हुआ और बंजर भूमियों को कृषि योग्य बनाया गया था। 20वीं सदी में यह कृषि योग्य भूमि भी कम हो गई तथा चारगाहों व इत्यादि की भूमि भी कम हो गई।

सामूहिक भूमियों के खत्म होने से जल संसाधनों की उपलब्धता भी कम हो गयी। इससे भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भूमि की उत्पादकता कम हो गई। तेजी से बढ़ती जनसंख्या का सार्वजनिक उपयोगिता की सेवाओं जैसे यातायात, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि के ऊपर भी अनावश्यक बोझ बढ़ता जाता है।

जन्म–दर, मृत्यु–दर, जनसंख्या की क्रमिक वृद्धि, औसत आयु, जीविका, गांव और नगरों का अनुपात, ये सब चीजें इतिहासकारों के काम आती हैं क्योंकि अन्य आर्थिक सूचनाओं या आंकड़ों के अभाव में इन चीजों को प्रमाण लिया जाता है और हमारे देश में 1872 से जिस तरह की व्यवस्थित और क्रमिक जनगणना होती रही है वैसी अल्पविकसित देशों में कम ही दिखाई देती है। जनगणना का हिसाब–किताब काफी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। किंतु यह भारत का दुर्भाग्य है लोग जनगणना करने वाले अधिकारियों को सही जानकारी प्रदान नहीं करते जैसे– बच्चों की सही आयु, बुजुर्गों की सही आयु इत्यादि यही हालात शैक्षिक स्तर पर भी है।

2. जनसंख्या

महारानी के शासन आरंभ होने के 15 वर्ष बाद हुई जनगणना से लेकर उनकी मृत्यु के समय अर्थात् 1901 तक का हिसाब से उस समय भारतीय प्रजा की संख्या केवल तीन करोड़ के आसपास बढ़ी थी। अकाल में मरने वालों की संख्या 1 करोड़ 22 लाख थी। अकाल, तरह–तरह की महामारी और शिशु मृत्यु की ऊंची दर आदि कारणों से 1871–1881 के बीच भारतीय प्रजा की औसत अनुमानित आयु 24.6 और 1891–1901 के बीच 23.8 वर्ष। किंतु इन आंकड़ों में मतभेद है। 20 वर्षों बाद, 1901–1921 तक जनसंख्या 2 करोड़ बढ़ी। इस बीच 1904–07 में प्लेग से लाखों लोग मरे, फिर 1905–08 में अकाल से ढाई लाख से ज्यादा और 1918–20 में इन्फ्लुएंजा की बीमारी से 1 करोड़ से ज्यादा (कुछ गणनाओं के आधार पर) लोगों की जान गई। 1921 तक किसी भी दशक में वार्षिक जनसंख्या वृद्धि की दर 1% तक भी नहीं पहुंची, दो–एक दशकों में 1% के दसवें हिस्से के बराबर थी।

भारत की जनसंख्या

वर्ष	संख्या (करोड़)	सरकारी जनगणना के अनुसार औसत वृद्धि (वार्षिक)
1872	20.34	–
1881	25.02	2.07
1891	27.96	1.11
1901	28.39	0.15
1911	30.03	0.65
1921	30.57	0.09
1931	33.82	1.01
1941	38.90	1.40

(स्रोतः किग्स्ले डेविस : पापुलेशन ऑफ इण्डिया एंड पाकिस्तान, 1951)

1921–31 के दशक के 10.5% है, जहां देश की जनसंख्या वृद्धि की दर 1871–1921 के बीच औसत वार्षिक 0.37% थी और 1921–41 में बढ़ कर 1.22% पहुंच गई। इस संदर्भ में लीला बिसारिया द्वारा विभिन्न क्षेत्रों के मध्य विश्लेषण का अध्ययन हमारे लिए लाभकारी होगा–

आंचलिक जनसंख्या वृद्धि की औसत वार्षिक दर

वर्ष	पूर्व	पश्चिम	मध्य	उत्तर	दक्षिण	अखिल भारतीय
1867–1921	0.52	0.14	0.47	0.19	0.47	0.37
1921–1941	1.37	1.30	1.29	1.25	0.92	1.22

स्रोतः लीला व प्रवीण बिसारिया 'कैम्ब्रिज इकनामिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, 1983

इन आंकड़ों से ज्ञात होता है कि 70 वर्षों में पूर्वांचल में अधिक जनसंख्या वृद्धि हुई। पश्चिम और उत्तरी अंचल में कम वृद्धि हुई, दक्षिण तथा मध्य अंचल में अकाल के बावजूद 1921 तक पूरे भारत की औसत जनसंख्या वृद्धि की तुलना में ज्यादा थी। अखिल भारतीय वृद्धि दर का भी यही हाल था।

3. औसत आयु

मृत्यु की ऊंची दर, विशेषकर शिशु–मृत्यु की औसत मृत्यु दर देखकर समझा जा सकता है कि औसत आयु कम हुई थी। ब्रिटिश काल में भारत में औसत आयु की तालिका का अध्ययन कर सकते हैं–

औसत आयु के आंकड़े

वर्ष	जनगणना के सरकारी आंकड़े	संशोधित आंकड़े
1871–81	27.6	–
1881–91	25.1	25.5

1891–1901	23.8	24.3
1901–11	23.0	23.5
1911–21	20.2	23.1
1921–31	26.7	24.8
1931–41	31.7	29.3
1941–47	32.1	32.6

स्रोतः किंग्स्ले डेविस, पृथ्वीस दास गुप्ता

इन आंकड़ों से यह प्रमाणित किया गया कि अंग्रेज शासन के फलस्वरूप देश की उन्नति में गिरावट नहीं आई। यहां न ही राष्ट्रीय आंकड़े मिले, न ही मजदूरों के वेतन का ब्यौरा, किसान की आय, खाने–पहनने के खर्चे, इत्यादि नहीं थे। जनगणना पंजीकरण, जेलखाने के दफ्तर में नत्थी किए गए जन्म मृत्यु के खाते, मनुष्य की औसत लंबाई और वजन, औसत आयु इत्यादि उपलब्ध नहीं हो पाते वहां 'प्राक्सी' अर्थात प्रतिनिधि के माध्यम से काम होता है। 'समर्थ आयु' के आदमियों की तुलना में शिशु और किशोर उम्र के लोगों की संख्या ज्यादा होगी इसके विपरीत औसत आयु जितनी बढ़ेगी उतना ही अधिक लोग उत्पादन में सक्षम आयु वर्ग में होंगे। जैसे– नीचे से आयु (14 वर्ष तक की उम्र के) अनेक लोग, जिनमें ज्यादातर बीच की आयु (15 से 59) तक पहुंचने के पहले ही मर जाते हैं और सबसे ऊपर की आयु (60 वर्ष से अधिक) में स्वभावतः सबसे कम लोग बचे रहते हैं। विभिन्न लोगों की संख्या के आंकड़े नीचे तालिका में दिए जा रहे हैं–

विभिन्न आयु के लोगों की संख्या का अनुपात

उम्र	1881	1901	1921	1941
0–14 वर्ष	38.9	38.6	39.2	38.5
16–51 वर्ष	55.8	56.3	55.5	57.1
60 और उससे अधिक वर्ष	5.3	5.1	5.3	4.4
परावलंबन का सूचक	79.1	77.6	80.1	75.1

उपरोक्त सारणी में 15–59 वर्ष की आयु के सौ लोगों की तुलना में 0–14 वर्ष की आयु और साठ से ऊपर की आयु के मनुष्यों की संख्या दी हुई है। सभी अल्पविकसित देशों में परावंलन सूचक आंकड़े काफी अधिक है और भारत की तरह सभी अल्पविकसित देशों में उत्पादन की क्षमतावली आयु वर्ग के मनुष्यों की संख्या उत्पादन में अक्षम और असमर्थ लोगों की तुलना में कम है किंतु आर्थिक रूप से विकसित देशों में मनुष्य की औसत दर ऊंची है और उत्पादनशील मनुष्यों का अनुपात पूरी जनसंख्या में बढ़ा है। औपनिवेशिक अल्पविकसित व्यवस्था का एक राष्ट्रीय लक्षण ऊंचे परावलम्बन सूचक को माना जा सकता है।

4. उपजीविका के अनुसार पुरुष श्रमशक्ति का विभाजन

यहां पर हम पुरुष श्रमशक्ति को विभाजित करके एक अन्य तालिका के माध्यम से आर्थिक स्थिति का अध्ययन करेंगे।

टिप्पणी

प्रथम वर्ग : कृषक, कृषि श्रमिक, साधारण श्रमिक, चाय, बागान आदि में कार्यरत, मत्स्य जीवी, वनज–उपजीवी।

द्वितीय वर्ग : उद्योग खनिज निष्कासन और निर्माण उद्योग में नियोजित।

तृतीय वर्ग : व्यवसाय, परिवहन, संचार, प्रशासन।

श्रमशक्ति विभाजन

वर्ग विभाजन	1881	1911	1951
प्रथम वर्ग	72.4%	73.8%	73.2%
द्वितीय वर्ग	11.2%	10.6%	10.9%
तृतीय वर्ग	16.4%	15.5%	15.8%

उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि कृषि से सम्बन्धित प्रथम वर्ग में बढ़ोत्तरी तथा उद्योग से सम्बन्धित द्वितीय वर्ग से पतन स्पष्ट है, इसका कारण 1881 से पहले ही निरूद्योगीकरण के फलस्वरूप पुराने उद्योग की क्षति थी। इस तालिका से यह तो स्पष्ट है कि औपनिवेशिक काल में देश की वार्षिक गतिहीनता आगे के सात दशकों में कोई विशेष परिवर्तन न कर सके।

5. पेशा

यह सत्य है कि हमारे देश में आंकड़े बहुत अधिक विश्वसनीय नहीं है। डेनियल आर्थर के अनुसार, "भारत की जनगणनाओं में पश्चिमी ढंग का श्रेणी विभाजन अनुचित तरीके से हुआ था, क्योंकि इसका आधार उन्नत पश्चिमी पूंजीवादी देशों का श्रम विभाजन था, जो पिछड़े हुए औपनिवेशिक भारत में लागू नहीं होता।" विभिन्न जनगणनाओं सरकारी पदों के भिन्न–भिन्न मतानुसार भिन्न प्रकार से वर्गीकरण किया गया, जिसके फलस्वरूप एक दशक के आंकड़ों की तुलना दूसरे दशक से करना कठिन है। 19वीं शताब्दी में जनगणना का आधार 'व्यक्ति किस उप–जीविका' पर निर्भर है पर आधारित है। किंतु 20वीं शताब्दी में यह आधार बदल दिया गया, अब आधार यह था कि 'व्यक्ति किस उपजीविका में नियोजित है। परिणामस्वरूप तुलनात्मक निष्कर्ष ठीक नहीं निकल सकता, क्योंकि उपजीविका का अत्यन्त सूक्ष्म विभाजन करने में अनेक मामलों में गड़बड़ियां मिली हैं।

इस जनसंख्या के बढ़ाव से सारे आंकड़े हिल गए। जनसंख्या का एक ओर प्रभाव आर्थिक स्थिति पर पड़ रहा था, जहां एक और औद्योगीकरण से ही लोग बेरोजगार हो गए, साथ ही बढ़ती जनसंख्या से बेरोजगारी और बढ़ रही थी। स्वतंत्रता के पूर्व के भी समस्त आंकड़ों पर आंख बंद करके विश्वास नहीं किया जा सकता। किंतु फिर भी इस आंकड़ों के तहत ही हमें उपरोक्त समस्त जानकारी प्राप्त होती है।

5.4.2 वि–शहरीकरण विवाद

शहरी क्षेत्रों की आर्थिक गिरावट और जनसंख्या आंदोलन की प्रक्रिया को सामूहिक रूप से वि–शहरीकरण कहा जाता है। ब्रिटिश शासकों के भारत आने से पूर्व भी भारत में विदेशी शासकों द्वारा नए शहरों को अपनी सुख सुविधाओं के लिए बसाया गया। इसी प्रकार भारतीय शहरों के लिए ब्रिटिश योजना गंभीर आंतरिक विरोधाभासों के अंतर्गत

कार्यरत थी। एक औपनिवेशिक शक्ति के रूप में ब्रिटेन ने भारत पर शासन अपने स्वयं के लाभों के लिए किया, फिर शहरी प्रशासन से सम्बन्धित समस्त मुद्दों पर ध्यान देना पड़ा। जैसे– शहरी क्षेत्रों का डिजाइन और नियंत्रण, जल प्रबन्धन, सीवरेज, सड़कें, सड़कों पर रोशनी इत्यादि। वे क्षेत्र जहां भारतीय और खासकर गरीब भारतीय रहा करते थे अर्थात 'अश्वेत बस्तियां' वहां उन्होंने निम्नतम करारोपण तथा निम्नतम व्यय के साथ इन सुविधाओं को लागू किया। औपनिवेशिक शासन की प्रशासनिक विरासतें कम मूर्त थी, परंतु समान रूप से महत्वपूर्ण थी। इससे चयनित अधिकारियों की तुलना में नियुक्त अफसरशाहों को अधिक शक्ति देना, नगरीय सरकार की राज्य और राष्ट्रीय सत्ता के तहत अधीनता, प्रसिद्ध अनुक्षेत्र का प्रयोग खासकर झुग्गियां हटाने हेतु नागरिक आवश्यकताओं के बावजूद निम्न कर नीति, नगरीय सेवाओं के ठेके देने में संरक्षण का एक प्रारूप तथा अप्रवासी शहरी भीड़ की सर्ववृद्धिमान आधारभूत आवश्यकताओं की बजाय सरकार तथा कुलीनों के लिए प्रभावशाली शैली तथा वास्तु शिल्प पर अधिक जोर देना शामिल था।

औपनिवेशिक भारत में शहरीकरण की प्रक्रिया में तीन शहर मद्रास, कलकत्ता, बम्बई थे, जो मूलतः मत्स्य तथा बुनाई के गांव थे। ये तीन शहर कंपनी की व्यापारिक गतिविधियों के कारण व्यापार के महत्वपूर्ण केंद्र बन गए। कंपनी के एजेंट 1639 में मद्रास तथा 1690 में कलकत्ता में बस गए। 1661 में बम्बई को ब्रिटेन के राजा ने कंपनी को दे दिया था, जिसे उसने पुर्तगाल के शासक से अपनी पत्नी के दहेज के रूप में प्राप्त किया था।

कंपनी ने इन तीन बस्तियों में व्यापारिक तथा प्रशासनिक कार्यालय स्थापित किए। यही कस्बे 19वीं शताब्दी में बड़े समृद्ध शहर बन गए थे और यहीं से कंपनी शासकों ने भारत पर शासन किया और साथ व्यापारिक गतिविधियों के केंद्र भी बनाए गए, यही शहर बाद में राजनीतिक प्रभुत्व के रूप में भी प्रयोग में लाए गए। भारत में स्थित पुराने कस्बों के नक्शे और इन तीनों के नक्शों में काफी अंतर था। इन तीनों शहरों के भवनों के निर्माण में औपनिवेशिक उद्भव की छाप थी।

पूर्व औपनिवेशिक भारतीय शहर

हम ब्रिटिश कालीन शहरों के अध्ययन से पूर्व हम पूर्व औपनिवेशिक भारत में शहरों के बारे में अध्ययन करेंगे। गांधी जी ने कहा था कि "भारत का दर्शन करना है, तो गांव में जाओ।" तो हम पहले गांव व कस्बों से गुजरेंगे। कस्बों को हम शहरों से थोड़ा छोटा रूप में समझ सकते हैं। ये कस्बें विशेष प्रकार की आर्थिक गतिविधियों और सांस्कृतिक गतिविधियों के केंद्र माने जाते थे। कस्बे के लोग शिल्पकार, व्यापारी, प्रशासक तथा शासक रहते थे। कस्बों का ग्रामीण जनता पर प्रभुत्व होता था और वे खेती से प्राप्त करों और अधिशेष के आधार पर फलते–फलते थे। ग्रामीण क्षेत्रों को अलग से प्रदर्शित कर मुख्यतः कस्बों और शहरों की किलेबंदी की जाती थी। जो ग्रामीण क्षेत्रों से इनकी प्रथक्ता को अनिश्चित होती थी। किसानों को तीर्थ करने व इत्यादि के लिए कस्बों से ही गुजरना होता था। विपरीत परिस्थितियों जैसे आकाल में वे कस्बों में जमा हो जाते थे और कस्बों पर आक्रमण होने की स्थिति में वे गांवों की शरण लेते थे। कस्बों से ही फेरे वाले व विभिन्न प्रकार के व्यापारी अपने माल को बेचने गांवों में जाते थे, इसी से बाजारों का फैलाव और उपभोग की नई शैलियों का सृजन होता था।

कुछ मुगल शासक भी थे जो स्थापत्य के शौकीन थे, उस काल में विशाल भवन, इमारतें आदि बनवाए गए थे। आगरा, दिल्ली और लाहौर शाही प्रशासन और सत्ता के महत्वपूर्ण केंद्र थे। दक्षिण भारत का शहरीकरण थोड़ा भिन्न था। दक्षिण भारत के प्रमुख नगर मदुरई और कांचीपुरम थे, जिनका मुख्य केंद्र मंदिर होते थे। इतिहास में यह नगर महत्वपूर्ण व्यापारिक केंद्र हुआ करते थे। तीर्थ व व्यापार मुख्यतः धार्मिक मेले व उत्सवों के साथ हुआ करते थे। शासक ही धार्मिक संस्थानों का सबसे ऊंचा अधिकारी और संरक्षक भी था जो अपने साथ शहर के अन्य समूहों व वर्गों का संबंध निर्धारित करता था।

औपनिवेशिक कालीन शहरीकरण

उस समय के तीन प्रमुख शहर कलकत्ता, मद्रास, बम्बई जहां से अंग्रेजों का प्रशासन व व्यापारिक शासन संचालित किया जाता था। यहां तक कि ये प्रेसीडेंसी शहरों के बीच थी, जिन्हें अंग्रेजों ने अपेक्षाकृत निम्नतम देशज आधार पर, बल्कि मोटे तौर पर पूर्णरूपेण निर्मित किया। इन शहरों का केंद्रीय भाग वह स्थान होता था जो अंग्रेजों द्वारा शासित, प्रारूपित तथा काबिज होता था– बंबई तथा मद्रास में सेंट जार्ज पर नामित किले तथा कलकत्ता में विलियम तृतीय का किला। 'सिविल–लाइन्स' उन क्षेत्रों को कहा जाता था, जहां ब्रिटिश रहते थे, वे वास्तविक किले में अंदर रहते थे जो पूर्ण रूप से आसपास मजबूती से रक्षित क्षेत्र था। इन क्षेत्रों में दुकानें, घर, चर्च तथा प्रशासनिक व वाणिज्यिक मुख्यालय भी बनवाए गए थे। इसी परिपेक्ष्य में फोर्ट सेंट जार्ज एक नगर की भांति ही बसाया गया था। पास में ही सेना का एक ऐसा क्षेत्र बसाया गया था जिसे कैटोनमेंट या कैप कहा गया है। जिन क्षेत्रों में भारतीय निवास करते थे उन क्षेत्रों को देशज या अश्वेत बस्ती कहा जाता था।

कुछ ऐसे शहर भी थे जहां अंग्रेजों की संख्या अधिक थी, वहां विशाल छावनियां तथा सिविल लाइंस की स्थापना की गई थी जैसे– दिल्ली, बंगलौर, सिकंदराबाद तथा जहां अंग्रेजों की संख्या सीमित थी वहां छोटी सैनिक टुकड़ियां व नागरिकों के निवास भी थे जैसे– अहमदाबाद। उस समय के ब्रिटिश क्षेत्र व भारतीय क्षेत्रों में काफी विभिन्नताएं थी। इस संदर्भ में राजनारायण चंदावर लिखते हैं– "18वीं सदी के बम्बई में मुख्य भौगोलिक विभाजन इसकी दो विभिन्न सीमाओं, अंग्रेज तथा अश्वेत" के बीच था। (चंदावर, 1994:40) एंथनी किंग ने शहरी भारत के इस नस्लीय विभाजन को अधिक सामान्य रूप से दर्ज किया है, परंतु वह यह भी दर्शाता है कि श्वेत तथा अश्वेत के बीच का विभाजन प्रायः धुंधला था। (किंग 1976)। 1800 के आस–पास जब बंबई ने भारतीय व्यवसायियों को किला क्षेत्र से बाहर निकालने की कोशिश की तब कई ने जाने से मना कर दिया तथा सरकार ने यह भी स्वीकार किया कि उन्हें जाने के लिए मजबूर करने हेतु कानूनी उपायों, विस्तृत भूमि प्रयोग तथा सम्पत्ति रिकार्ड की कमी है। (डोसाल : 2010:57–8)

सिद्धार्थ, सेन मरियम डोसाल और जॉन आर्चर ने दर्शाया है कि उपनगर किला क्षेत्रों की अपेक्षा विशिष्ट रूप में काफी कम नस्लीय थे। (सेन, 2010 : डोसाल, 2010 आर्चर, 1997) ऐसे कुछ यूरोपीय अधिकारी, व्यापारी और इनके साथ–साथ कुछ भारतीय समृद्ध परिवारों ने मिलकर एक ऐसा कुलीन वर्ग स्थापित किया था जो प्रभावशाली भारतीयों के साथ मिलकर उन स्थानों पर रहते थे जहां यूरोपीय का प्रभुत्व होता था, जैसे– मालबार, कुबला पहाड़ियां इत्यादि (चंदावर, 1994:41)

कलकत्ता में हालांकि किलाक्षेत्र यूरोपीय था, फिर भी श्वेत शहर की कुछ भूमि के स्वामी भारतीय थे, जिन्होंने अंग्रेजों को किराए पर दिया था। (चटर्जी, 2012:6) बालीगंज यूरोपीयों के निवास के लिए अन्य प्रसिद्ध स्थान था, सुस्थापित तथा महत्वाकांक्षी भारतीय जिनके सरकार से सम्बन्ध थे, वे भी यहां बस गए थे। (दत्ता, 2012:177)। पत्तनों की राजधानियों में तथा किले के चारों ओर वे उसके आस–पास के समस्त क्षेत्र मुख्यतः अंतर नस्लीय अंतक्रियाओं वाले क्षेत्र थे, 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के लाहौर तथा उसके समेकित सिविल स्टेशनों के बारे में लिखते हुए विलियम ग्लोवर का तर्क है कि ब्रिटिश चाहते थे कि भारतीय उपनगरीय अनुभव को साझा करें। इसका लक्ष्य सरासर एक नए तरह के व्यक्ति का निर्माण करना था तथा इस कार्य के लिए भौतिक पर्यावरण को महत्वपूर्ण माना गया (ग्लोवर, 2008:199)। मोटे तौर पर वे सफल रहे क्योंकि प्रकाश टंडन ने 1930 तथा 1940 के दशक के लाहौर का दो शहरों के रूप में वर्णन किया है, वे लोग जो प्राचीन किले की परिधि के अंदर रहते थे तथा लाहौर की उप–नगरीय घेरा जो तक विकसित हुआ जब इस शहर ने नई शांति तथा व्यवस्था के प्रति सहमति थी, दोनों लाहौर बाह्य स्वरूप तथा चरित्र में काफी अलग थे। (टंडन, 1968:183)।

1857 के विद्रोह के पश्चात् ब्रिटिश काफी चौकन्ने हो गए थे, ब्रिटिशर्स के अनुसार दो ऐसे स्थान जो विद्रोही प्रतिक्रियाओं के लिए जाने जाते हैं, वे हैं दिल्ली और लखनऊ। इन स्थानों द्वारा विद्रोह की स्थिति को देखते हुए दिल्ली की संपूर्ण भारतीय जनसंख्या को निष्कासित कर दिया गया और कहा गया कि जो मुसलमान अपनी सम्पत्ति वापस चाहते थे उन्हें उसकी कीमत अदा करनी पड़ेगी। शायर गालिब ने 1858 में शोक प्रकट करते हुए लिखा था, "कहां है दिल्ली, या खुदा, यह अब एक शहर नहीं है, यह एक कैंप है। यह एक छावनी है। यहां कोई महल, कोई बाज़ार, कोई नहर नहीं है। (गुप्ता से उद्धृत, 1971:63)। ज्योति होसाग्रहर का तर्क है कि दिल्ली की परंपरागत हवेलियों, सार्वजनिक स्थानों, घरों के संकुलों तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य की धारणाओं का ब्रिटिश प्रारूपों में नहीं बल्कि नए सम्मिश्रणों में संक्रमण हुआ नए प्रयोगों में रूपांतरण का परिणाम था। (होसाग्रहर, 2005)

वि–शहरीकरण पर परिचर्चा

आर्थिक और सामाजिक जीवन में शहरीकरण एक बड़ी चीज है। पहली नजर में ऐसा लगता है कि शहर अंग्रेजी शासनकाल में बढ़े हैं। वास्तविक जनगणना यह दिखाती है कि कुल जनसंख्या की तुलना में 1921 तक शहरवासियों का अनुपात जरा भी नहीं बढ़ा और उसके बाद भी बहुत धीमी गति से बढ़ा है। इसके अलावा अर्थनीति और सांस्कृतिक दृष्टि से शहरीकरण इतना महत्वपूर्ण है कि इस संदर्भ की काफी जांच–पड़ताल की गई। विभिन्न खोजकत्ताओं ने 19वीं व 20वीं शताब्दी में विभिन्न भारतीयों नगरों का इतिहास लिखा है। ऑस्ट्रेलिया में जिन विद्वानों ने इस विषय पर काम किया है, विशेषकर कैनबरा में उन्होंने शहरी समाज के निहित स्वार्थ, सामाजिक दलों और रासायनिक दलों को लेकर काम किया है। औपनिवेशिक शासन काल के शहरों में संस्कृति के साथ उपनिवेशपूर्ण के शहरों के सांस्कृतिक अंतर को तुलनात्मक आधार पर मूल्यांकित करने की एकमात्र कोशिश मिल्टन सिंगर और शिकागो के उनके छात्रों ने मद्रास के संदर्भ में की है, मगर वह शहर के सांस्कृतिक पक्ष तक ही सीमित है।

टिप्पणी

सर्वप्रथम हुई जनगणना से प्रमाणित होता है कि 1881 से 1941 के बीच औपनिवेशिक महानगरों के निर्माण के साथ–साथ शहरों का प्रसार उसी अनुपात में नहीं हुआ और कुल जनसंख्या के अनुपात के हिसाब से शहरी बाशिंदो की संख्या नहीं बढ़ी। हालांकि साधारण रूप से हम देख सकते हैं कि अंग्रेजी शासन काल में बड़े–बड़े शहर निर्मित हुए। हम इसे शहरीकरण कहते हैं, पर जनगणनाविदों के लिए शहरीकरण का अर्थ है ग्रामीण जनसंख्या की तुलना में शहरी बाशिंदों की अनुपातिक वृद्धि। इस दृष्टि से ज्ञात होता है कि नगरों का विस्तार कुछ खास नहीं हुआ।

भारत में नगरीयकरण

(1881–1941)

वर्ष	नगरवासियों की संख्या	कुल जनसंख्या के % में नगर वासी
1891	2.67	9.4
1901	2.82	10.0
1911	2.86	9.4
1921	3.11	10.2
1931	3.75	11.1
1941	4.97	12.8

18वीं शताब्दी के अंतिम दशकों से पुराने नगर नहीं बढ़े। अनेक नगरों में जनसंख्या काफी कम हो गई। इस बात का प्रमाण, ढाका, मुर्शिदाबाद में जनसंख्या बुरी तरह कम हुई। इरफान हबीब के अनुसार इसे वि–नगरीकरण कहा जाएगा। किंतु इस बात का प्रमाण नहीं है कि इस जनसंख्या के हिसाब से यह नगरीकरण हुआ था। यह देखने में मिलता है कि पुराने शासन केंद्रों अथवा वाणिज्य के केंद्रों के स्थान पर नए केंद्र निर्मित होने लगे। उन सभी शहरों में जहां 19वीं शताब्दी के पूर्वार्ध से जनसंख्या बढ़ रही थी। 19वीं शताब्दी की गणनाओं को देखने से लगता है कि विनगरीकरण कम हुआ था, इसका कारण यह था कि नगरीकरण और औद्योगीकरण दोनों को मिलाकर यह मान लिया गया कि 19वीं शताब्दी के पहले भाग में चूंकि निरूद्यौगीकरण हुआ है, अतएव निश्चय ही विनगरीकरण भी हुआ है, किंतु उस समय के उद्योगों में नियोजित कारीगरी में से अधिकांश ग्रामीण थे, इसलिए निरूद्योगीकरण और विनगरीकरण का यह समीकरण अमान्य हो जाता है। अतः ऐसा लगता है कि जो तस्वीर ज्ञात हो रही है, वह नगरीकरण की प्रगति नहीं है, बल्कि प्रायः एक ही जगह पर कदमताल करने की है।

दूसरे, औपनिवेशिक ढंग का एक और पक्ष है– औद्योगीकरण के बिना नगरीकरण, जो पश्चिमी धारा के ठीक विपरीत है। नये महानगर वाणिज्य और प्रशासन के केन्द्रों के रूप में उठ खड़े हुए। कल–कारखाने कहीं–कहीं पर कभी–कभी महानगरों के बीच या आसपास उठ खड़े हुए। देश के भीतरी हिस्सों के बीच कृषि–उत्पादन की खरीद और वितरण तथा औद्योगिक पदार्थों के विक्रय के क्षेत्रों से बंदरगाहों तक एक पुल का निर्माण 1854 में रेलपथ द्वारा किया जाना था। विदेशी निर्यात के लिए परिवहन व्यवसायिक तथा व्यापारिक सुविधाएं उपलब्ध होने से इन सब नगर में जूट, रूई आदि

का निर्यात होते रहने से अगर उन्हीं स्थानों पर कारखाने लगाए जाए तो उनके लिए कच्चा माल आसानी से और सस्ती दरों पर पाया जा सकता है। साथ ही दूसरी स्थानीय सुविधाएं उपलब्ध थी। कलकत्ता, बम्बई, मद्रास ये तीन प्रेसिडेंसी के केंद्र थे। इसके अलावा छोटे राष्ट्रीय नगर थे, जैसे– कानपुर, अहमदाबाद जो निश्चित औद्योगिक नगरों के रूप में विकसित हुए थे।

कुछ शहरों ने ब्रिटिश शासन के साथ सामंजस्य स्थापित करने के तरीके ढूंढ लिए थे। अहमदाबाद एक पूर्ववर्ती तथा महत्वपूर्ण शहर का उदाहरण प्रस्तुत करता है, जिसमें केवल कुछ ब्रिटिश अधिकारी ही कार्य करने तथा रहने के लिए आए। तृतीय मराठा युद्ध के पश्चात् ब्रिटिशर्स अपना प्रादेशिक मुख्यालय बड़ौदा से अहमदाबाद स्थानान्तरित कर दिया। 1832 में यहां एक छावनी की स्थापना की जिसमें रिहायशी सुविधाएं तथा प्रशासनिक कार्यालय भी थे। अहमदाबाद की शुरुआती स्थानीय पहल हालांकि असामान्य थी। राष्ट्रीय स्तर पर नगरीय प्रशासन के लिए और व्यापक कानूनों की आवश्यकता थी। ईस्ट इण्डिया कंपनी ने 'इम्प्रूवमेंट इन टाउन एक्ट' पारित किया गया, जिसने नगरपालिका आयोगों के समर्थन में योगदान का आह्वाहन किया। 1830 में अहमदाबाद के प्रमुख नागरिकों को नगर की दीवारों की मरम्मत तथा नगरीय शुल्कों में लघु वृद्धि द्वारा कोष संग्रहण के लिए एक टाउन हाल कमेटी की स्थापना हेतु ब्रिटिश अनुमति प्राप्त हुई। 1849 में साबरमती नदी से नगर के केंद्र मानिक चौक तक पाइपों द्वारा जलापूर्ति की गई। निम्न जातियों के लिए अलग से जल पंपों तथा शौचालयों की स्थापना की गई। राष्ट्रीय स्तर पर नगरीय प्रशासन के लिए और व्यापक कानूनों की आवश्यकता थी। शुरुआत में ब्रिटिश शासकों द्वारा मनोनीत व्यक्तियों का ही नगरपालिकाओं पर नियंत्रण था। बाद में खासकर 1882 के बाद, शहर की भारतीय जनसंख्या में से भी चयनित सदस्यों के लिए नगरपालिकायें खोल दी गयी।

1882 के अपने प्रस्ताव द्वारा वायसराय लार्ड रिपन ने स्थानीय स्वाशासन के सिद्धांत का प्रसार ब्रिटिश शासन के अधीनस्थ सभी नगरपालिकाओं में कर दिया। हालांकि नगरपालिका का आयुक्त ब्रिटिश अधिकारी ही होता था। नागरिक सुरक्षा एजेंडा का मात्र एक भाग था; कर संग्रहण का भार अंग्रेजों से भारतीयों पर स्थानान्तरित करना इसका दूसरा पहलू था। अधिकतर नागरिक कर अदा नहीं करना चाहते थे, क्योंकि इसमें उन्हें कोई लाभ नहीं दिखता था। कई लेखकों जैसे– मरियम डोसाल (बंबई पर), नारायणी गुप्ता (दिल्ली पर) और सूसन लैवान्डोवस्की (मद्रास पर) ने नगरपालिका में कोषों की कमी तथा वे भाग जहां गरीबों ने प्रवास किया, उनकी तरफ बिल्कुल भी ध्यान न दिए जाने की ओर ध्यान आकर्षित किया।

निष्कर्ष– सामान्यतः 19वीं सदी के अंत तक ब्रिटिश मुख्यतः शहर के अपने क्षेत्रों के बारे में ही चिन्हित थे– प्रशासनिक मुख्यालय, छावनी, सिविल लाइन्स और औद्योगिक पत्तन क्षेत्र थे। उन्होंने देशज शहरों में कुछ नई इमारतें तथा संस्थान स्थापित किए, पुराने क्षेत्रों से कुछ नई सड़कें गुजरी, नवीन जल तथा सीवेज सुविधाएं प्रदान की, परंतु पूर्ण रूप में शहर के साथ वे न ही जुड़ पाए और न ही वे जुड़ सकते थे।

5.4.3 जनसांख्यिकीय परिवर्तन में रुझान

जनसंख्या का जननांकीय परिवर्तन सिद्धांत (Theory of demography of transition) यह कहता है कि किसी देश जनसंख्या आर्थिक विकास के स्थितियों के अनुसार चार

टिप्पणी

अवस्थाओं से गुजरती है जिन्हें जननांकीय चक्र कहते हैं। पहली अवस्था अविकसित देशों में जहां जन्म और मृत्यु दर दोनों अधिक होता है और परिणामतः जनसंख्या वृद्धि दर कम होती है। दूसरी अवस्था विकासशील देशों में होती है जहां स्वास्थ्य सुविधाओं के विकास के कारण मृत्यु दर घट जाती है और परिणामतः जनसंख्या वृद्धि तेज गति से होती है। तीसरी अवस्था विकसित देशों में है जहां मृत्यु दर और भी कम हो जाती है और जन्म दर भी पूर्व से घटती हुई होती है। इससे जनसंख्या वृद्धि घटने लगती है। चौथी अवस्था अत्यन्त विकसित देशों की है जहां जीवन स्तर ऊंचा हो जाता है और जन्म दर सामाजिक सम्बन्धों के बिखराव के कारण अत्यन्त कम हो जाती है। किंतु मृत्यु स्वाभाविक है। इसलिए जनसंख्या में कमी होने लगती है। यदि हम भारत की बात करें तो औसतन हमें दूसरे चरण में माना जाता है। जहां जन्मदर अधिक और मृत्यु दर कम होने से जनसंख्या तेजी से बढ़ रही होती है।

किंतु यदि गौर करें तो ये चारों अवस्थायें हमारे देश में ही मिलती है। सुदूर ग्रामीण क्षेत्रों में भारत को जनसंख्या विकास की पहली अवस्था में पाते हैं जहां अधिक जन्म दर और मृत्यु दर भी अधिक है, लिहाजा जनसंख्या वृद्धि अत्यन्त कम है। फिर वही जब हम शहरों के बगल में स्थित गांवों में जाते हैं तो पाते हैं जहां जन्म दर अधिक और मृत्यु दर भी अधिक है, तो जनसंख्या वृद्धि भी अत्यन्त कम है। इसके बाद शहरों के पास के गांव में लोग स्वास्थ्य सुविधाओं का प्रयोग कर मृत्यु दर कम कर चुके हैं किंतु अशिक्षित होने के कारण जन्म दर बढ़ी हुई है, इसलिए जनसंख्या बढ़ रही है। तीसरी अवस्था शहरों की है जहां शिक्षित होने के कारण जन्म दर कम है, स्वास्थ्य सुविधाओं के कारण मृत्यु दर भी कम है। अब चौथी अवस्था महानगरों के धनाड्य घरों की है जहां विलासी जीवन, बच्चों की जिम्मेदारी न लेने, तलाक, शादी न करना इत्यादि के कारण जन्म दर लगभग शून्य है। इस प्रकार भारत में जनांनकीय परिवर्तन की गंभीर स्थिति है।

औपनिवेशिक शहरी आंकड़े– औपनिवेशिक शासन सरकारी आंकड़ों पर टिका था। उन्होंने व्यवसाय को सुचारु रूप से बनाए रखने के लिए व प्रशासनिक कार्यों का सही ठीक रख–रखाव के लिए विस्तृत ब्यौरा रखा था। जिस प्रकार शहरों की संख्या बढ़ रही थी, उस आंकड़ों पर नजर रखना, उनका ब्यौरा इकट्ठा करना इत्यादि। वे नियमित रूप से करते थे। वे नियमित रूप से सर्वेक्षण करके सांख्यिकीय आंकड़े इकट्ठा करते थे और विभिन्न प्रकार की सरकारी रिपोर्ट प्रकाशित करते थे। औपनिवेशिक सरकार ने मानचित्र तैयार करने पर विशेष ध्यान दिया था। उनका मानना था कि इन जानकारी के सहारे वे इलाके पर ज्यादा बेहतर नियन्त्रण कायम कर सकता है। जब शहर बढ़ने लगे तो न केवल उनके विकास की योजना तैयार करने के लिए बल्कि व्यवसाय को विकसित करने और अपनी सत्ता मजबूत करने के लिए भी नक्शे बनाए जाने लगे।

शहरों के फैलाव पर नज़र रखने के लिए नियमित रूप से लोगों की गिनती की जाती थी। 19वीं सदी के मध्य तक विभिन्न क्षेत्रों की कई जगह स्थानीय स्तर पर जनगणना की जा चुकी थी। अखिल भारतीय जनगणना का पहला प्रयास 1872 में किया गया। इसके पश्चात् प्रत्येक 10 वर्षों में नियमित जनगणना की जाने लगी। भारत में शहरीकरण का अध्ययन करने के लिये जनगणना से निकले आंकड़े एक बहुमूल्य

स्रोत हैं। बीमारियों से होने वाली मौतों की सारणी का अन्तहीन सिलसिला या उम्र, लिंग, जाति एवं व्यवसायों के अनुसार लोगों को गिनने की व्यवस्था से संख्याओं का एक विशाल भंडार मिलता है। जिससे सटीकता का भ्रम पैदा होता जाता है किंतु इतिहासकारों के अनुसार कभी–कभी ये आंकड़े भ्रामक भी हो सकते हैं। इतिहासकारों के अनुसार इन आंकड़ों का प्रयोग में लाने से पहले यह भली प्रकार से समझ लेना चाहिए कि यह आंकड़े कब, क्यों और कैसे इकट्ठा किए गए हैं। जनसंख्या के सामाजिक आंकड़ों के लिए जनगणना एक सुगम साधन थी। किंतु इन आंकड़ों को एकत्र करते समय कई प्रकार के भ्रम थे। जनगणना अधिकारियों द्वारा आबादी को विभिन्न वर्गीकरण करने के लिए अलग–अलग श्रेणियां बना दी थी। कई बार लोग इन अधिकारियों की सहायता ठीक से नहीं करते थे। जैसे– बहुधा लोग खुद भी इस प्रक्रिया में मदद देने से इनकार कर देते थे। या फिर कई बार ऐसा भी हुआ कि जनगणना आयुक्तों को गलत जवाब देते थे। लोग जनगणना को भली–भांति समझ नहीं सके, वे समझते थे कि ब्रिटिश सरकार नए करों को लागू करने के छानबीन करने हेतु पूछताछ कर रही है, इसलिए वे सही जानकारी नहीं देते थे। इसी प्रकार ऊंची जाति के लोग महिलाओं के विषय में कोई भी जानकारी नहीं देते थे। कई बार लोग मजदूरी करते थे और पूछताछ में स्वयं को व्यापारी बताते थे जिससे उनकी हैसियत ऊंची मानी जाए। इसी तरह से मृत्यु दर और बीमारियों के आंकड़े भी इकट्ठा नहीं हो पाते थे। बीमार पड़ने पर प्रायः लोग जानकारी नहीं दिया करते थे और बिना लाइसेंस वाले डॉक्टरों से इलाज कराते थे, इसलिए बीमारी से मरने वालों का ठीक–ठीक आंकड़े मिलना संभव नहीं था।

इस प्रकार यह समझा जा सकता है कि औपनिवेशिक कालीन आकड़ों पूर्वतः सही नहीं हो सकते थे, क्योंकि ब्रिटिश कम्पनी द्वारा प्रारम्भ से जनता के प्रति रूखा व्यवहार था, जिससे जनता अब उन किसी भी प्रकार से विश्वास नहीं करती थी और इसलिये ही जनगणना अधिकारियों को वे सही आंकड़े नहीं बताते थे। 1900 ई. से 1940 के बीच 40 सालों के बीच शहरी आबादी 10% से बढ़ कर लगभग 13% हो गई।

जनसंख्या और आर्थिक विकास

जनसंख्या वृद्धि तथा आर्थिक विकास के पारस्परिक संबंध को जनांकीय परिवर्तन के सिद्धांत को विश्लेषित किया जा सकता है, ये विकसित अर्थव्यवस्था जनसंख्या वृद्धि की तीन चरणों में विभाजित किया जा सकता है–

(i) प्रथम चरण या निम्न जनसंख्या वृद्धि : निम्न जनसंख्या वृद्धि का कारण उच्च मृत्यु दर है। ये उच्च जन्म दर को निष्प्रभावी बनाती है। इस चरण में अर्थव्यवस्था मुख्यतः आदि युगीन तथा कषिय थी। इस समय व्यापक रूप से अशिक्षा, साफ–सफाई की निम्नतम स्थिति, बेहतर स्वास्थ्य की स्थिति का न होना, परिवार नियोजन की जानकारी न होना, बड़ा परिवार होना, ये सब कारक उच्च जन्म दर तथा उच्च मृत्यु दर का कारण है। प्रथम तथा द्वितीय चरण के बीच के काल में मृत्यु में कमी आने लगी तथा जन्म दर स्थिर रहा जो अर्थव्यवस्था में असन्तुलन ला दिया। अनेक बाहरी कारणों जो अर्थव्यवस्था में असन्तुलन ला दिया। अनेक बाहरी कारणों जैसे बीमारी पर नियन्त्रण, खान–पान

टिप्पणी

में सुधार तथा साफ–सफाई में सुधार आदि के कारण मृत्यु दर नियंत्रण किया गया लेकिन जनसंख्या नियंत्रण पर उतना ध्यान नहीं दिया गया है। फलस्वरूप जनसंख्या विस्फोट की स्थिति हो गयी।

(ii) द्वितीय चरण या जनसंख्या विस्फोट : प्रति व्यक्ति आय के स्तर में सुधार ने स्वास्थ्य में सुधार, शिक्षा, रोग नियंत्रण में सुधार लाया, फलस्वरूप, मृत्यु दर में अचानक कमी आने लगी फलस्वरूप जनसंख्या में वृद्धि अत्यधिक तीव्र गति से होने लगी। परिवार का आकार छोटा हो गया, जिसके कारण परिवार के प्रत्येक सदस्य के खान–पान में काफी सुधार एवं जीवन प्रत्याशा में वृद्धि हुई। यह स्थिति जनसंख्या में वृद्धि में और गति प्रदान कर दी। जनांकीय परिवर्तन ने अर्थव्यवस्था में अत्यधिक असंतुलन ला दिया जो सामाजिक स्तर पर आगे परिवर्तन की स्थिति पैदा कर दी।

(iii) तृतीय चरण या निम्न जन्म दर या निम्न मृत्यु दर : आधुनिकीकरण तथा औद्योगिकीकरण ने समाज के स्वरूप को ही बदल दिया है, ग्रामीण जनसंख्या नगरों की तरफ प्रजनन कर रही है तथा परिवारों का आकार छोटा होता जा रहा है। जीवन के रहन सहन के स्तर में सुधार ने मृत्यु दर तथा जन्म दर पर नियंत्रण ला दिया है। फलस्वरूप जनसंख्या वृद्धि दर में कमी आई है।

प्रति दस वर्ष के अंतराल पर भारत में जनसंख्या की जनगणना की जाती थी। जनसंख्या के आकार, वितरण, रहन–सहन के ढंग तथा जनांकिकीय प्रवृति के बारे में जानकारी के लिए जनसंख्या–जनगणना अधिक महत्वपूर्ण है, इससे जनसंख्या के धार्मिक प्रवृत्ति, भाषा–ज्ञान तथा सांस्कृतिक पहलुओं का ज्ञान होता है। इससे सरकार को नीति बनाने में मदद मिलती है। 1867–72 प्रथम बार जनसंख्या की गणना की गयी, लेकिन नियमित रूप जनसंख्या की जनगणना 1881 में दस वर्ष के अंतराल पर शुरू हुई। 2001 की जनसंख्या 14वीं जनगणना थी। इस जनगणना की व्यापकता भी अधिक थी।

(क) बचत प्रभाव : उच्च जन्म दर निम्नतम मृत्यु दर के साथ जनसंख्या में कार्यशील लोगों की संख्या कम होती है तथा अकार्यशाली लोगों की संख्या में कमी होती है। इस तरह की जनसंख्या वृद्धि से उत्पादन क्षमता में भी कमी आने लगी तथा इस प्रकार बचत भी धीमा होता है।

(ख) निवेश : बढ़ते हुए जनसंख्या के चलते, राष्ट्रीय स्रोत के एक निश्चित भाग का योजन, उत्पादन, सुविधाएं तथा सामाजिक आवश्यकताओं के लिए पुर्ननिवेश करना होगा। यदि जनसंख्या नहीं बढ़ती तो इन राष्ट्रीय स्रोतों के भाग को दूसरे क्षेत्र में निवेश कर अर्थव्यवस्था को मजबूत किया जा सकता है। यह भारत की सबसे बड़ी समस्या है। भारत जी.डी.पी. के मामलों में बहुत आगे रहता है, यदि इतनी तेजी से जनसंख्या में वृद्धि नहीं होती। अतः जनन क्षमता तथा मृत्यु दर आर्थिक व्यवस्था के एक अभिन्न भाग है।

भारत की जनसंख्या विश्व के मामले में चीन दूसरा स्थान है। भारत की यह स्थिति भारत की आर्थिक व्यवस्था को सुदृढ होने में समस्या उत्पन्न कर रही है। किन्तु

भी अनेक अनेक अर्थशास्त्रियों तथा जनांकिकीय विद्वान के अनुसार भारत की बढ़ती जनसंख्या विकास को बाधा नहीं पहुंचा रही है।

भारत में जनसंख्या की वृद्धि दर

भारत की जनसंख्या विश्व की जनसंख्या का 14.2% है तथा विश्व के क्षेत्रफल का मात्र 2.4% ही भारत का भौगोलिक क्षेत्रफल है। चीन के बाद जनसंख्या में मामले भारत विश्व का दूसरा स्थान था। चीन और भारत की जनसंख्या लगभग एक–एक अरब है। भारत की जनसंख्या वृद्धि को चार चरणों से बांटा जा सकता है–

काल	जनसंख्या वृद्धि के चरण	
1900–1920	प्रथम चरण	स्थिर जनसंख्या
1921–1940	द्वितीय चरण	तीव्र वृद्धि
1941–1950	तृतीय चरण	जनसंख्या विस्फोट
		(31, 86, 60, 580, (1941)

1921 से पहले, भारत अपने जनांकिकीय परिवर्तन के चरण में था, क्योंकि इसकी जनसंख्या स्थिर थी। उसके बाद जनसंख्या में वृद्धि जनसंख्या को परिवर्तन के दूसरे भाग में लाया।

राष्ट्रीय आय

राष्ट्रीय आय घरेलू उत्पादन एवं विदेशों से प्राप्त आय का जोड़ है। राष्ट्रीय आय कमिटी के इच्छानुसार राष्ट्रीय आय सांख्यिकी किसी भी देश का आर्थिक परिदृश्य इंगित करता है तथा साथ ही यह आर्थिक व्यवस्था में भाग लेने वाले वर्गों को भी इंगित करता है। भविष्य में आर्थिक सुधार कैसे किया जाए, यह बात राष्ट्रीय आय से पता चलती है।

राष्ट्रीय आय की विभिन्न परिकल्पनाएं

(i) सकल राष्ट्रीय उत्पाद (जी.एन.पी.) : इनका प्रयोग राष्ट्रीय आय लेखांकन में किया जाता है, सकल घरेलू उत्पादन में से यदि वह आय दी जाए जो सृजित तो देश में ही हुई, किन्तु विदेशों को प्राप्त है तथा देश को प्राप्त होने वाले किंतु विदेशों में अर्जित आय जोड़ दिया जाए तो सकल राष्ट्रीय उत्पाद प्राप्त होता है।

(ii) सकल घरेलू उत्पाद : एक देश की सीमा के अन्दर किसी भी दी समयावधि प्रायः एक वर्ष में उत्पादित समस्त अंकित वस्तुएं तथा सेवाओं का कुल बाजार मूल्य या मौद्रिक मूल्य, उस देश का सकल घरेलू उत्पाद कहलाता है।

(iii) निजी आय : वह आय है जो किसी देश के नागरिक द्वारा प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार–

निजी आय = [राष्ट्रीय आय–(कारपोरेशन के अवितरित लाभ) – (सामाजिक सुरक्षा के लिए आंवटित) + (सरकारी हस्तान्तरण भुगतान) + (व्यापार हस्तान्तरण भुगतान) + सरकार द्वारा शुद्ध ब्याज अदायगी)]

(iv) देय निजी आय : यह किसी देश के नागरिकों के निजी आय में से निजी प्रत्यक्ष कर को हटाकर प्राप्त किया जाता है।

टिप्पणी

सकल राष्ट्रीय उत्पाद विधि

यह किसी अवधि विशेष में देश की सीमा के अन्दर उत्पन्न समस्त वस्तुओं तथा सेवाओं का मौद्रिक मूल्य की वह मात्रा है, जो दो बार गिरे बिना मापी जा सकती है। साधारण, कीमत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद को राष्ट्रीय आय कहा जाता है। इसे निम्न सूत्र से परिलक्षित किया जा सकता है।

शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद

साधन लागत पर एन.एन.पी. (फैक्टर कॉस्ट) = बाजार मूल्य पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद– (अप्रत्यक्ष कर) + (सब्सिडी)। (बाजार मूल्य पर सकल घरेलू उत्पाद अर्थात जी.डी.पी. + शुद्ध विदेशी आय–मूल्य ह्रास) – (अप्रत्यक्ष कर) + (सब्सिडी)

ब्रिटिश काल में इतिहासकारों और अर्थशास्त्रियों के विचार

17वीं शताब्दी का भारत एक अपेक्षाकृत शहरीकृत और व्यवसायिक राष्ट्र था जो कि मोटे तौर पर सूती वस्त्रों को समर्पित निर्यात व्यापार के साथ था, लेकिन इसमें रेशम, मसाले और चावल भी थे। भारत कॉटन टैक्सटाइल दुनिया का मुख्य उत्पादन था और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के माध्यम से ब्रिटेन के साथ–साथ कई अन्य यूरोपीय देशों के लिये एक पर्याप्त निर्यात व्यापार था। ब्रिटिश अर्थशास्त्री एंगस मैडिसन के अनुसार, विश्व अर्थव्यवस्था में भारत का हिस्सा 1700 में 24.4% से 1950 में 4.2% हो गया। भारत की प्रति व्यक्ति जी.डी.पी. मुगल सामाज्य के दौरान स्थित रही और ब्रिटिश शासन के पहले की गिरावट शुरू हुई। वैश्विक औद्योगिक उत्पादन में भारत की हिस्सेदारी भी 1750 में 25% से घटकर 1900 में 2% हो गयी। उसी समय यूनाइडेट किंगडम की विश्व अर्थव्यवस्था में हिस्सदारी 1700 में 2.9% से बढ़कर 1870 में 9% हो गई और ब्रिटेन ने भारत को 19वीं सदी में सबसे बड़े कपड़ा निर्माता के रूप में बदल दिया। ब्रिटिश कॉटन इन्डस्ट्री के रूप में 18 से 19वीं सदी के अंत में तकनीकी क्रांति हुई, भारतीय उद्योग स्थिर हो गया और इसे औद्योगिक रूप से समाप्त कर दिया गया।

यहां तक कि 1772 के बाद तक, हेनरी पैटुलो, बंगाल के आर्थिक संसाधनों पर अपनी टिप्पणियों के दौरान, आत्मविश्वास से दावा कर सकते थे कि भारतीय वस्त्र की मांग कभी कम नहीं हो सकती है, क्योंकि कोई भी अन्य देश इसकी गुणवत्ता में समान या प्रतिद्वन्द्वी नहीं कर सकता है। इतिहासकार शिरीन मूसवी का अनुमान है कि 16वीं शताब्दी के अंत में मुगल इंडिया की प्रतिव्यक्ति आय 1.24 अधिक थी, फिर ब्रिटिश भारत में 20वीं सदी की शुरुआत में, और द्वितीयक क्षेत्र ने मुगल अर्थव्यवस्था 18% की तुलना में अधिक प्रतिशत का योगदान दिया, जो कि अर्थव्यवस्था की तुलना में अधिक था। 20 सदी की शुरुआत में ब्रिटिश भारत 11.2% पर था। शहरीकरण की अवधि में मुगल भी 1600 में ब्रिटिश भारत की तुलना में 1600 में शहरी केंद्रों में रहने वाले 15% की आबादी का एक उच्च प्रतिशत था।

अंग्रेजों की औपनिवेशिक नीतियों के कारण घरेलू अर्थव्यवस्था के आधुनिकीकरण में किसी भी व्यवस्थित प्रयास के बजाय राजस्व का बड़े पैमाने पर निकास के लिये भारत से इंग्लैण्ड में पूंजी का एक महत्वपूर्ण हस्तांतरण हुआ।

1850 से 1947 तक भारत की जी.डी.पी.

वर्ष	जी.डी.पी. (मिलियन–1990 डॉलर)	प्रति व्यक्ति सकल घरेलू उत्पाद (1990 डॉलर)	औसत जी.डी.पी. वृद्धि
1850	125, 681	533	–
1870	134, 882	533	0.354
1890	164, 341	584	0.962
1900	170, 466	599	0.428
1920	210, 439	697	2.129
1930	244, 097	726	2.321
1940	265, 455	686	0.842
1947	213, 680	618	–3.052

जनगणनाओं का सावधानी से अध्ययन करने पर कुछ दिलचस्प रुझान सामने आते हैं। सन् 1800 के बाद हमारे देश में शहरीकरण की रफ्तार धीमी रही। पूरी 19वीं सदी और 20वीं सदी के पहले दो दशकों तक देश की कुल आबादी का हिस्सा बहुत मामूली और स्थिर रहा। 1900 से 1940 के बीच 10 सालों के अन्तराल शहरी आबादी 10% से बढ़कर 13% हो गई थी। छोटे कस्बों के पास आर्थिक रूप से विकसित होने के ज्यादा मौके नहीं थे। कलकत्ता, बम्बई और मद्रास तेजी से फैले और जल्द ही विशाल शहर बन गए।

ब्रिटिश शासन काल में जनगणना का जो कार्य प्रारम्भ किया गया वह प्रत्येक दृष्टि से अच्छा कार्य था किन्तु वह कहां तक सही है, यह बताना अत्यन्त कठिन है। किन्तु फिर किसी न किसी हद तक कुछ सटीक जानकारियां प्राप्त होती है। ब्रिटिश शासन के दौरान जो औद्योगिक बदलाव आए। उन्होंने गांवों को खतम करके शहरों को जन्म दिया और जो पहले के शहर थे उनका शहरीकरण किया गया जिससे जनसंख्या वृद्धि पर प्रभाव पड़ा और उनके जनसांख्यिकी परिवर्तन देखने को मिले।

अपनी प्रगति जांचिए

5. जनगणना का इतिहास 1800 में कहां से प्रारंभ हुआ?

   (क) इंग्लैंड (ख) ब्रिटेन

   (ग) फ्रांस (घ) इटली

6. स्वतंत्र भारत की पहली जनगणना कब की गई थी?

   (क) सन् 1950 (ख) सन् 1951

   (ग) सन् 1955 (घ) सन् 1960

5.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (घ)
2. (क)

3. (ख)
4. (क)
5. (क)
6. (ख)

5.6 सारांश

देश की समृद्धि उसकी आर्थिक स्थिति से होती है। जिस तरह एक घर के बजट में खर्चों को छोड़ कर शेष राशि बचायी जाती है जो विपरीत परिस्थितियों में काम आती है, उसी प्रकार एक देश में राजकोष कमी रिक्त नहीं होना चाहिए, देश में आपात स्थिति, फिर चाहे वह महामारी के रूप में हो या फिर विदेशी आक्रमणों या तनाव की वजह से हो। राजकोषीय नीति के आधार पर ही सरकार करों का विभाजन करती है। किस स्थिति में किस वस्तु पर कितना कर लगाना है यह सरकार द्वारा निर्धारित होता है। राजकोषीय नीति आय, व्यय व ऋण के द्वारा सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति करती है। करारोपण के सिद्धांतों का निर्माण समाज द्वारा स्वीकृत उद्देश्यों के आधार पर ही किया जा सकता है तथा यह सिद्धांत, आर्थिक प्रभाव, समानता तथा प्रशासनिक कुशलता पर निर्भर करता है। कर दो प्रकार से लागू किए जाते हैं प्रत्यक्ष कर और अप्रत्यक्ष कर तथा दोनों के अपने–अपने गुण/दोष है।

इसी प्रकार कुछ कर ऐसे होते हैं जो आंतरिक और बाह्य सीमाओं से प्राप्त होते हैं, इसे प्रशुल्क नीति कहा जाता है। इसमें देश से बाहर जाने व देश में आने वाले सामानों पर कुछ कर लगाते हैं, ये कर राज्य या देश के लिए आय प्राप्त करने के उद्देश्य या घरेलू उद्योगों की विदेशी प्रतियोगिता से रक्षा करने और उनके विकास के लिए लगाए जाते हैं 1894 में जब सरकार को बजट में घाटा हुआ था तब इस घाटे की पूर्ति करने के लिए 5% की दर से आयातों पर एक सामान्य शुल्क लगाया गया। 7 अक्टूबर, 1921 में सर इब्राहीम रहीमतुल्ला की अध्यक्षता में राजकोषीय विभाग की स्थापना की गई। जिसका प्रमुख कार्य उद्योग धन्धों के विकास के लिए आवश्यक संरक्षण नीति लागू करना तथा समस्त हितों को ध्यान में रख कर भारत सरकार की प्रशुल्क नीति की जांच करना।

औद्योगीकरण से स्थिति डावांडोल थी, कृषक बेकार हो चुके थे, छोटे व्यापारी या छोटे मोटे कारीगर बेकार हो गए। औद्योगीकरण ने इनको शहरों में बिना किसी छोटी–मोटी सुविधाओं के घरों से दूर रहने पर मजबूर कर दिया। इसी बीच विदेशी बाजारों से भारत के बाजार भी प्रभावित होने लगे, भारत में मूल्यों में कमी तथा तेजी से उतार–चढ़ाव आने लगे, तो कभी स्थिर हो जाते। अमेरिकी गृह युद्ध, हो या भारत में समय पर बारिश न होना, इन सबका प्रभाव मूल्यों पर पड़ता था। 1914 में मि.के.एल. दत्ता की रिपोर्ट के अनुसार मूल्यों में तेजी आने का कारण भारत में चढ़ने वाले मूल्यों की कुछ अन्य देशों के मूल्यों से तुलना करके यह बताया कि भारत के मूल्य अन्य देशों से अधिक थे। 1929 में वाल स्ट्रीट न्यूयार्क में शेयरों तथा प्रतिभूतियों के दाम गिरने लगे, जिससे मूल्यों में और अधिक गिरावट आयी। रुपया पौंड के साथ 1 शिंलिग 6 पैंसे की

दर से बंधा हुआ था। उस समय देश में राजनीतिक स्थितियों में गड़बड़ियों के कारण भी मूल्यों में स्थिरता नहीं आ सकी।

दूसरी तरफ जमींदारों के लिए कुछ नये कानून तैयार किए गए। इस समय जमींदार अपनी जमीनों पर नए मकान बनवा कर उसे किराए पर देते थे और मनमाने किराए वसूल करते थे, जिससे किराएदारों को काफी दिक्कतों का सामना करना पड़ता था। इसलिए इससे सम्बन्धित एक कानून बनाया गया जिसे रेन्ट कन्ट्रोल के नाम से जाना गया। अब जमींदार मनमाने किराए वसूल नहीं कर सकते थे। इसलिए जमींदारों को इस कानून के बनने से काफी नुकसान भी उठाना पड़ा।

औपनिवेशिक शासन काल में जनसंख्या की गणना की गयी हांलाकि ये जनगणना में लोगों ने उतना सहयोग नहीं किया जितना जरूरी था। जनसंख्या का सीधा सम्बन्ध आर्थिक विकास की प्रक्रिया से भी है। अगर देखा जाए तो जनसंख्या एक उत्पादक साधन के रूप में या एक बोझ के रूप में भी साबित हो सकती है। जनसांख्यिकीय संक्रमण के सिद्धांत के अनुसार पूर्व आधुनिक या औद्योगिक काल में अकाल तथा महामारियों के कारण जनसंख्या तेजी से नहीं बढ़ पाती थी क्योंकि मृत्युदर की अधिकता जन्म दर को नीचे खींच लाती थी। जनसंख्या की अधिकता के कारण शहरीकरण हुआ। उस समय तीन प्रमुख शहर कलकत्ता, मद्रास, बम्बई थे जहां से अंग्रेजों का प्रशासन संचालित होता था। इन शहरों को कम्पनी शासन ने अपनी सुविधानुसार विकसित किया तथा कुछ नए शहरों का भी निर्माण किया गया। 1857 के बाद ब्रिटिशर्स काफी चौकन्ने थे, और उन स्थानों पर सुरक्षा की दृष्टि से विशेष व्यवस्था की गयी थी। इसी तर्ज पर शहरी आंकड़ों को भी तैयार किया गया। शहरों की नाप–जोख, शहरी–आवास, ग्रामीण आवास, कार्यालय क्षेत्र, इनकी जनसंख्या, रोगियों की संख्या, रोग, जन्म दर, पीड़ित मृत्युदर तथा सामान्य मृत्यु दर, जन्म ये सभी आंकड़े क्षेत्रीय विविधता पर आधारित थे। जनसंख्या बढ़ने के साथ उसका प्रभाव पड़ना भी स्वाभाविक था जैसे– नौकरी, व्यवसायों पर प्रभाव, बेरोजगारी, महामारी इत्यादि।

5.7 मुख्य शब्दावली

- **प्रत्यक्ष कर** : प्रत्यक्ष कर वे कर हैं जो विधिगत रूप से जिस पर लगाए जाते हैं उसे ही इसका भुगतान करना पड़ता है, जैसे आय कर।
- **अप्रत्यक्ष कर** : अप्रत्यक्ष कर वे कर हैं जो एक व्यक्ति पर लगाए जाते हैं जबकि ये पूर्णतः या आंशिक रूप से दूसरे व्यक्ति द्वारा दिए जाते हैं, जैसे बिक्री कर, सीमा शुल्क कर।
- **कर विवर्तन** : कर विवर्तन वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक व्यक्ति स्वयं पर लगाए कर भार को अन्य व्यक्तियों पर डाल देता है।
- **कराघात** : कराघात को तत्काल मुद्रा भार कहा जा सकता है जो व्यक्ति सरकार को कर का भुगतान करता है वह कराघात सहन करता है।
- **मौद्रिक नीति** : मतौद्रिक नीति से तात्पर्य किसी देश के मुद्रा प्राधिकारी द्वारा मुद्रा की आपूर्ति का नियमन करना है।

टिप्पणी

- **वि–शहरीकरण** : शहरी क्षेत्रों की आर्थिक गिरावट और जनसंख्या आंदोलन की प्रक्रिया को सामूहिक रूप से वि–शहरीकरण कहा जाता है।

5.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. कराधान किसे कहते हैं?
2. प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष कर से आप क्या समझते हैं?
3. स्वर्ण मुद्रा मान से क्या तात्पर्य है?
4. प्रशुल्क एवं उत्पाद शुल्क को स्पष्ट कीजिए।
5. मूल्यों के उतार चढ़ाव से क्या तात्पर्य है?
6. सन् 1901 से 1921 के मध्य की जनगणना को संक्षेप में समझाइए।
7. वि–शहरीकरण से क्या तात्पर्य है?
8. जनसंख्या वृद्धि और आर्थिक विकास की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. प्रत्यक्ष कर को समझाते हुए इसके गुण व दोषों का वर्णन कीजिए।
2. प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष कर के मध्य संबंध बताइए।
3. 19वीं सदी में 'कर' के उतार–चढ़ाव की व्याख्या कीजिए।
4. किराया नियंत्रण से आप क्या समझते हैं? आजादी पूर्व किराया नियंत्रण का उल्लेख कीजिए।
5. प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के पूर्व मूल्यों की क्या स्थिति थी? सन् 1861 से 1893 तक भारत में मूल्यों का वर्णन कीजिए।
6. आजादी पूर्व भारत की जनसंख्या के विषय में आप क्या जानते हैं? वर्णन कीजिए।
7. ब्रिटिश कालीन शहरी आंकड़ों पर प्रकाश डालिए।
8. जनसंख्या वृद्धि के प्रभावों का विस्तार से चर्चा कीजिए।

5.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1. दत्ता, पार्थो (2012), 'प्लानिंग द सिटी : अरबनाइजेशन एंड रिफार्म इन कलकत्ता', सी 18000, नई दिल्ली, तूलिका बुक्स।
2. ग्लोवर, विलियम जे. (2007), कंस्ट्रूयिंग अरबन स्पेस 'पब्लिक' इन कोलोनियल इंडिया : सम नोट्स फ्राम द पंजाब, जनरल ऑफ पंजाब स्टडीज, भाग–14।
3. डोसाल, मरियम (2010), थिएटर ऑफ कनफ्लिक्ट, सिटी ऑफ होप, मुम्बई, 1600 टू प्रजेंट टाइम, नई दिल्ली।

टिप्पणी

4. चन्दावर, राजनारायण (1994), द ओरिजेंस ऑफ इंडस्ट्रियल केपिटलिज्म इन इंडिया बिजनेस स्ट्रेटेजीज एंड द वर्किंग क्लास इन बाम्बे, 1990–1940, कैम्ब्रिज।
5. चटर्जी, पार्था (2012), द ब्लैक होल ऑफ एम्पयार, प्रिंस्टन : प्रिंस्टन यूनीवर्सिटी प्रेस।
6. होसाग्रहर, ज्योति (2005), इंडीजीनस मोडर्निटी : नेगोशिएट आर्किटैक्चर एंड अरबैनिज्म (न्यूयार्क, रूटलेज)।
7. जथार, जी.बी., 'भारतीय अर्थशास्त्र', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
8. ड्यूवेट, केवल कृष्ण, 'भारतीय अर्थशास्त्र', डायरेक्टरेट ऑफ स्कूल डिवीजन, जालंधर।
9. वैश्य, एम.सी., 'आर्थिक विचारों का इतिहास', अर्थशास्त्र एवं लोक प्रशासन विभाग, जयपुर, रतन प्रकाशन मंदिर।
10. चंद्र, बिपिन, 'भारत में आर्थिक राष्ट्रवाद का उद्भव और विकास', अनामिका प्रकाशन।
11. चंद्रा, बिपिन, 'आधुनिक भारत में उपनिवेश्वाद और राष्ट्रवाद', अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली।
12. भारतीय अर्थव्यवस्था का विकास (कक्षा–11), एन.सी.ई.आर.टी., नई दिल्ली।
13. सिंह, वेद प्रकाश, 'भारत के प्रमुख उद्योग', आत्माराम एंड संस, दिल्ली।
14. 'The Economic History of India 1857-2010', Oxford University Press, New Delhi.